अक्षर कथा

गुणाकर मुले

प्रकाशन विभाग

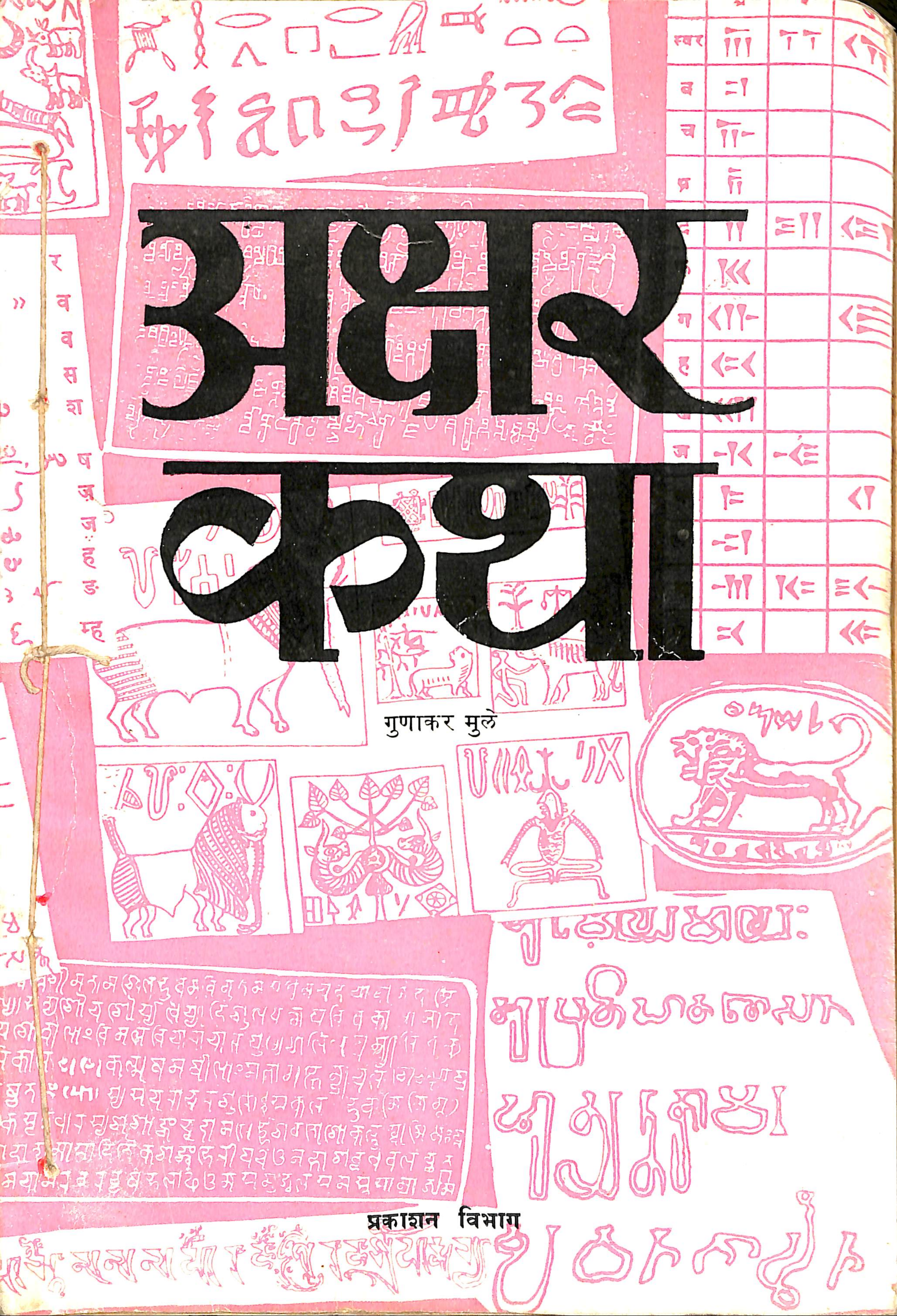

अन्तर-कथा

शारदाप्रसाद पाण्डेय

अक्षर-कथा

लेखक
गुणाकर मुले

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

प्रथम संस्करण : सितम्बर 1972 : भाद्र 1894

© 1972, गुणाकर मुले

मूल्य : 10.00

निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली-1 द्वारा प्रकाशित।

क्षेत्रीय कार्यालय :

बोटवाला चैम्बर्स, सर फीरोजशाह मेहता रोड, बम्बई-1

8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता-1

शास्त्री भवन, 35, हड्डौस रोड, मद्रास-6

जोडियक प्रेस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6 द्वारा मुद्रित।

मेरे गृहत्याग से प्रौढावस्था में ही जिनकी जिजीविषा
क्षीण होती गयी, उन्हीं चिरनिद्रा-विलुप्त
पिता श्री गुलाबराव मुळे की
पुण्यस्मृति को समर्पित

प्राक्कथन

मानव के महान आविष्कारों में लिपि का स्थान सर्वोपरि है। मानव-समाज जब ताम्रयुग में पहुंचता है, प्राचीन जगत की नदी घाटी सभ्यताओं में जब नगरों की स्थापना होने लगती है, तब हम पहली बार लिपियों को जन्म लेते हुए देखते हैं। यह कोई छह हजार साल पहले की बात है। कुछ चित्र-संकेत और भाव-संकेत नवपाषाण-युग में ही अस्तित्व में आ गये होंगे।

मिस्र, मेसोपोटामिया और चीन की आरंभिक लिपियां मुख्यतः भाव-चित्रात्मक थीं। सिन्धु सभ्यता की लिपि किस स्वरूप की है, यह अभी तक जाना नहीं गया है। ईसा पूर्व दसवीं सदी के आसपास पहली बार वर्णमालात्मक लिपियां जन्म लेती हैं। तब से आज तक लिपियों का विशेष विकास नहीं हुआ है। बहुत-सी पुरालिपियां मर गयी हैं, उनका ज्ञान लुप्त हो गया था। पिछले करीब दो सौ वर्षों में संसार के अनेक पुरालिपिविदों ने पुनः इन पुरालिपियों का उद्घाटन किया है। परिणाम-स्वरूप हमें प्राचीन सभ्यताओं के बारे में नई-नई जानकारी मिली है।

प्रस्तुत ग्रंथ में मैंने मुख्यतः संसार की प्रमुख पुरालिपियों की जानकारी दी है। यह जानकारी विस्तृत नहीं है, पर पाठक इससे जान जायेंगे कि किस देश में कौन-सी लिपि का अस्तित्व था, उसका स्वरूप कैसा था, उसके संकेत या अक्षर कैसे थे और आधुनिक काल में उन पुरालिपियों का उद्घाटन कैसे हुआ है।

ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में आरंभ में लेखन के आरंभ तथा विकास-क्रम के बारे में जानकारी दी गयी है। फिर विदेशों की प्रमुख पुरालिपियों की जानकारी है।

ग्रंथ के दूसरे खण्ड में भारतीय लिपियों की जानकारी है। आरंभ में सिन्धु लिपि (अज्ञात) तथा खरोष्ठी लिपि का विवरण है। फिर ब्राह्मी लिपि के उद्भव तथा विकास के बारे में जानकारी दी गयी है। उर्दू लिपि को छोड़कर, भारत की सारी लिपियां ब्राह्मी से ही निर्मित हैं। इतना ही नहीं, हमारे कई पड़ोसी देशों की लिपियां भी ब्राह्मी से ही विकसित हुई हैं। इसलिए मैंने एक प्रकरण में विदेशों में भारतीय लिपियों के प्रचार-प्रसार की जानकारी दी है।

ग्रंथ के अन्त में परिशिष्ट के रूप में मैंने संसार के प्रमुख भाषा-परिवारों की तालिकाएं दी हैं। ग्रंथ में दिये गये चित्र मैंने ही तैयार किये हैं, जिनमें सूक्ष्मता का ध्यान रखा गया है। जिन अनेक ग्रंथों के पुरालेखों के आधार पर मैंने ये चित्र तैयार किये हैं उनके लेखकों के प्रति मैं अपने आभार प्रकट करता हूं। भारतीय लेखों के चित्र तैयार करने में मुझे पंडित गौरीशंकर ओझा, डा० शिवराममूर्ति तथा डा० छाबरा के ग्रंथों से बड़ी सहायता मिली है।

मेरी मातृभाषा मराठी है। अतः संभव है कि मेरी हिन्दी में कुछ त्रुटियां हों। इस ग्रंथ के प्रूफ मैंने ही देखे हैं। प्रूफ देखने में सहधर्मिणी शांति का भी सहयोग मिला है। फिर भी प्रूफ की कुछ अशुद्धियां रह गयी हैं, जिसके लिए विज्ञ पाठक मुझे क्षमा करेंगे। पृष्ठ १६६ पर नीचे का ब्लाक उलटा छपा है।

पुस्तक की छपाई में **जोडियक प्रेस** का भरपूर सहयोग मिला है। अतः प्रेस के व्यवस्थापक तथा कर्मचारियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूं।

इस ग्रंथ की पाण्डुलिपि को प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम (बम्बई) के डायरेक्टर डा० मोतीचन्द जी ने देखकर इसे प्रकाशन-विभाग से प्रकाशित देखना चाहा था। फिर पाण्डुलिपि डा० कृष्णदेव (पुरातत्व विभाग) के पास भेजी गयी। डा० कृष्णदेव ने **अक्षर-कथा** को पसंद किया, दो-तीन बहुमूल्य सुझाव दिये और इसे शीघ्र प्रकाशित देखने की इच्छा प्रकट की। इन दोनों प्रख्यात पुराविदों की इस अनुकंपा के लिए मैं उनका कृतज्ञ हूं।

अक्षर-कथा का परिपूरक ग्रंथ है **अंक-कथा**। **अंक-कथा** में मैंने संसार की प्रमुख अंक-पद्धतियों की जानकारी दी है। आज प्रायः सारे संसार में भारतीय अंक-पद्धति एवं भारतीय अन्तर्राष्ट्रीय अंक-संकेतों का इस्तेमाल होता है। इसलिए **अंक-कथा** में मैंने इस भारतीय अंक-पद्धति के उद्‌भव, विकास तथा विदेशों में इसके प्रचार-प्रसार की विस्तृत जानकारी दी है! अक्षर-कथा के पहले ही अंक-कथा ग्रंथ तैयार हो गया था। लेकिन **अंक-कथा** अब प्रेस में जा रही है।

गुणाकर मुले

४७।११, पूर्वी पटेल नगर,
नई दिल्ली-८
१७ अगस्त, १९७२

विषय-सूची

खण्ड-१ : विदेशी लिपियां

१. लेखन का आरंभ १-१०

गुफाचित्र (३), चित्र-लेखन (७), भावचित्र-लेखन (७), ध्वन्यात्मक लेखन (६), वर्णमालात्मक लिपि (६)

२. प्राचीन मिस्र की लिपियां ११-२६

रोसेटा प्रस्तर (१३), शेम्पोलियों (१५), लेखन-सामग्री (२५)

३. कीलाक्षर लिपियां २७-४७

प्राचीन पारसी कीलाक्षर (२७), लिपि अन्वेषण का आरंभ (२६), एलामी कीलाक्षर (३७), प्राक्-एलामी लिपि (३८), बेबीलोनी कीलाक्षर (३६), सुमेरी लिपि (४३)

४. चीनी लिपि ४८-५३

५. जापानी लिपि ५४-५६

६. हित्ती लिपि : कीलाक्षर व हाइरोग्लिफिक ५७-६७

हित्ती भाषा (६७), मितानी शासकों की आर्यभाषा (६७)

७. क्रीट द्वीप की पुरालिपियां ६८-७६

रैखिक-ब लिपि (७०), माइकेल वेन्ट्रिज का अन्वेषण (७१), रैखिक-अ लिपि (७८), फाइस्टोस चकती की लिपि (७८)

८. सेमेटिक लिपियां : परिचय ८०-८२

सिनाई लिपि (८०)

९. कनानी लिपियां ८३-८६

प्राचीन कनानी लेख (८३), प्राचीन हिब्रू लिपि (८५), मोआबी लिपि (८७), फिनिशियन लिपि (८७)

१०. दक्षिणी सेमेटिक लिपियां ९०-९२
११. आरमेई लिपियां ९३-१०५
हिब्रू लिपि (९५), मृत-सागर कुंडलियां (९७), नबाती लिपि (१०१), नव-सिनाई लिपि (१०१), पालमीरी लिपि (१०१), सीरियाई लिपियां (१०२), नस्तोरी लिपि (१०४), जकोबी (१०५)
१२. अरबी लिपि : नस्खी और कुफ़ी १०६-१०९
१३. अ-सेमेटिक भाषाओं की आरमेई लिपियां ११०-११७
ईरानी लिपियां (११०), पहलवी लिपि (११०), अवेस्ता की लिपि (११२), सोग्दी लिपि (११३), उइगुर लिपि (११४), मंगोल लिपियां (११४), मंचू लिपि (११५)
१४. यूनानी लिपि ११८-१२४
१५. एत्रुस्कन लिपि १२५-१२८
एत्रुस्कन भाषा का उद्घाटन (१२७)
१६. लैटिन लिपि १२९-१३४
१७. रूनी और ओघम लिपियां १३५-१३८
रूनी लिपि (१३५), ओघम लिपि (१३६)
१८. मय सभ्यता की लिपि १३९-१४४

खण्ड-२ : भारतीय लिपियां

खण्ड-२ : भारतीय लिपियां १४५

१९. सिन्धु लिपि १४७-१५६
२०. खरोष्ठी लिपि १५७-१६१
२१. भारतीय पुरालिपियों का अन्वेषण १६२-१६७
२२. ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति १६८-१७०
२३. अशोक की ब्राह्मी लिपि १७१-१८०
२४. ब्राह्मी लिपि : ईसा की पहली शताब्दी तक १८१-१९०
दक्षिण भारत के लेख (१८६), भट्टिप्रोलु लेख (१८६), गुफालेख (१८९)
२५. ब्राह्मी की शैलियां : ईसा की पहली से चौथी शताब्दी तक १९१-२००
२६. गुप्त-काल की लिपि २०१-२१०
२७. कुटिल लिपि २११-२१५

२८. प्रांतीय लिपियां — २१६-२२८

नागरी लिपि (२१६), शारदा लिपि (२१८), कलिंग लिपि (२१९), बंगला लिपि (२२१), तेलुगु-कन्नड़ लिपि (२२२), ग्रंथ लिपि (२२४), तमिल लिपि (२२६), वट्टेळुतु लिपि (२२८)

२९. विदेशों में भारतीय लिपि — २२९-२५२

श्रीलंका (२३०), पूर्वी मध्य-एशिया (२३२), तिब्बत (२३५), बर्मा (२३७), स्याम (२३९), जावा (२४०), मलयद्वीप (२४३), महानाविक बुद्धगुप्त का लेख (२४४), सुमात्रा (२४५), बोर्नियो (२४५), हिन्द-चीन: चम्पा (२४७), फोनन् (२४९), कम्बुज (२४९)

३०. उपसंहार — २५३-२५९

परिशिष्ट :

(क) प्रमुख भाषा-परिवार — २६०-२६३

(ख) सहायक ग्रंथ — २६३-२६७

१

लेखन का आरंभ

खगोलवेत्ताओं की आधुनिकतम गवेषणाओं के अनुसार अब विश्व की आयु लगभग दस अरब वर्ष मानी जाती है। हमारी इस धरती पर पहले-पहल लगभग ५० करोड़ से एक अरब वर्ष पहले साधारण 'जीवों' का जन्म होता है। विकास की प्रक्रिया के अन्तर्गत लगभग १५ करोड़ वर्ष पहले पृथ्वी पर स्तनपायी पशुओं का हम अस्तित्व देखते हैं। जिसे हम 'मानव' की संज्ञा दे सकते हैं, ऐसे प्राणी का इस धरती पर विचरण हम पहले-पहल लगभग ६००,००० वर्ष पहले देखते हैं। यह पुरापाषाण-युग का मानव था। लगभग पांच लाख वर्ष पहले के मानव के अवशेष हमें मिले हैं। मानव का पहला और सबसे बड़ा आविष्कार था पत्थरों के हथियार बनाना। इन हथियारों ने उसके हाथों की शक्ति को कई गुना बढ़ा दिया था। लगभग ४० हजार वर्ष पहले 'आधुनिक मानव' (होमोसेपियन) अस्तित्व में आता है। लेकिन अब भी उसे 'जंगली' और 'असभ्य' कहा जा सकता था। लगभग २५ हजार वर्ष पहले हम 'क्रो-मेग्नान' मानव का अस्तित्व देखते हैं। अब वह गुफाओं में रहता था और इन गुफाओं की दीवारों पर चित्र भी बनाता था। लेकिन जिसे हम 'सभ्य मानव' का नाम देते हैं, उसका विकास लगभग दस हजार वर्ष पहले से ही देखते हैं।

सभ्य मानव का सबसे बड़ा आविष्कार है लेखन-कला। आज हम अपने चहुंओर इतनी अधिक लिखित सामग्री देखते हैं कि यह सोचना भूल ही जाते हैं कि पहले-पहल आदमी ने लिखना कैसे आरंभ किया होगा और इसका विकास कैसे हुआ होगा। मानव के विकास में, अर्थात् मानव-सभ्यता के विकास में, वाणी के बाद लेखन का ही सबसे अधिक महत्व है। अन्य पशुओं से आदमी को इसीलिए श्रेष्ठ माना जाता है कि वह वाणी द्वारा अपने मनोभावों को व्यक्त कर सकता है। किन्तु मानव का बहुमुखी विकास हुआ इस वाणी को लिपिबद्ध करने के कारण ही। मुंह से कही गई बात या हाव-भावों से व्यक्त किए गए विचार चिरस्थायी नहीं रहते। दो या अधिक व्यक्तियों के बीच में हुई बात-चीत केवल उन्हीं व्यक्तियों तक सीमित रहती है। भाषा का आधार ध्वनि है। भाषा श्रव्य या कर्णगोचर होती है। अभी बीसवीं शताब्दी तक कथित भाषा को चिरस्थायी रखने के लिए इसे लिपिबद्ध करने के अलावा कोई दूसरा तरीका नहीं था। आज तो टेप-रिकार्डरों का काफी इस्तेमाल होने लगा है। किन्तु प्राचीन काल के मानव को अपने विचारों को सुरक्षित रखने के लिए लिपि का अविष्कार करना पड़ा था। इसलिए हम कह सकते हैं कि, लिपि ऐसे प्रतीक-चिह्नों का संयोजन है जिनके द्वारा श्रव्य भाषा को दृष्टि-

गोचर बनाया जाता है। सुनी या कही हुई बात केवल उसी समय और उसी स्थान के लिए उपयोगी होती है। किन्तु लिपिबद्ध कथन या विचार दिक् और काल की सीमाओं को लांघ सकते हैं। और लिपि के बारे में यही सबसे महत्वपूर्ण बात है। संसार की बहुत-सी लुप्तप्राय: सभ्यताओं के बारे में आज हम इसीलिए बहुत कुछ जानते हैं कि वे अपने बारे में बहुत-कुछ लिखा हुआ छोड़ गई हैं।

आज संसार में लगभग ४०० विभिन्न लिपियों का प्रयोग होता है। इनमें से बहुत-सी लिपियों का आरंभ एवं विकास प्राचीन काल की कुछ प्रमुख लिपियों से हुआ है। जैसे, एशिया के पश्चिमीं तट पर ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी में सेमेटिक भाषा-परिवार के लिए एक अक्षरमालात्मक लिपि अस्तित्व में आती है। १००० ई० पू० के आसपास यह लिपि व्यंजनात्मक या वर्णमालात्मक रूप धारण करती है। उस समय की इस लिपि को 'उत्तरी सेमेटिक,' 'कनानी' या 'फिनीशियन' जैसे नाम दिए गए हैं। यूनानी लिपि स्पष्टत: फिनीशियन लिपि के आधार पर ही बनी थी। और, आज यूरोप, अमरीका और संसार के कई अन्य देशों में जिन लिपियों का प्रयोग होता है वे सारी इस यूनानी लिपि और इससे निर्मित लैटिन या रोमन लिपि से ही विकसित हुई हैं। दूसरी ओर–पूर्व की ओर–इस उत्तरी सेमेटिक लिपि ने आरमेई, खरोष्ठी, पहलवी और अरबी जैसी लिपियों को जन्म दिया। हमारे देश में लगभग ८ वीं शताब्दी ई० पू० में अस्तित्व में आई ब्राह्मी लिपि ने भी बहुत-सी लिपियों को जन्म दिया है। भारत की सारी वर्तमान लिपियां (अरबी-फारसी लिपि को छोड़कर) ब्राह्मी से ही विकसित हुई हैं। इतना ही नहीं, तिब्बती, सिंहली तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों की बहुत-सी लिपियां ब्राह्मी से ही जन्मी हैं। लिपियों के इस विकास-क्रम को पाठक आगे के पृष्ठों में पढ़ेंगे। तात्पर्य यही कि, धर्म की तरह लिपियां भी देशों और जातियों की सीमाओं को लांघती चली गइ। भाषाओं की सीमाएं लांघना तो लिपियों के लिए बहुत ही सरल काम रहा है। जो लिपि आरंभ में एक सेमेटिक भाषा के लिए अस्तित्व में आई थी, उसे ही बाद में भारोपीय परिवार की भाषाओं के लिए अपनाया गया। आगे के पृष्ठों में आपको इस प्रकार के दर्जनों उदाहरण मिलेंगे।

प्राचीन काल से ही लेखन-कला को पवित्र माना जाता रहा है। प्राय: सभी प्राचीन सभ्यताओं ने अपनी लिपियों के आविष्कर्त्ता के रूप में किसी न किसी देवता की कल्पना की है। हमारे देश में माना जाता रहा कि लिपि के निर्माता ब्रह्मा हैं, और शायद इसीलिए हमारे देश की प्राचीन लिपि का नाम ब्राह्मी पड़ा। प्राचीन मिस्र में थोत् देवता को लेखन का देवता माना जाता था। बेबीलोन में लेखन का देवता नेबो था। प्राचीन यहूदी परम्परा के अनुसार लिपि के जनक पैगंबर मूसा थे। इस्लाम के अनुसार, अल्लाह ने ही अक्षर बनाए थे और उसने इन्हें आदम को सौंपा था। कुछ यूनानी परंपराओं में हेर्मेस को यूनानी लिपि का जनक माना गया है। परन्तु ई० पू० छठी शताब्दी का प्रसिद्ध इतिहासकार हिरोदोतस स्पष्ट शब्दों में लिखता है कि यूनानी लिपि का निर्माण फिनीशियन लिपि के आधार पर हुआ है।

आज हम जानते हैं कि लिपियां मानव की ही कृतियां हैं; इन्हें किसी ईश्वर या देवता ने नहीं बनाया। प्राचीन काल में किसी पुरातन और कुछ जटिल वस्तु को रहस्यमय बनाए रखने के लिए उस पर 'ईश्वर' या किसी देवता की मुहर लगा दी जाती थी; किन्तु

आज हम जानते हैं कि लेखन-कला किसी 'ऊपर वाले' की देन नहीं है बल्कि मानव की ही बौद्धिक कृति है।

गुफाचित्र

आज से लगभग बीस-पच्चीस हजार वर्ष पहले का मानव गुफाओं में रहता था और मुख्यतः शिकार पर ही उसका जीवन निर्भर था। प्राचीन गुफाओं में से उस समय के मानव के बहुत-से चित्र मिले हैं। सबसे अधिक चित्र तो स्पेन की प्राचीन गुफाओं से ही मिले हैं, किन्तु अन्य देशों से भी अब गुफाचित्र मिले हैं। गुफाचित्र सहारा की मरुभूमि की प्राचीन गुफाओं से भी मिले हैं। हमारे देश में भी पाषाण-युग के मानव के गुफाचित्र मिले हैं।

प्रागैतिहासिक चित्र

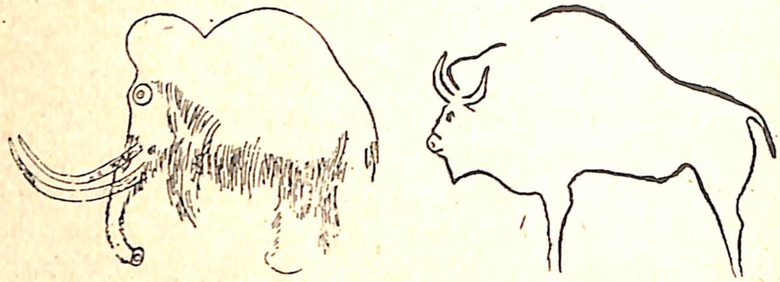

प्रागैतिहासिक चित्र

हमारे देश में अनेक स्थानों से गुफाओं में तथा शिलाखंडों पर अंकित चित्र मिले हैं। इन शिलाचित्रों का सिलसिला बुंदेलखंड, मिर्जापुर, रायगढ़, छोटा नागपुर और आगे दक्षिण में कर्नूल तक फैला हुआ है। विद्वानों का मत है कि भारत में बिल्लासुरगम के गुफाचित्र सबसे प्राचीन हैं। १८४४ में इन गुफाओं की खोज हुई थी। वायनाड की एड़ाकल गुफाओं की खोज १९०१ में हुई थी। यहां के गुफाचित्रों में मानव और पशु आकृतियों के अतिरिक्त स्वस्तिक, चक्र, चतुष्कोण तथा तांत्रिक आकृतियां भी मिलती हैं। बिहार के सिंहभूमि जिले के घाटशिला स्थान में डा० पंचानन मिश्र ने कुछ चित्रों की खोज की। ये चित्र काले पाषाण पर अंकित हैं। कैमूर पर्वतश्रेणी में जो प्रागैतिहासिक चित्र मिले हैं, वे भी शिलाओं पर अंकित हैं। इन चित्रों में कुछ दृश्य शिकार के हैं।

गुफा भित्तिचित्र (सिंघनपुर)

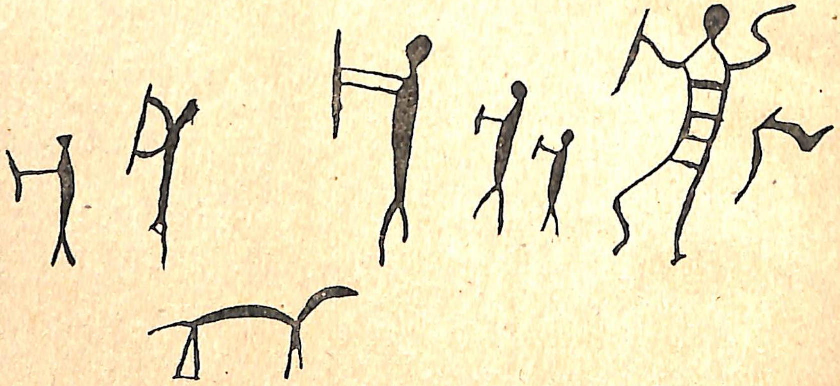

शिकार का दृश्य (मध्य भारत)

मिर्जापुर जिले के भलदरिया गांव में कृष्णमृग के शिकार का एक चित्र मिला है। शोण नदी के पास के टुप्पैचौरासी गांव में एक ऐसा चित्र मिला है जिसमें पत्थर के भाले से एक हिरण का शिकार करते हुए एक व्यक्ति को दरशाया गया है। घोड़ामांगर गांव की गुफा में भी शिकार के दृश्य का ही चित्रांकन है। इस चित्र में एक साथ कई आदमी एक सींगवाले गैंडे पर आक्रमण करते हैं। गैंडे ने उनमें से एक आदमी को अपने सींग से ऊपर उछाल दिया है और शिकारियों का सरदार पीछे से गैंडे की ओर भाला फेंक रहा है।

बघेलखंड की पहाड़ी गुफाओं में जो चित्र मिलते हैं उनकी चित्रकारी गेरू से की हुई जान पड़ती है। इनमें भी शिकार के दृश्य हैं। मध्यप्रदेश में रायगढ़ के पास सिंघनपुर गांव में एक गुफा की दीवार पर और शिलाखंड के पृष्ठभाग पर अनेक चित्र मिले हैं। ये चित्र लाल रंग के गेरू से बनाए गए हैं। इन चित्रों में मानव तथा पशुओं की आकृतियों के अलावा चित्रलिपि जैसे कुछ चित्र भी हैं। रायगढ़ की पवर्तश्रेणी में जोगीमार नाम की कुछ गुफाएं हैं। यहां के चित्रों में मानव, पशु, मकान तथा मूर्ति आदि की आकृतियों में, लगता है कि, कोई कथा बतलाई गई है।

प्रागैतिहासिक मानव के ये गुफाचित्र कला के सुंदर नमूने हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। यह भी स्पष्ट है कि इनमें तत्कालीन मानव जीवन का चित्रांकन हुआ है। कुछ विद्वान जादू-टोने से इनका संबंध जोड़ते हैं।

फ्रांस के मास द-एजिल स्थान से मध्यपाषाण-युग के कुछ ऐसे पत्थर-कंकड़ मिले हैं जिन पर पैरोक्साइड से विभिन्न प्रकार की रेखाएं और आकृतियां खींची हुई हैं। एजिल स्थान की नदी से ये चित्रित कंकड़ मिले हैं, इसलिए इन्हें एजिली-संस्कृति के कंकड़ों का

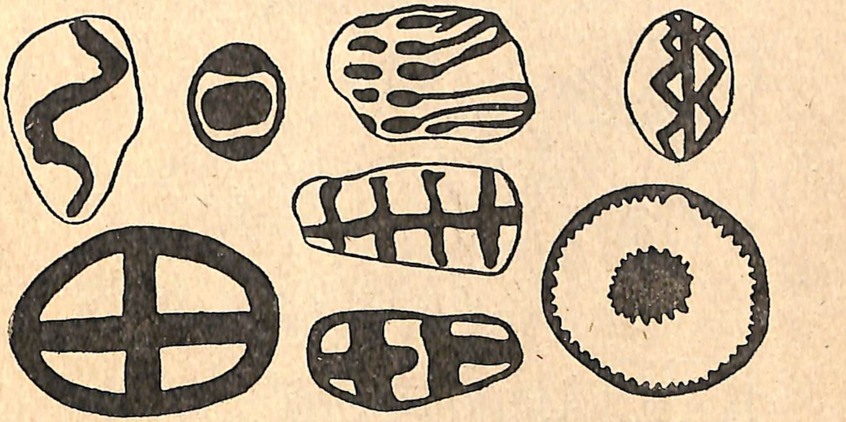

एजिली संस्कृति के रेखांकित कंकड़

नाम दिया गया है; किन्तु अब भी हम ठीक-ठीक नहीं जानते कि इन कंकड़ों पर ये रेखाए किस उद्देश्य से खींची गई थीं। प्रागैतिहासिक काल की गुफाओं तथा कब्रों से और भी अनेक प्रकार की चित्र-सामग्री मिली है। इनमें कई प्रकार के ज्यामितीय चिह्न हैं और मनुष्यों की आकृतियां भी हैं। परन्तु इनके बारे में दावे के साथ कुछ कहना सम्भव नहीं है। इन्हें हम लिपि-संकेतों का आद्य रूप भी नहीं मान सकते। हां, इन चित्रांकनों द्वारा

पाषाण-युग के मानव ने अपनी भावनाओं को रंगों में उतारने का प्रयत्न जरूर किया था। किन्तु इन रेखाओं में उसके ठीक किस प्रकार के भाव छिपे हुए हैं, यह जानना आज सरल नहीं है। वैसे बहुत-सी भाषाओं में 'लेखन' के लिए प्रयुक्त शब्द 'चित्रण' के ही पर्यायवाची हैं।

हमारी भाषा में एक मुहावरा है—गांठ बांधना अर्थात्, किसी बात को अवश्य याद रखना। किसी बात को याद रखने के लिए गांठ बांधने का रिवाज बहुत प्राचीन है, अक्षरों के आरंभ से भी अधिक प्राचीन। आज भी हमारे देश के अनपढ़ लोग, विशेषतः देहातों में रहने वाले लोग, बहुत-सी बातों को और हिसाब आदि को भी किसी न किसी चीज में गांठ बांधकर ही स्मरण रखते हैं। जो लिखना-पढ़ना नहीं जानते, वे भी लकीरें खींचकर एक प्रकार का हिसाब रखते हैं। ये सब तरीके याददाश्त के लिए अपनाए जाते हैं।

अन्य देशों में भी याददाश्त के लिए नाना प्रकार की विधियां अपनाई जाती रही हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध है पेरु निवासियों के 'क्विपु'। क्विपु में एक मोटी रस्सी से विभिन्न लम्बाई की और नाना रंगों की छोटी-बड़ी रस्सियां बंधी होती हैं। स्पेनी लोगों के आगमन के पहले पेरु के इंका लोग इन क्विपुओं की सहायता से अपना हिसाब-किताब

पेरु के इंकाओं के क्विपु

रखते थे। इनके द्वारा हिसाब तो जरूर ही रखा जाता था; कुछ विद्वानों का विचार है कि क्विपु की सहायता से इंका लोग अपने इतिहास तथा पंचांग को भी सुरक्षित रखे हुए थे। याददाश्त के लिए गांठों की इस प्रकार की योजनाओं का प्रचार अन्य देशों में भी रहा है। चीनी दार्शनिक लाओत्से (ई० पू० पांचवीं शताब्दी) का उल्लेख मिलता है कि, प्राचीन काल में चीन में ग्रंथि-लेखन का अस्तित्व था। हिरोदोतस के इतिहास-ग्रन्थ से पता चलता कि हखामनी सम्राट दारयवुश (डेरियस) ने आयोनिया के निवासियों को चमड़े की पट्टी का एक ऐसा पंचांग भेंट किया था जिसमें साठ गांठें थीं। हमारे देश के आदिवासी संथालों में गांठें बांधकर घटनाओं को याद रखने का रिवाज हम आज भी देख सकते हैं। इनमें हम लेखन-कला का आद्य रूप देख सकते हैं।

चित्र-लेखन

लेखन-कला का प्राचीनतम स्वरूप चित्र-लेखन है। किसी वस्तु का चित्र या आकृति खींचकर उस वस्तु का आसानी से बोध कराया जा सकता है। जैसे, एक वृत्त पर किरणों जैसी रेखाएं खींची जाएं, तो यह चित्र किसी को भी सूर्य का बोध करा सकता है। इसी प्रकार आदमी और पशुओं के चित्र खींचे जा सकते हैं। इस प्रकार के चित्र आज भी हम समाचारपत्रों के विज्ञापनों में देखते हैं। इन चित्रों के बारे में महत्वपूर्ण बात यह है कि इन्हें कोई भी आदमी समझ तो सकता है, किन्तु इन चित्रों में ध्वनि नहीं रहती। एक ही चित्र को अलग-अलग आदमी अलग-अलग भाषाओं में पढ़ सकते हैं।

भावचित्र-लेखन

केवल चित्रों से ही सभ्य मानव का काम अधिक दिनों तक नहीं चल सकता था। वृत्त पर किरणों वाली रेखाएं खींचने से 'सूर्य' का बोध सभी को हो सकता है। कालान्तर में इसी चित्र को 'ताप' और 'गरम' के भाव दिए गए। इस प्रकार, चित्र-लेखन से भावचित्र-लेखन अस्तित्व में आया। अब 'दो पैरों' का अर्थ केवल 'दो पैर' ही नहीं रहा, बल्कि 'चलना' भी हो गया। इस नए प्रकार के लेखन को 'भावचित्रात्मक लिपि' का नाम दिया गया है। सभी प्रकार की चित्रलिपियों के बारे में——चाहे चित्र-लेखन हो या भावचित्र-लेखन—महत्वपूर्ण बात यह है कि, इनके अंकित चित्रों या प्रतीकों में और ध्वनियों में किसी प्रकार का कोई संबंध नहीं होता। चित्र या भावचित्रात्मक लिपि को कोई भी व्यक्ति अपनी भाषा में 'पढ़' और समझ सकता है। ये चित्र या भावचित्र 'ध्वनियों' का प्रतिनिधित्व नहीं करते; ये केवल भावों और विचारों को ही वहन करते हैं।

लिपियों के आरंभ काल की कई भावचित्रात्मक लिपियों में हम प्रायः एक-से भाव-चित्र देखते हैं। यह स्वाभाविक भी है। जैसे, 'आंख से गिरती आंसुओं की बूंदें' कई

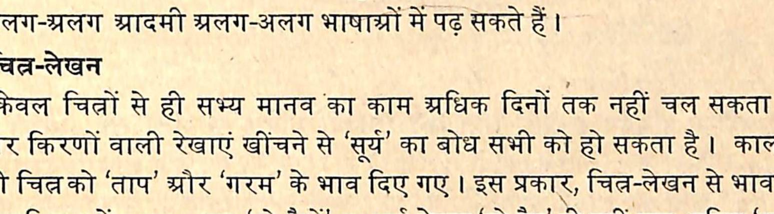

डकोटा सांकेतिक नाम (टोटेम)

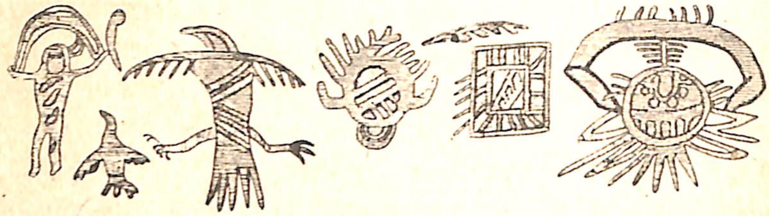

मध्य अमरीका के ओजिबवा आदिवासियों के ये चित्र व्यक्त करते हैं :
(दाईं ओर से बाईं ओर को क्रमशः) तूफान का देवता जो सारे आकाश को घेरता है नगाड़ा, पंखों से सुशोभित नगाड़ा, द्रोणकाक, कौवा और दवाखाने में आदमी।

सात अमरीकी इंडियन कबीलों द्वारा अमरीका की कांग्रेस को भेजी गई याचिका, जो यहां उन कबीलों के सांकेतिक चिह्नों (टोटेम) से व्यक्त की गई है। आंखों और दिलों से जोड़ी गई रेखाएं यह व्यक्त करती हैं कि सातों कबीले एकमत हैं। ओश्कबविस कबीलों (जो यहां बगुले से दरसाया गया है) सबका अगुआ है। इसकी आंख से निकली हुई एक रेखा नीचे बाईं ओर एक सरोवर से जुड़ी हुई है, तो दूसरी कांग्रेस की ओर इशारा करती है। तात्पर्य यह कि, ये कबीले प्रस्तुत सरोवर में मछली पकड़ने के लिए अनुमति चाहते हैं।

प्राचीन भावचित्रात्मक लिपियों में 'शोक' या दुःख के भाव व्यक्त करती हैं। शुद्ध भावचित्र-लेखन के अनेक नमूने कई देशों के आदिवासियों के चित्रांकन में मिले हैं। आज के वैज्ञानिक युग में भी हम अनेक भावचित्रों का इस्तेमाल करते हैं; जैसे सड़कों पर खड़े किए गए निशान या ट्रैफिक चिन्ह।

आगे के पृष्ठों में हम बहुत-सी भावचित्रात्मक लिपियों की चर्चा करेंगे। मेसोपोटामिया, मिस्र, क्रीट चीन आदि की प्राचीन लिपियां भावचित्रात्मक ही थीं। चीन की लिपि को तो आज भी हम भावचित्रात्मक ही कह सकते हैं। सिन्धु लिपि के स्वरूप के बारे में हमें अभी तक कोई ठोस जानकारी नहीं मिली है। वस्तुतः प्राचीन मिस्र और मेसोपोटामिया की लिपियों को हम शुद्ध भावचित्रात्मक नहीं मान सकते। हाँ, अपने आरंभिक काल में ये शुद्ध भावचित्रात्मक जरूर रही होंगी। परन्तु जिस रूप में आज इन लिपियों के प्राचीनतम लेख उपलब्ध हैं, उनमें हम कुछ ध्वनि-संकेतों का भी अस्तित्व देखते हैं। इसीलिए इन्हें 'संधिकालीन लिपियों' का नाम दिया गया है।

ध्वन्यात्मक लेखन

समय के साथ चित्रों या भावचित्रों का विकास होता गया। पहले तो चित्रों में या प्रतीकों में उनकी वस्तुओं या भावों को आसानी से पहचाना जा सकता था, किन्तु अब इन चित्रों में इतना अधिक परिवर्तन हो गया था कि, इन्हें ध्वनियों से ही पहचाना जा सकता था। इस प्रकार, भावचित्रों ने ध्वनिचित्रों का रूप धारण कर लिया। अब चिह्न या प्रतीक वस्तुओं या भावों का नहीं, बल्कि ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करते थे। इस प्रकार, भाषा और प्रतीकों के बीच सीधा संबंध स्थापित हुआ और लिपि कथित-भाषा का प्रतिनिधित्व करने लगी।

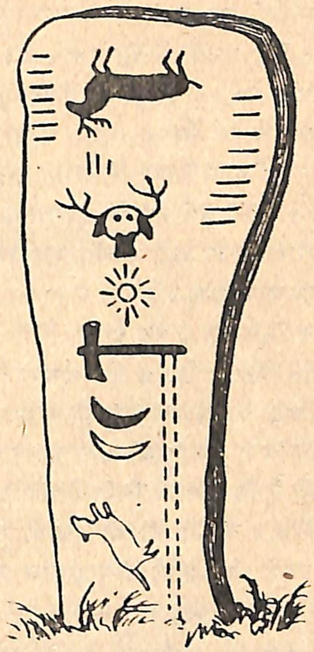

एक इंडियन कबीले के सरदार का समाधि-स्मारक

ध्वन्यात्मक-लेखन के दो प्रकार हैं—अक्षरात्मक-लेखन और वर्णमालात्मक-लेखन।

जब किसी भाषा में एकाक्षरी शब्दों की बहुलता होती है या इसके अनेकाक्षरी शब्दों का स्वरूप सरल और नियमबद्ध होता है, तो ध्वन्यात्मक-लेखन अक्षरात्मक लिपि का रूप धारण करता है। अक्षरात्मक लिपियों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। असीरी कीलाक्षर लिपि बाद में अक्षरात्मक बन गई थी। बिब्लोस, साइप्रस और क्रीट की लिपियां अक्षरात्मक ही थीं। हमारे समय में जीवित अक्षरात्मक लिपि का सबसे उत्तम नमूना है, भारतीय लेखन से प्रभावित, चीनी संकेतों से बनी हुई, जापान की दो अक्षरमालाएं—काताकाना और हिराकाना। इन सभी लिपियों के बारे में पाठक आगे के प्रकरणों में विस्तार के साथ पढ़ेंगे।

वर्णमालात्मक लिपि

वर्णमाला लिपि के विकास की अंतिम सीढ़ी है। आज सभी विकसित देशों में वर्णमालात्मक लिपियों का ही इस्तेमाल होता है। अपवाद है तो केवल चीन की लिपि। चीन की लिपि अपने लम्बे इतिहास में एक भावचित्रात्मक लिपि ही बनी रही। किन्तु अब चीन का साम्यवादी शासन भी अपने देश में एक वर्णमालात्मक लिपि का प्रयोग चालू करने में प्रयत्नशील है। वर्णमालात्मक लिपि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें एक ध्वनि के लिए एक ही संकेत होता है और एक संकेत केवल एक ही ध्वनि का प्रतिनिधित्व करता है। वर्णमालात्मक लिपि में सबसे कम संकेत होते हैं, इसलिए इसे आसानी से कम समय में सीखा जा सकता है।

सबसे पहले कब और कहां वर्णमालात्मक लिपि का आरंभ हुआ है, इस सवाल को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद है। ई.पू. तीसरी शताब्दी में अशोक के धर्म-लेखों में जिस ब्राह्मी-लिपि के हम दर्शन करते हैं, वह वर्णमालात्मक ही थी। इसमें व्यंजन-संकेतों के साथ-साथ स्वर-संकेत भी थे। अशोक के पहले के ब्राह्मी लेख नहीं मिलते। दो-चार लेख अशोक के पहले के माने जाते हैं, किन्तु इनके बारे में दावे के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता।

साहित्यिक उल्लेखों के आधार पर इतना जरूर कहा जा सकता है कि ई.पू. सातवीं-छठी शताब्दी में भी हमारे देश में ब्राह्मी लिपि का अस्तित्व रहा है। दूसरी ओर, ३००० और १५०० ई.पू. के बीच सिन्धु लिपि का अस्तित्व है। किन्तु अभी हम ठीक-ठीक नहीं जानते कि सिन्धु लिपि भावचित्रात्मक है या अक्षरात्मक या वर्णमालात्मक। इधर कुछ विद्वान सिन्धु लिपि को ब्राह्मी के साथ जोड़ने में प्रयत्नशील हैं। परन्तु जब तक सिन्धु लिपि का पूर्ण रूप से उद्घाटन नहीं हो जाता, और जब तक सिन्धु लिपि ब्राह्मी लिपि के साथ जोड़ी नहीं जाती, तब तक ब्राह्मी-वर्णमाला के उद्भव और विकास के बारे में दावे के साथ कुछ भी नहीं कहा जा सकता। वैसे, कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि ब्राह्मी लिपि का विकास उत्तरी सेमेटिक लिपि के आधार पर हुआ है। इन विद्वानों के इस जोर-जबरी के प्रयास के पीछे यही धारणा छिपी हुई है कि, वर्णमालात्मक लिपि का आरंभ एक ही स्थान पर हुआ है और इसी एक स्थान की एक वर्णमालात्मक लिपि से संसार की अन्य सारी वर्णमालात्मक लिपियों का विकास हुआ है। यह तो स्पष्ट ही है कि यूनानी लिपि फिनीशियन लिपि के आधार पर बनी थी। इसलिए कुछ पाश्चात्य विद्वान ब्राह्मी को भी यूनानी लिपि के दायरे में घसीटना चाहते हैं। परन्तु इसके लिए उनके पास कोई ठोस प्रमाण नहीं है।

इतना निश्चित है कि पश्चिम एशिया में १००० ई.पू. के आसपास कई वर्णमालात्मक लिपियां अस्तित्व में आ चुकी थीं। कुछ विद्वानों का मत है कि ई.पू. दूसरी सहस्राब्दी की सिनाई प्रायद्वीप की लिपि से ही सेमेटिक लिपि की व्यंजनात्मक वर्णमाला अस्तित्व में आई थी। कुछ लोग आगे बढ़कर प्राचीन मिस्र के कुछ ध्वनि-संकेतों में वर्णमालात्मक लिपि का आरंभ देखते हैं। पाठक इन सब बातों के बारे में आगे के पृष्ठों में विस्तार के साथ पढ़ेंगे।

सेमेटिक भाषाओं की लिपियां व्यंजनमूलक थीं। जब यूनानियों ने उत्तरी सेमेटिक लिपि के आधार पर अपनी लिपि का निर्माण किया तो इन्हें अपनी भारोपीय परिवार की भाषा की ध्वनियों के लिए स्वर-संकेतों की भी जरूरत पड़ी, और उन्होंने इनका निर्माण भी किया। सेमेटिक भाषाओं के लिए प्रयुक्त लिपियों का काम केवल व्यंजन-संकेतों से आसानी से चल जाता है। किन्तु वर्णमाला को सर्वगुण-सम्पन्न बनाने का श्रेय है, भारोपीय भाषा-परिवार के लोगों को। ब्राह्मी-लिपि में हम शुरू से ही स्वर-संकेतों का अस्तित्व देखते हैं।

आगे के पृष्ठों में पाठक सभी प्रकार की लिपियों के बारे में पढ़ेंगे। इनमें कुछ ऐसी भी लिपियां थीं जिनका ज्ञान लुप्त हो गया था। इनका पुनः किस प्रकार उद्घाटन हुआ है, इसके बारे में भी पाठकों को जानकारी मिलेगी।

२

प्राचीन मिस्र की लिपियां

मिस्र का इतिहास लगभग ३२०० ई. पू. से आरंभ होता है। इस समय मेनेस नामक एक अर्ध-ऐतिहासिक पुरुष उत्तर तथा दक्षिण मिस्र का एकीकरण करके एक राज्य की स्थापना करता है। तभी से मिस्र में राजवंशीय-युग का आरंभ होता है। तब से लेकर सिकंदर के आक्रमण (३२६ ई. पू.) तक इस भूमि पर कुल मिलाकर तीस राजवंशों ने शासन किया। वस्तुतः प्राचीन मिस्र की तिथियों के बारे में पुराविदों में काफी मतभेद है। इसलिए प्रायः राजवंशों का उल्लेख करना ही पर्याप्त समझा जाता है। मिस्र का प्रथम ऐतिहासिक राजा नारमेर था और अधिकांश पुराविद अब मेनेस को ही नारमेर मानते हैं। सुविधा के लिए मिस्र के राजवंशीय-काल को हम निम्न प्रकार से विभाजित कर सकते हैं :

पहला और दूसरा राजवंश	लगभग ३०००–२७८० ई.पू.
प्राचीन साम्राज्य (तीसरे से दसवें राजवंश तक)	२७८०–२१०० ई.पू.
मध्य साम्राज्य (ग्यारहवें से तेरहवें राजवंश तक)	२१००–१७०० ई.पू.
हाइक्सोस काल (चौदहवें से सत्रहवें राजवंश तक)	१७००–१५५५ ई.पू.
नूतन साम्राज्य (अठारहवें से चौबीसवें राजवंश तक)	१५५५–७१२ ई.पू.
अर्वाचीन साम्राज्य (पच्चीसवें से तीसवें राजवंश तक)	७१२–५२५ ई.पू.
सिकंदर तथा टॉलमी राजाओं का काल	३३२–३० ई.पू.
रोमन काल	३० ई.पू.–३९५ई.
बैजन्टिन काल	३९५–६३८ ई.

प्रथम राजवंश के समय में भी मिस्र की प्राचीन लिपि अपने शिशुकाल में नहीं थी। वस्तुतः प्राक् राजवंशीय काल में ही मिस्र की भाषा ने लिखित रूप धारण कर लिया था। संख्या-संकेत भी जन्म ले चुके थे। अधिकांश पुराविदों का मत है कि मिस्री लिपि का जन्म उत्तरी मिस्र में हुआ था। एबिदोस की खुदाई में राजाओं की कब्रों से ऐसे अनेक शिलाफलक प्राप्त हुए हैं जिनपर राजाओं के नाम अंकित हैं। व्यक्तिगत शिलाफलकों तथा बंद कलशों पर भी लिपि-संकेत मिलते हैं। प्रथम एवं द्वितीय राजवंश-काल की उपलब्ध सामग्री के अध्ययन से पता चला है कि उस समय हाइरोग्लिफिक लिपि के २०३ संकेत अस्तित्व में आ चुके थे।

प्राक् राजवंशीय काल में मिस्र की प्राचीन लिपि का स्वरूप क्या था, इसके बारे में हमें कोई ठोस जानकारी नहीं मिलती। हम यह भी नहीं जानते कि यह लिपि कैसे अस्तित्व में आई। इतना निश्चित है कि पहले और दूसरे राजवंश काल की हाइरोग्लिफिक लिपि को हम चित्रलिपि नहीं कह सकते, क्योंकि उस समय भी इसके कुछ संकेत व्यंजनों को व्यक्त करते थे। निर्धारक-संकेत भी अस्तित्व में आ चुके थे।

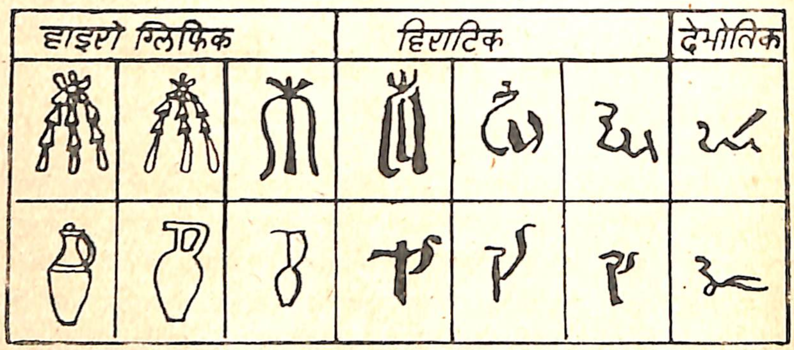

हाइरोग्लिफिक लिपि का हिराटिक और देमोतिक लिपियों में विकास

हाइरोग्लिफिक (यूनानी शब्द : हाइरो=पवित्र, ग्लिफिक=अंकन) लिपि प्रायः शिलाओं पर उत्कीर्ण की जाती थी, इसलिए इसके संकेतों में अधिक परिवर्तन होना संभव नहीं था। कालान्तर में इस लिपि को जब पेपीरस कागज पर लिखा जाने लगा तो इसने एक नया रूप धारण किया। कलम से पेपीरस कागज पर द्रुत गति से लिखने के कारण हाइरोग्लिफिक लिपि से हिराटिक (पुरोहितों की) लिपि अस्तित्व में आई। कालान्तर में, २५ वें राजवंश काल में, इस हिराटिक लिपि को और भी अधिक जल्दी-जल्दी लिखा जाने लगा, तो देमोतिक लिपि अस्तित्व में आई। इस प्रकार, यूनानी तथा रोमन काल में मिस्र में एक साथ तीन लिपियों का व्यवहार होता था—मंदिरों तथा स्मारकों के पवित्र अभिलेखों के लिए हाइरोग्लिफिक का, पुरोहितों के लेखन के लिए हिराटिक का और दैनन्दिन व्यवहार के लिए देमोतिक का।

२६ वें राजवंश के फरोहा अमासिस-द्वितीय (५६९–५२५ ई.पू.) के शासन-काल में यूनानी व्यापारियों के साथ मिस्र में यूनानी भाषा का प्रवेश हुआ। लगभग दो शताब्दियों बाद मिस्र में टॉलमियों का शासन आरंभ हुआ तो यूनानी भाषा मिस्र की राजभाषा बन गई। मिस्री भाषा को यूनानी लिपि में ढालने का प्रयास हुआ। किन्तु जब देखा गया कि यूनानी वर्णमाला मिस्री भाषा के लिए परिपूर्ण नहीं है, तो हिराटिक तथा देमोतिक लिपियों से ७ अतिरिक्त संकेत लिए गए। इस प्रकार २४+७=३१ अक्षरों की एक नई वर्णमाला अस्तित्व में आई।

यूनानियों के बाद मिस्र में रोमन शासन का युग आया। रोमन काल में भी मिस्र की प्राचीन लिपियों को पढ़ सकने वाले कुछ लोग अभी मौजूद थे, परन्तु इनकी संख्या नगण्य थी। ईसा की चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध में मिस्र में ईसाई लोग इतने अधिक शक्तिशाली बने कि, इन्होंने प्राचीन मंदिरों तथा विद्यालयों को बंद कर दिया। किन्तु ३१ वर्णों वाली लिपि का उपयोग, इसके नए कॉप्टिक रूप में, चलता रहा। मिस्र के ईसाइयों को कॉप्ट कहा जाता था, इसलिए इनके द्वारा प्रयुक्त भाषा तथा लिपि को कॉप्टिक कहा जाने

लगा। सातवीं शताब्दी में मिस्र पर अरबों की विजय हुई। कुछ ईसाई-कॉप्ट मुसलमान भी बने। कॉप्टिक भाषा का इस्तेमाल होता रहा। किन्तु सोलहवीं शताब्दी के अन्त समय में कॉप्टिक का स्थान अरबी ने ले लिया। जहां तक मिस्र की प्राचीन लिपियों की बात है, इनका ज्ञान ईसा की आरंभिक शताब्दियों में ही लुप्त हो गया था। सबसे अंतिम जो हाइ-रोग्लिफिक लेख प्राप्त होता है, वह ३९४ ई. में लिखा गया था।

२ जुलाई, १७९८ को नेपोलियन की शक्तिशाली फ्रेंच सेना ने मिस्र की भूमि पर पैर रखे। नेपोलियन के इसी अभियान से प्राचीन मिस्र के अन्वेषण की कहानी का आरंभ होता है।

मिस्र पर आक्रमण की तैयारी करते समय ही नेपोलियन ने फ्रेंच-अकादमी के विद्वान सदस्यों के सामने इस अभियान से होने वाले वैज्ञानिक लाभ स्पष्ट कर दिये थे। इसीलिए नेपोलियन अपनी सेना के साथ १७५ विद्वानों को भी ले गया था। इन्होंने नेपो-लियन के आदेश से मिस्र की प्राचीन सभ्यता के बारे में जितनी संभव हो सकती थी उतनी जानकारी प्राप्त की। फ्रेंच भूगोलवेत्ताओं ने मिस्र की भूमि का मापन करके नक्शे तैयार किए, भूगर्भवेत्ताओं ने मिस्र की चट्टानों का अध्ययन किया, जीवशास्त्रियों ने नील नदी की मछलियों का अध्ययन किया, इत्यादि।

परन्तु नेपोलियन के इस अभियान के फलस्वरूप जो सबसे महत्व की चीज़ मिली, वह है एक शिला—एक अक्षरांकित शिला-प्रस्तर।

रोसेटा प्रस्तर

फ्रेंच सेना पराजित हो रही थी और अपनी सुरक्षा के लिए समुद्र के किनारे की भूमि पर खंदक खोद रही थी। नील नदी के मुहाने के पास रोसेटा नामक एक स्थान है। इसी रोसेटा स्थान से ५ मील दूर किला-रशिद (बाद में इसे किला-जुलियन का नाम दिया गया) के खंडहरों के पास ब्रिगेडियर-जनरल बौचार्ड ने अपने सिपाहियों को खाइयां खोदने का आदेश दिया। यकायक एक सैनिक की कुदाल एक पत्थर से टकराई। एक पुरानी दीवार से एक प्रस्तर-शिला बाहर निकाली गई।

बौचार्ड इस शिला के महत्व को फौरन समझ गया, क्योंकि इस पर अक्षर खुदे हुए थे। नेपोलियन की सेना के साथ कुछ ऐसे भी विद्वान थे जो शिला पर अंकित तीन लिपियों में से एक, यूनानी लिपि, को पढ़ सकते थे। यूनानी अंश को जब पढ़ा गया तो पता चला कि इस शिला-स्मारक का निर्माण २७ मार्च, १९६ ई. पू. में हुआ था।

काहिरा की 'मिस्री अकादमी', जिसकी स्थापना स्वयं नेपोलियन ने की थी, को यह शिला भेज दी गई। कहीं यह अमूल्य पत्थर गायब न हो जाए, इसलिए इसकी कई अनुकृतियां तैयार करवाके फ्रांस भी भेज दी गईं। कुछ दिनों बाद यह शिला काहिरा से अलेक्ज़ेंड्रिया लाई गई और फ्रेंच जनरल मेनौ के निवास-स्थान पर रखी गई।

अन्त में, १८०१ में फ्रेंच सेना को ब्रिटिश सेना के सामने पराजय स्वीकार करनी पड़ी। तीन वर्षों के अथक प्रयासों के बाद फ्रेंच विद्वानों ने जितने भी मिस्री पुरावशेष एकत्र किए थे, अन्त में वे सब ब्रिटिश अधिकारियों को सौंप देने पड़े। ब्रिटिश जनरल लार्ड हचिन्सन ने रोसेटा शिला को जार्ज तृतीय को भेंट किया और जार्ज तृतीय ने इसे ब्रिटिश-संग्रहालय को भेंट किया। तब से यह अमूल्य रोसेटा-शिला ब्रिटिश संग्रहालय की सम्पत्ति है।

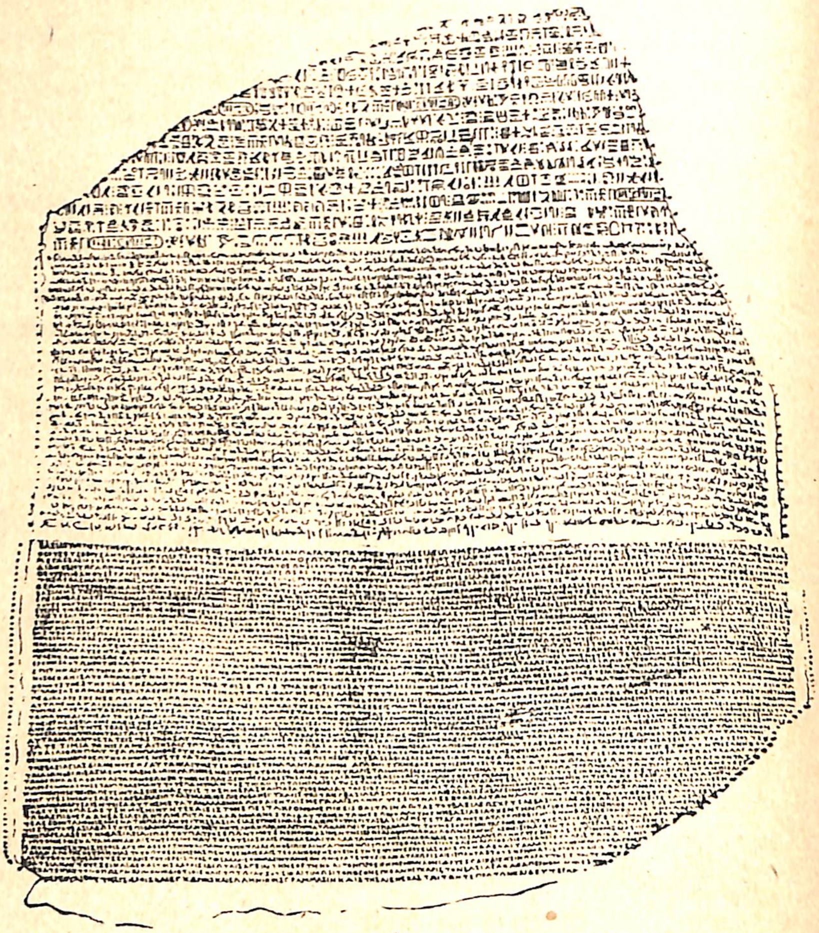

रोसेटा शिला : इस पर तीन लिपियों में लेख । सबसे ऊपर हाइरोग्लिफिक लिपि में, बीच में देमोतिक लिपि में और नीचे यूनानी लिपि (यूनानी भाषा) में।

काले बैसेल्ट पत्थर की यह शिला ३ फुट ९ इंच लम्बी, २ फुट ४३ इंच चौड़ी और ११ इंच मोटी है। इस शिला के सिरे के दाईं तथा बाईं ओर के किनारे और निचले ओर का कोना खंडित है। इस शिला पर जो अभिलेख उत्कीर्ण है, वह दो भाषाओं तथा तीन लिपियों में है। ये दो भाषाएं हैं, मिस्री और यूनानी। ऊपर के हिस्से के लिपि-संकेत हाइरोग्लिफिक लिपि में हैं और बीच की लिपि देमोतिक है, जो हिरातिक से विकसित हुई है। नीचे के लेख की भाषा तथा लिपि यूनानी है। इस शिला पर हाइरोग्लिफिक लिपि की १४ पंक्तियां, देमोतिक लिपि की ३२ पंक्तियां और यूनानी लिपि की ५४ पंक्तियां उपलब्ध हैं। हाइरोग्लिफिक लिपि की १४ पंक्तियां यूनानी अंश की नीचे की २८ पंक्तियों के तुल्य हैं, इसलिए स्पष्ट है कि शिला के ऊपरी हिस्से में से काफी अंश गायब है। इस लुप्त हाइरोग्लिफिक अंश को अब प्राप्त कर लिया गया है। क्योंकि १८९८ में डेल्टा-प्रदेश के दमनहूर स्थान से एक और शिलाफलक मिला है जिस पर इसी प्रकार का एक अभिलेख अंकित है और जिसके हाइरोग्लिफिक अंश में ३१ पंक्तियां हैं। वस्तुतः मैम्फिस

के पुरोहितों ने टॉलमी-चतुर्थ एपिफेनस के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए १९६ ई० पू० में यह लेख अनेक स्थानों पर अंकित करवाया था।

रोसेटा-शिला के लेखों का अध्ययन आरंभ हुआ। यूनानी अंश के अंग्रेजी, फ्रेंच तथा लैटिन भाषाओं में तुरंत अनुवाद प्रकाशित किए गए।

१८१४ में इंग्लैंड के थॉमस यंग ने महज़ शौक के लिए हाइरोग्लिफिक का अन्वेषण कार्य हाथ में लिया। यंग (जन्म १७७३) बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि का था और उसने लगभग एक दर्जन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। अभी जब वह विद्यार्थी ही था तो उसने सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि ४७ अक्षरों की वर्णमाला से मानव की सभी ध्वनियों को पूर्णतः व्यक्त किया जा सकता है। विज्ञान के इतिहास में यंग अपने प्रकाश के ऊर्मिल सिद्धान्त के लिए प्रसिद्ध है ही।

यंग ने रोसेटा लेख की अनुकृति प्राप्त की। उसने देखा कि यूनानी अंश में कुछ शब्द पुनः पुनः आए हैं। उसने देमोतिक अंश में से ऐसे शब्दों को चुनने का प्रयत्न किया। उसने, न केवल देमोतिक, बल्कि हाइरोग्लिफिक अंश में भी उन शब्दों को अलग किया जो यूनानी अंश से मेल खाते थे। उसने अपनी इस आरंभिक सफलता को तुरंत प्रकाशित भी कर दिया।

उसने देखा कि देमोतिक पाठ के कुछ चिह्न-समूह हाइरोग्लिफिक पाठ के कुछ चिह्न-समूहों से काफी समानता रखते हैं। वह कुछ हाइरोग्लिफ-समूहों के अर्थों का अंदाज लगा सकता था, परन्तु उन चिह्नों की ध्वनियों को वह नहीं जान पाया। उसने यह भी देखा कि हाइरोग्लिफिक अंश में एक चिह्न-समूह कई बार एक वलय के भीतर रखा गया है। वस्तुतः यंग के काफी पहले गुइग्नेस और जोयोग ने अनुमान लगाया था कि वलय के भीतर अंकित चिह्न राजाओं के नामों को व्यक्त करते हैं। अपनी इस जानकारी के आधार पर यंग ने हाइरोग्लिफिक अंश को पढ़ने का प्रयत्न किया और सौभाग्य से उसे कुछ शब्दों के सही अर्थ भी मालूम हुए। अपने इन परिणामों को उसने १८१८ में प्रकाशित किया। इनमें हाइरोग्लिफिक के २०४ शब्द और १४ ध्वनि-संकेत दिए हुए थे। शब्दों में से केवल चौथाई ही सही थे और ध्वनि-संकेतों में से ५ पूर्णतः सही थे, ३ आधे सही थे। यंग के इस आरंभिक प्रयास में काफी त्रुटियां होने पर भी हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि हाइरोग्लिफिक के शुद्ध भाव-संकेतों में ध्वनि-संकेतों के अस्तित्व को खोज निकालनेवाला वह पहला व्यक्ति था।

आशा तो यह की जाती थी कि यंग अपने अन्वेषण में आगे बढ़ेगा। परन्तु यह निर्देश देकर कि, इसी पथ पर आगे बढ़कर हाइरोग्लिफिक को पढ़ा जा सकता है, उसने अपना अनुसंधान स्थगित कर दिया।

शेम्पोलियों

रोसेटा-शिला की खोज की थी नेपोलियन की फ्रेंच सेना ने, किन्तु अंग्रेजों ने अपने सैनिक बल से इसे हथिया लिया था। इंग्लैण्ड के थॉमस यंग को मिस्र की प्राचीन लिपि के उद्‌घाटन में आंशिक सफलता भी मिली थी, किन्तु हाइरोग्लिफिक लिपि के पूर्ण उद्‌घाटन का श्रेय प्राप्त है फ्रेंच प्रतिभा शेम्पोलियों को।

जॉ फ्रान्जोई शेम्पोलियों का जन्म १७९० में फ्रांस के एक सामान्य परिवार में हुआ था। पिता एक पुस्तकालय के प्रमुख थे और बड़े भाई पुरातत्व के जानकार। शेम्पो-

लियों का स्वास्थ्य बचपन से ही अच्छा नहीं था। पर पुरानी भाषाएं सीखने का उसे बड़ा शौक था। उसने, न केवल यूनानी व लैटिन भाषाओं का, बल्कि कॉप्टिक भाषा का भी गहन अध्ययन किया था। मिस्री पुरातत्व में उसकी गहरी रुचि थी।

शेम्पोलियों जब १८ साल का था तो उसे पहली बार रोसेटा-शिला के लेखों की अनुकृतियां देखने को मिलीं। उसने इसके हाइरोग्लिफिक पाठ का अन्वेषण आरंभ कर दिया, किन्तु उस समय उसे इसमें सफलता नहीं मिली।

कुछ साल बाद उसने पुनः इन लिपियों का अध्ययन आरंभ किया। इसी बीच मिस्र के फिली स्थान पर बंकेस ने एक सूच्याकार-स्तम्भ (ओबेलिस्क) की खोज की। इस स्तम्भ की आधारशिला पर 'क्लियोपेत्रा' का नाम खुदा हुआ था। बाद में इस स्तम्भ को इंग्लैण्ड लाया गया था।

थॉमस यंग पहला व्यक्ति था जिसे इस स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख की अनुकृति प्राप्त हुई थी, परन्तु आश्चर्य की बात है कि वह इसका कुछ भी उपयोग नहीं कर सका। दूसरी ओर शेम्पोलियों, स्वास्थ्य की परवाह किए बिना, सतत प्रयत्न कर रहा था। १८२१ में वह देमोतिक पाठ को हिराटिक में और इस हिराटिक पाठ को हाइरोग्लिफिक में रूपान्तरित कर सकता था। शेम्पोलियों की सफलता की कल्पना हम तभी कर सकते हैं जब नीचे की आकृति में हम देखेंगे कि इन तीनों लिपियों में कितना अंतर है :

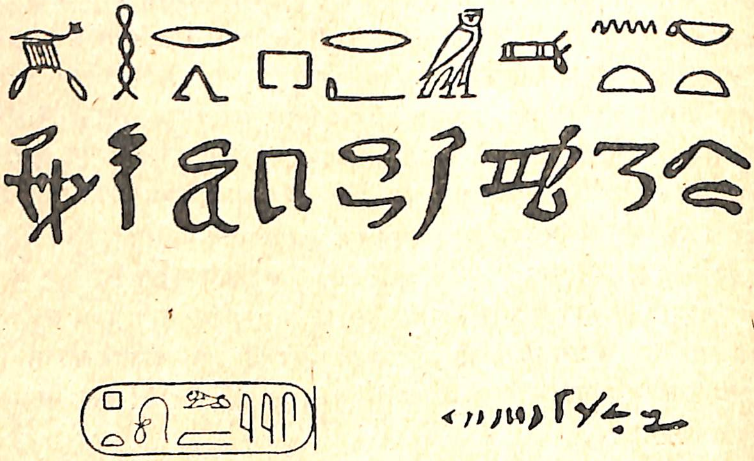

प्राचीन मिस्र की हाइरोग्लिफिक, हिराटिक तथा देमोतिक लिपियों की तुलना ऊपर की पंक्ति हाइरोग्लिफिक में है; इसी का हिराटिक लिप्यन्तर बीच की पंक्ति में है। नीचे की पंक्ति में बायीं ओर, वलय के भीतर, हाइरोग्लिफिक में 'टॉलमी' शब्द लिखा हुआ है और दायीं ओर भी, वलय के ही भीतर यही नाम देमोतिक में लिखा हुआ है।

अपने ३१वें जन्म-दिवस पर शेम्पोलियों के दिमाग में एक विचार आया। उसने रोसेटा-शिला पर अंकित सभी हाइरोग्लिफ और यूनानी शब्दों को गिनना शुरू किया (उसने उन्हीं हाइरोग्लिफों को चुना जो यूनानी अंश का अनुवाद हो सकते थे)। अन्त में उसने देखा कि १४१९ हाइरोग्लिफ ४८६ यूनानी शब्दों के बराबर है। इस गणना से

स्पष्ट हो गया कि हाइरोग्लिफ भाव-संकेत या प्रतीक-चिह्न नहीं हो सकते; क्योंकि यदि हाइरोग्लिफ केवल भाव-संकेत होते तो उनकी संख्या यहां पर इतनी अधिक न होती।

शेम्पोलियों अब आसानी से देमोतिक या हिराटिक पाठ को हाइरोग्लिफिक में रूपान्तरित कर सकता था। उसने यह भी जाना कि 'टॉलमी' का नाम हाइरोग्लिफिक में भी ध्वनि-संकेतों में लिखा हुआ है। लेकिन उसने यंग की तरह इसे PTOLEMAIOS पढ़ने की कोशिश नहीं की। वह मिस्री भाषा के नियमों को जानता था, इसलिए वह यह भी जानता था कि सही नाम p-t-o-l-m-i-s अर्थात् PTOLMIS ही है। एक देमोतिक पेपीरस से शेम्पोलियों 'क्लियोपेत्रा' के नाम को भी जानता था। उसने इस नाम को कई बार हिराटिक और हाइरोग्लिफिक में रूपान्तरित किया था। उसे कल्पना थी कि यदि किसी वलय में यह नाम अंकित होगा, तो कैसा होगा। किन्तु इस तरह का अभिलेख अभी शेम्पोलियों के देखने में नहीं आया था।

अन्त में, जनवरी १८२२ में शेम्पोलियों के पास भी फिली के स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख की लिथोग्राफिक कापी पहुंच गई।

इस प्रसंग के बारे में शेम्पोलियों का जीवनी-लेखक हार्टलबेन लिखता है :

"इसे देखकर उस अन्वेषक के दिमाग में जैसे बिजली कौंध गई। वहां दूसरे राज-वलय में क्लियोपेत्रा का नाम था। इस नाम को वह चिह्न-प्रति-चिह्न हजारों बार देमोतिक से हाइरोग्लिफिक में रूपान्तरित कर चुका था, और अपनी इस खोज की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए आतुरता से अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था।"

टॉलमी और क्लियोपेत्रा के यूनानी नामों में कई अक्षर समान हैं। अब शेम्पोलियों को यह देखना था कि इनके मिस्री नामों में भी अक्षरों की इसी प्रकार की समानता है या नहीं। इस तुलना में कम से कम कुछ व्यंजनों को छोड़ना जरूरी था, क्योंकि टॉलमी के यूनानी नाम के दस अक्षर केवल हाइरोग्लिफों से ही व्यक्त किए गए थे। दूसरी ओर, क्लियोपेत्रा के वलय में से स्त्रीलिंग के द्योतक अंतिम दो चिह्नों को छोड़ दिया जाए, तो शेष रहते हैं नौ हाइरोग्लिफ। और क्लियोपेत्रा के यूनानी नाम में भी नौ ही अक्षर हैं। शम्पोलियों ने इन दो नामों के हाइरोग्लिफों की निम्न-प्रकार से तुलना की :

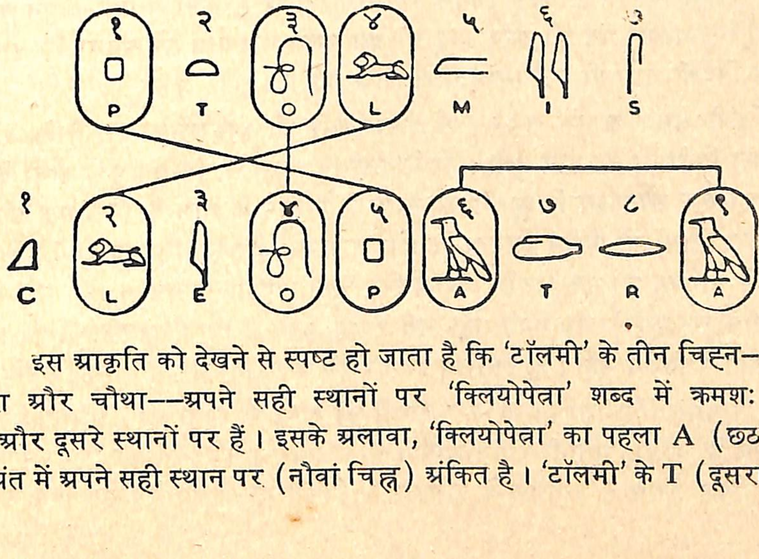

इस आकृति को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि 'टॉलमी' के तीन चिह्न—पहला, तीसरा और चौथा—अपने सही स्थानों पर 'क्लियोपेत्रा' शब्द में क्रमशः पांचवें, चौथे और दूसरे स्थानों पर हैं। इसके अलावा, 'क्लियोपेत्रा' का पहला A (छठा चिह्न) पुनः अंत में अपने सही स्थान पर (नौवां चिह्न) अंकित है। 'टॉलमी' के T (दूसरा चिह्न)

और क्लियोपेत्रा के T (सातवां चिह्न) में अंतर जरूर था (इस अंतर के बारे में आगे बताया जाएगा)।

अब इस बात में कोई भी संदेह नहीं रहा कि यूनानी नाम हाइरोग्लिफिक लिपि में भी ध्वनि-संकेतों से व्यक्त किए गए हैं। अब शेम्पोलियों एक दर्जन हाइरोग्लिफों के ध्वनिमानों को जान गया था। इनके आधार पर वह अन्य नामों को भी पढ़ने की कोशिश कर सकता था। उसने निम्नांकित वलय के चिह्नों को पढ़ने की कोशिश की :

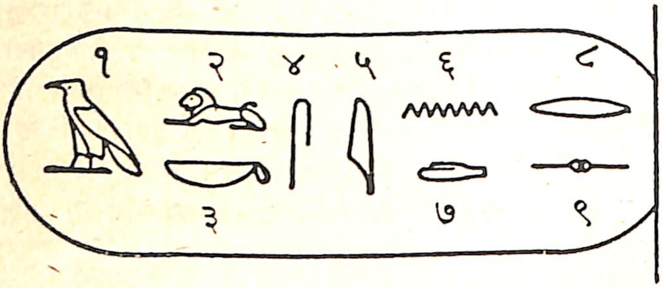

इस वलय के नौ चिह्नों में से वह १,२, ४, ५, ७, और ८ नंबर वाले चिह्नों को जानता था; यथा :

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९
A L S E T R

अक्षरों की इस योजना को पूर्ण करने के लिए यूनानी में केवल एक ही उपयुक्त नाम था: ALKSENTRS (अलेक्ज़ेंडर, अर्थात् सिकंदर)। इस प्रकार, शेम्पोलियों को और तीन संकेतों का अर्थ ज्ञात हो गया। इसके बाद तो वह कुछ ही सप्ताहों के भीतर लगभग ८० वलयों के नामों को पढ़ गया। ये सभी नाम अलेक्जेंडर के बाद के यूनानी तथा मरोन शासकों के थे। इन शासकों द्वारा धारण की हुई 'औटोक्रेटर' और 'सीज़र' जैसी उपाधियों का भी उसने विश्लेषण किया। सीज़र शब्द कई प्रकार से लिखा जाने के कारण उसे काफी नए चिह्न मिल गये; और इस प्रकार, जल्दी ही उसे १०० से अधिक हाइरोग्लिफिक संकेतों का ज्ञान हो गया।

शेम्पोलियों ने अब तक जितने भी नाम पढ़े थे वे सभी यूनानी-रोमन काल के थे। इसलिए, थॉमस यंग की तरह, वह भी इस गलत परिणाम पर पहुंचा कि इस काल के केवल विदेशी नाम ही ध्वनि-संकेतों में लिखे गए हैं।

इसी समय अगस्त १८२२ में शेम्पोलियों को हाइरोग्लिफिक लिपि की एक और प्रमुख विशेषता का ज्ञान हुआ। उसने देखा कि तारों से संबंधित कुछ नामों के अन्त में तारे का एक छोटा-सा चिह्न अंकित रहता है। तारे के नाम के पीछे एक छोटा-सा तारा। शेम्पोलियों को यकीन हो गया कि छोटे तारे जैसे ये संकेत निश्चय ही ऐसे निर्धारक चिह्न होने चाहिए, जो मूक अर्थात अनुच्चारित रहते हुए भी, समान अक्षरों वाले (किन्तु भिन्न उच्चारण वाले) शब्दों को सही अर्थ प्रदान करते हैं। इन मूक चिह्नों का प्राचीन मिस्री लिपि में विशेष महत्व है, इसलिए इन पर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे।

शेम्पोलियों हमेशा ही नए-नए वलयों की खोज में रहता था। अब तक उसे जो वलय मिले थे, वे सभी यूनानी-रोमन काल के ही थे। परन्तु १४ सितम्बर, १८२२ का दिन हाइरोग्लिफिक लिपि के अन्वेषण के इतिहास में विशेष महत्व का है। इस दिन उसे फ्रेंच

वास्तुविद जॉन-निकोलस हुयोत की ओर से मिस्र के प्राचीन मंदिरों पर उत्कीर्ण लेखों की अनुकृतियां मिलीं। ये अभिलेख निस्संदेह यूनानी-रोमन काल के पहले के थे और इनमें कुछ वलय भी थे। शेम्पोलियों ने पहले पृष्ठ पर एक वलय देखा। यह निश्चित रूप से किसी राजा का नाम था। परन्तु यह राजा यूनानी-रोमन काल का नहीं था। उसने सबसे पहले जिस वलय का अन्वेषण आरंभ किया, उसमें नीचे के संकेत थे :

यहां अंतिम चिह्न से शेम्पोलियों परिचित था, क्योंकि यहां 'टॉलमी' (टॉल-माइओस) के 'स' को दो बार लिखा गया है। बीच का चिह्न अभी उसके लिए अपरिचित था। लेकिन पहला चिह्न 'सूर्य' का द्योतक था। शेम्पोलियों को एकदम याद आया कि कॉप्टिक भाषा में 'सूर्य' को 'रे' या 'रा' कहते हैं। अतः यह नाम होना चाहिए 'रा-?-स-स'। शेम्पोलियों को यकायक प्राचीन मिस्र के इतिहास का एक प्रसिद्ध नाम स्मरण हो आया —रामासेस! साथ ही, रोसेटा-प्रस्तर के अभिलेख के आधार पर, शेम्पोलियों जानता था कि बीच का यह चिह्न यूनानी शब्द 'जन्मदिन' से संबंधित है; इसलिए उसने इस संकेत का कॉप्टिक के 'जन्म देना' (म-स) या 'बालक' (मास) से संबंध जोड़ा। इस प्रकार उसने 'रामासेस' नाम का अर्थ प्राप्त कर लिया : 'रा ने जन्म दिया' जिसे या 'रा का पुत्र'।

किन्तु बीच के चिह्न का उसने जो यह अर्थ लगाया था, उसे किसी दूसरे शब्द के आधार पर सिद्ध करना जरूरी था। शेम्पोलियों ने एक अन्य वलय पर नज़र दौड़ाई, जिसमें ये तीन संकेत थे :

यहां भी अंतिम अक्षर 'स' ही था। आरंभ का चिह्न 'आइसिस' नामक पक्षी का है, और यूनानी ग्रंथों के आधार पर शेम्पोलियों जानता था कि यह चिह्न 'थोत्' देवता का भी प्रतीक है। अब तो शेम्पोलियों को पूरा विश्वास हो गया कि बीच का यह चिह्न 'म' अक्षर का ही द्योतक है और यह 'थोत्-म-स' शब्द १८वें राजवंश के प्रसिद्ध फरोहा थतमोसिस अर्थात् 'थोत् के पुत्र' को व्यक्त करता है।

अब शेम्पोलियों के दिमाग में हाइरोग्लिफिक लिपि के स्वरूप के बारे में कोई संदेह नहीं रहा। वह जिन ध्वनितत्वों को कालान्तर (यूनानी-रोमन काल) की उपज समझ बैठा था, वही तत्व प्राचीन मिस्री लिपि की एक मौलिक विशेषता थी। शेम्पोलियों को अब स्पष्ट हो गया कि हाइरोग्लिफ न तो पूर्णतः ध्वनि-संकेत हैं और न पूर्णतः प्रतीक-संकेत ही हैं; बल्कि इन दोनों की एक संयुक्त योजना है।

उस दिन सुबह से लेकर दोपहर तक वह हुयोत द्वारा भेजी हुई कॉपी में खोया रहा। मध्याह्न के बाद वह उठा, कागज संभाले और इंस्टीट्यूट की ओर द्रुत गति से चल पड़ा, जहां उसका बड़ा भाई काम कर रहा था। पुस्तकालय का दरवाजा खोलकर उसने कागज़ भाई की मेज पर पटक दिए और केवल तीन शब्दों में अपनी सफलता का समाचार सुनाकर, वहीं पर बेहोश हो गिर पड़ा।

लगातार पांच दिन तक वह बिस्तरे पर पड़ा रहा। इसके बाद कुछ स्वस्थ होने पर उसने 'ध्वनि-संकेतयुक्त हाइरोग्लिफिक वर्णमाला से संबंधित श्रीमान दैसिएर के नाम पत्र' नाम से एक निबंध लिखा। देसिएर ने इसे फ्रेंच अकादमी को भेज दिया। इस निबंध में शेम्पोलियों ने यूनानी तथा रोमन नामों को पढ़कर उनका स्पष्टीकरण किया था; और यह भी सिद्ध किया था कि प्राचीन मिस्री अभिलेखों में, भाव-संकेतों के अलावा, अक्षरात्मक चिह्न भी हैं।

शेम्पोलियों की इस खोज़ का उस समय के यूरोप पर गहरा असर पड़ना स्वाभाविक था। फ्रेंच लोगों के लिए तो हाइरोग्लिफिक का अनुसंधान राष्ट्रीय गौरव की ही बात थी। जैसे ही शेम्पोलियों की खोज का समाचार फैला, सारे देश में खुशी की लहर फैल गई। कुछ लोग तो शेम्पोलियों की वर्णमाला का उपयोग करके प्रेम-पत्र भी लिखने लग गए!

इसके बाद तुरीन-स्थित सार्डिनिया के राजा के विशाल मिस्री-संग्रह का अध्ययन करने का शेम्पोलियों को सुअवसर मिला। बाद में उसे मिस्र की यात्रा करने का भी अवसर मिला। इसे अपने पूर्वजों की भूमि समझते हुए उसने इसमें प्रवेश किया और इसके प्राचीन गौरव का अध्ययन किया। यहां उसने अपने जीवन का सबसे सुखमय समय बिताया। मिस्र से लौट आने पर उसे 'कालेज द फ्रांस' में मिस्री पुराशास्त्र का प्राध्यापक नियुक्त किया गया।

मिस्र में दो साल बिताकर शेम्पोलियों अपने साथ बहुत-सी नई सामग्री लाया था और अब उस पर काम कर रहा था। किन्तु जीवन भर अनवरत काम करते रहने के कारण अब उसका स्वास्थ्य बहुत ही गिर गया था। इसके अलावा, वह क्षयरोग तथा मधुमेह से भी पीड़ित था। शेम्पोलियों जानता था कि अब उसका अन्त समय नजदीक आ गया है। "हे भगवान! बस मुझे और दो साल दो, केवल दो साल....." एक दिन वह चिल्लाया। दूसरे अवसर पर उसके उद्‌गार थे, "अभी नहीं; अभी तो मेरे दिमाग में बहुत कुछ भरा हुआ है।" लेकिन अन्त में ४ मार्च, १८३२ को उसे मृत्यु को वरण करना ही पड़ा।

शेम्पोलियों की मृत्यु के बाद उसके दो ग्रंथों को उसके बड़े भाई ने पूरा करके प्रकाशित किया। ये दो ग्रन्थ थे : "मिस्री व्याकरण" (पेरिस, १८३६-४१) और "मिस्री शब्दकोश" (पेरिस, १८४३)।

शेम्पोलियों के इस आरंभिक अनुसंधान में कुछ त्रुटियां थीं। इन त्रुटियों को दूर करने का श्रेय प्राप्त है रिचार्ड लेप्सियूस को। वे कई भाषाओं के पंडित थे और उन्होंने मिस्री पुरातत्व का गहन अध्ययन किया था। लेप्सियूस ने १८३७ में प्रकाशित अपने एक निबंध में हाइरोग्लिफिक लिपि का शुद्ध स्वरूप संसार के सामने रखा।

प्राचीन मिस्र की लिपि को अब पढ़ा जा सकता था; लेकिन मिस्री भाषाशास्त्र को एक सुस्थिर वैज्ञानिक आधार प्रदान करना अब भी बाकी था। अब तो यूरोप के बहुत-से विद्वान इस क्षेत्र में उतर आए। इन सब अनुसंधानों से मिस्री भाषा तथा लिपि के बारे में बहुत-सी नूतन जानकारी मिली।

प्राचीन मिस्री भाषा न केवल अरबी, हिब्रू, बेबीलोनी, आरमाइक और अन्य सेमेटिक भाषाओं से संबंधित है, बल्कि यह पूर्वी अफ्रीका की कुछ भाषाओं (गल्ल, सोमाली

आदि) और उत्तर अफ्रीका की बेरबेर बोलियों से भी संबंधित है ।

हाइरोग्लिफिक लिपि, प्रमुखतः पत्थरों पर, खड़ी या आड़ी रेखाओं में ही लिखी जाती थी—सामान्यतः दाहिनी ओर से बाईं ओर, और कभी-कभी बाईं ओर से दाहिनी ओर को भी । विराम-चिह्नों के लिए इस लिपि में कोई स्थान नहीं था, सभी शब्द एक-दूसरे से जुटे रहते थे । किस दिशा में यह लिपि पढ़नी आरंभ करनी चाहिए, यह जानने में कोई कठिनाई नहीं थी, क्योंकि चिह्नों की दिशा स्वयं यह निर्धारित करती है कि किस ओर से पढ़ना आरंभ करना चाहिएं ।

जैसा कि हमने पहले देखा है, हाइरोग्लिफिक लिपि में तीन प्रकार के चिह्न हैं : भावचित्र, ध्वनिचित्र और मूक या अनुच्चारित निर्धारक-चिह्न । इनमें कुछ भाव-चित्र तो ऐसे हैं जो प्रत्यक्षतः किसी वस्तु के चित्र होते हैं । इन चित्रों को अंकित करने में मिस्र की हाइरोग्लिफिक लिपि में कलात्मकता पर जितना अधिक ध्यान दिया गया है, उतना संभवतः किसी भी अन्य सभ्यता की लिपि पर नहीं दिया गया । वस्तुओं को हूबहू दरशाने वाले हाइरोग्लिफिकों की संख्या बहुत अधिक है । इनके अलावा, ऐसे भी भावचिह्न हैं जिनकी विशेष गति-विधियों को देखकर आसानी से अर्थ का अंदाजा लगाया जा सकता है : जैसे, (देखिए, नीचे की आकृति) डंडा उठाए हुए आदमी का अर्थ है 'पीटना', पंख फैलाए पक्षी का अर्थ है 'उड़ना', दो पैरों का अर्थ है 'चलना', इत्यादि ।

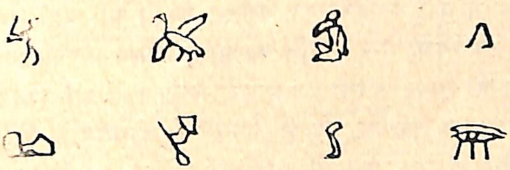

हाइरोग्लिफिक लिपि के भावचित्र, क्रमशः

पीटना उड़ना खाना चलना
लड़ना खेना दौड़ना रोना

लेकिन अमूर्त धारणाओं को व्यक्त करना और भी कठिन था । यहां भी उन्हें ऐसे चित्रों का सहारा लेना पड़ा जिनके भाव इच्छित धारणा को व्यक्त करते हैं । जैसे, नीचे की आकृति में, ऊपर की ओर मुड़ा हुआ दंड (फरोहा का राजदंड) व्यक्त करता है 'शासन करना'; ऊपरी मिस्र (दक्षिण मिस्र) में पाया जानेवाला कुमुदिनी-पुष्प 'दक्षिण' दिशा है; हाथ में लाठी लेकर चलनेवाला मनुष्य 'बुढ़ापे' को व्यक्त करता है; कलश से टपकनेवाले पानी का चित्र 'शीतल' का द्योतक है; इत्यादि ।

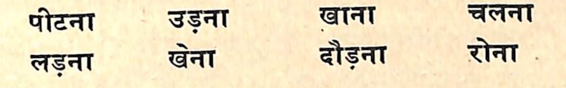

अमूर्त भावनाओं को व्यक्त करने वाले हाइरोग्लिफिक भावचित्र :
क्रमशः शासन करना, दक्षिण दिशा, खोजना, बुढ़ापा, शीतल

ये सभी चित्र अभी चित्रात्मक लेखन की सीमा में ही हैं । अभी ये प्रतीक ही हैं; उच्चारणों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है । परन्तु, साथ ही, प्राचीन काल में ही हाइरो-

ग्लिफिक में ध्वनि-चिह्न भी अस्तित्व में आ गए थे। हम बतला चुके हैं कि प्राचीन मिस्री में स्वरों को नहीं लिखा जाता था, केवल व्यंजन ही लिखे जाते थे। इसलिए, प्राचीन मिस्री भाषा के शब्दों के उच्चारणों का, उनके व्यंजनों के आधार पर, हम केवल अनुमान ही लगा सकते हैं। चिह्नों का सही-सही उच्चारण कोई भी नहीं जानता। प्राचीन मिस्री में ऐसे अनेक शब्द थे जिनके व्यंजनों को तो एक-जैसा ही लिखा जाता था, किन्तु उनके उच्चारण एवं अर्थ भिन्न-भिन्न होते थे। उदाहरण के लिए, नीचे की आकृति का अ-चिह्न

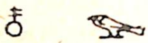

अ ब

'बांसुरी' (न्-फ्-र्) के साथ-साथ 'अच्छा' शब्द को भी व्यक्त कर सकता है, क्योंकि दोनों शब्दों को लिखने के लिए व्यंजनात्मक ढांचे 'न्-फ्-र्' का ही उपयोग करना पड़ता है। ब-चिह्न एक चिड़िया (व्-र्) के साथ-साथ 'महान' (व्-र्) को भी व्यक्त करता है (हिन्दी में भी यदि केवल व्यंजनों को ही लिखा जाता, स्वर नहीं लिखे जाते, तो वीर, वार, वर, वैर आदि अनेक शब्द एक ही 'व्-र्' से लिखे जाते)।

कालान्तर में स्थिति ऐसी आई कि इस चित्र का मूल अर्थ तो गौण हो गया और अब जिस किसी शब्द में व्-र् व्यंजनों की जरूरत पड़ती थी, वहां यह चित्र लिखा जाने लगा। अब चिड़िया का चित्र 'व्-र्' ध्वनि का प्रतिनिधित्व करने लगा। यहां यह चिह्न दो व्यंजनों की ध्वनि को व्यक्त करता है। हाइरोग्लिफिक में इस प्रकार के द्वि-व्यंजनात्मक ध्वनि-चिह्न कुल मिलाकर लगभग ७५ हैं, जिनमें से दो-तिहाई ही अधिकतर उपयोग में लाए जाते थे। तीन व्यंजनों वाले भी कुछ ध्वनि-चिह्न थे। किन्तु सबसे अधिक महत्व के थे, एक व्यंजन वाले ध्वनि-चिह्न। इनकी उत्पत्ति भी एक व्यंजन वाले भावचित्रों से हुई है। इन व्यंजनों के साथ जो स्वर रहे होंगे उनकी हमें जानकारी नहीं है। जैसे, प्राचीन मिस्री में 'अर्गला' (दरवाजे की सिटकिनी) के लिए जो शब्द था, उसमें केवल 'स्' व्यंजन की ही ध्वनि थी (इसके साथ जो स्वर रहा होगा, उसकी आज हमें कोई जानकारी नहीं है)। कालान्तर में यह चित्र 'स्+स्वर' जैसी किसी भी ध्वनि के लिए प्रयोग में लाया जाने लगा। चूंकि, मिस्री लिपि में स्वरों के लिए कोई स्थान ही नहीं था, इसलिए कालान्तर में 'अर्गला' का यह चित्र 'स' ध्वनि अर्थात् 'स' अक्षर के रूप में अस्तित्व में आ गया। इस प्रकार मिस्री लिपि में २४ अक्षरों की एक 'वर्णमाला' अस्तित्व में आई। यह 'वर्णमाला' केवल व्यंजनों की थी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि यदि प्राचीन मिस्र के लिपिक चाहते तो एक शुद्ध वर्णमालात्मक लिपि को जन्म दे सकते थे। ये २४ अक्षर बहुत प्राचीन काल में ही अस्तित्व में आए थे। तीन हजार वर्षों के दीर्घकाल में भी, थोड़ा आगे बढ़कर, मिस्र के लोग एक शुद्ध वर्णमाला को जन्म नहीं दे सके, तो उनके दिमाग के बारे में क्या कहा जाए? सिवाय इसके कि, वे पुरातन और परम्परा के अंधे भक्त थे और परिवर्तन या प्रगति से भय खाते थे। अन्यथा, एक कदम आगे बढ़कर वे एक शुद्ध वर्णमाला को जन्म देने में समर्थ थे ही। २४ व्यंजन-चिह्न अस्तित्व में आने पर भी वे अधिकतर इन्हीं पर निर्भर नहीं थे; किसी भी शब्द को लिपिक मनमाने ढंग से लिखने के लिए स्वतन्त्र था। इसलिए हाइरो-

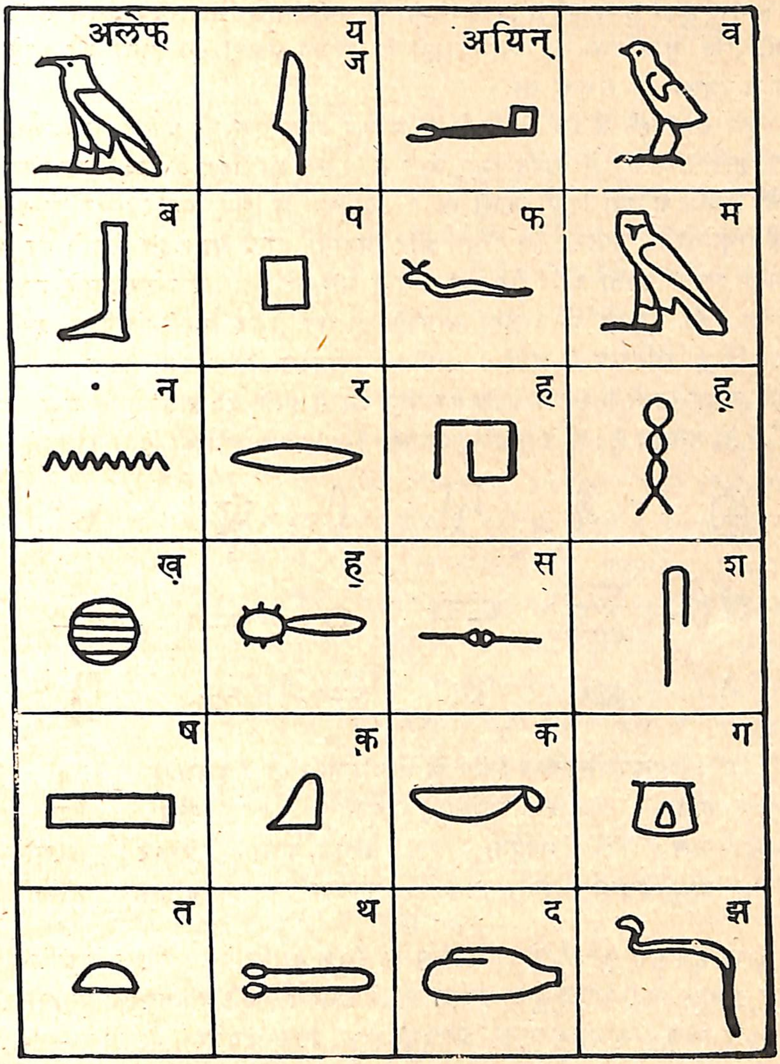

मिस्र की हाइरोग्लिफिक लिपि की 'वर्णमाला' (व्यंजन-माला)। ये संकेत वस्तुओं के चित्र हैं, (क्रमशः) :

गृध्र	नरकुल	अग्रबाहु	बटेर
पाद	आसन	शृंगयुक्त-सर्प	उलूक
जल	मुख	प्रांगण	पंजिका, लच्छी
आंत	पशु-उदर	अर्गला	तह किया वस्त्र
सरोवर	शैल, पहाड़ी	टोकरी	कलश-धानी
रोटी	लगाम	हस्त	सरीसृप

ग्लिफिक में एक ही शब्द कई तरह के चिह्नों के संयोजन से लिखा हुआ मिल सकता है। कोई भी शब्द भावचित्रों या ध्वनिचिह्नों या व्यंजन-अक्षरों इन तीनों की चाहे जैसी योजना से लिखा जा सकता था।

हम देख चुके हैं कि मिस्री-लिपि में कई शब्द एक ही प्रकार के व्यंजन-समूह (अर्थात्, हाइरोग्लिफ) से व्यक्त किए जाते थे, परन्तु इन शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न होते थे। ऐसी स्थिति में क्या किया जाता था? उदाहरण के लिए, अक्षर-समूह 'म-न-ह' का अर्थ एकसाथ 'मोम', 'पेपीरस का पौधा' और 'जवानी' होता था। इस स्थिति का अक्सर ही सामना करना पड़ता था। ऐसे समय सही अर्थ को निर्धारित करनेवाले अतिरिक्त चित्र-संकेत की जरूरत थी। इसी आवश्यकता को लेकर मिस्री-लिपि में बहुत सारे 'निर्धारक-चिह्न' अस्तित्व में आए। उपर्युक्त उदाहरण में 'म-न-ह' संकेतों के अन्त में 'पौधे' को दरशानेवाले निर्धारक-चित्र को जोड़ देने से स्पष्ट हो जाता है कि यहां 'पेपीरस के पौधे' से ही मतलब है। नीचे कुछ बहुप्रचलित निर्धारक-संकेतों को दिया जाता है:

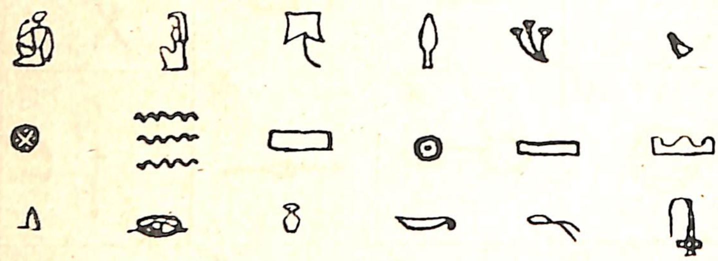

हाइरोग्लिफिक लिपि के निर्धारक-संकेत (क्रमशः)

पुरुष	**स्त्री**	**स्थनपायी-पशु**	**वृक्ष**	**पौधे**	**देश**
नगर	**जल**	**मकान**	**प्रकाश, काल**	**प्रस्तर**	**मरुभूमि, देश**
गमन	**चक्षु, देखना**	**पात्र, तरल**	**काटना**	**बांधना**	**अग्नि**

ऊपर हम कह चुके हैं कि यदि मिस्र के लेखक या लिपिक पुरातन के अधिक मोह में न पड़ते तो एक स्वर-व्यंजन-युक्त वर्णमाला को जन्म दे सकते थे। वस्तुतः यूनानी-रोमन काल में कुछ चित्र—गृध्र, नरकुल, अग्रबाहु तथा वर्तक (बटेर) के चित्र—स्वरों के लिए उपयोग में लाये जाने लगे थे। इन स्वर-संकेतों को हमने 'टॉलमी' तथा 'क्लियोपेत्रा' के वलयों में देखा है। इन्हें देखकर ही पहले-पहल मिस्री-लिपि के अन्वेषकों का विश्वास हो गया था कि मिस्री लिपि में स्वरों का समावेश एक सामान्य बात है। अन्त में, १८५७ में ब्रुग्श ने यह सप्रमाण सिद्ध किया कि, मिस्री लिपि का ढांचा केवल व्यंजनात्मक ही है। और, ठीक यही कारण है कि मिस्री भाषा को पढ़ पाना लगभग असंभव कार्य है। उदाहरण के लिए, यद्यपि हम जानते हैं कि 'न-फ-र' का अर्थ 'अच्छा' है, परन्तु हम नहीं ही जानते कि मिस्री भाषा में इस शब्द का सही उच्चारण क्या था। इस उच्चारण के बारे में कुछ अटकलें ही लगायी जा सकती हैं। इसमें कुछ सहायता कॉप्टिक भाषा से मिलती है, क्योंकि कॉप्टिक में स्वर नियमित रूप से लिखे जाते थे। परन्तु कॉप्टिक प्राचीन मिस्री-भाषा का बहुत ही बाद का विकसित रूप है, इसलिए यह भाषा भी हमें प्राचीन मिस्र का सही उच्चारण नहीं बता सकती। जैसे, कॉप्टिक से यह तो पता चलता है कि 'ह-त-प' का उच्चारण 'होतेप' है; परन्तु उपर्युक्त 'न-फ-र' विशेषण को हम कॉप्टिक में 'नाफ्रे',

'नोफ्रा', 'नोफ्रे' और नौफ्री' रूपों में लिखा हुआ पाते हैं। अब इनमें से किस एक को प्राचीन मिस्री का 'अच्छा' माने ?

बेबीलोनी कीलाक्षर लिपि में, भाषा सेमेटिक परिवार की होने पर भी, उच्चारणों को पूर्ण रूप से व्यक्त किया गया है। इसमें यदा-कदा मिस्री शब्दों के उल्लेख मिलते हैं। यूनानी और असीरी भाषाओं में भी कुछ मिस्री शब्द मिलते हैं, परन्तु इनकी संख्या अधिक नहीं है और, ये अधिकतर व्यक्तियों के नाम ही हैं। इसलिए प्राचीन मिस्री भाषा के मूल स्वरों को निर्धारित करना एक बड़ी समस्या है। यही कारण है कि मिस्री भाषा को आजकल की लिपियों में लिखना हो तो केवल व्यंजनों को ही लिखा जाता है।

लेखन-सामग्री

मिस्र के प्राचीनतम हाइरोग्लिफिक लेख प्रस्तर, काष्ठ आदि ठोस वस्तुओं पर लिखे मिलते हैं। परन्तु एक विकसित सभ्यता का काम इन ठोस तथा भारी वस्तुओं से अधिक दिनों तक नहीं चल सकता था। इसी आवश्यकता को लेकर मिस्र में पेपीरस (कागज) का आविष्कार हुआ। प्राचीन काल में नील नदी के मुहाने के दलदलों में बरू (नरकुल) की जाति के एक पौधे की बहुतायत में उपज होती थी। यह पौधा दो से तीन मीटर ऊंचा होता था। पहले इसके डंठल के ५ से १० इंच तक के टुकड़े काट लिये जाते; तदनंतर इसकी छाल से चिंदियां निकाली जातीं। फिर, इन चिंदियों को साथ-साथ बिछाकर इनकी एक परत के ऊपर दूसरी आड़ी परत बिछायी जाती। फिर, इस चटाई-नुमा चीज को भिगोकर इसे दबाकर रख दिया जाता। चूंकि इन चिंदियों में एक प्रकार का स्वाभाविक गोंद होता था, इसलिए ये एक-दूसरे से चिपक जाती थीं। तदनन्तर, इस चटाईनुमा चीज को शंख या किसी चिकने पत्थर से खूब घोटा जाता; और इस प्रकार, पेपीरस का एक पत्र तैयार हो जाता। इस प्रकार के कई पत्रों को एक-दूसरे के साथ जोड़कर और चिपकाकर खरड़ (दीर्घपट्ट) तैयार किये जाते और इन्हीं पर विभिन्न रंगों की स्याही से नरकुल की ही कलम से लिखा जाता था।

मिस्र में पेपीरस कागज प्रथम राजवंश के समय (लगभग ३२०० ई.पू.) में ही बनने लग गया था। प्रथम राजवंश के एक राजा उदिमू के काल के दो पेपीरस खरड़े सक्कारा की खुदाई में मिले हैं। ये पेपीरस एक वृत्ताकार काष्ठ-पेटी में मिले हैं, पर कुछ लिखा हुआ नहीं है। निस्संदेह, लिखने के लिए ही इन्हें बनाया गया था।

प्राचीन मिस्र का अधिकांश हिराटिक साहित्य पेपीरस पर ही लिखा गया था। पेपीरस पर जल्दी-जल्दी लिखने के कारण ही हिराटिक लिपि अस्तित्व में आयी थी। ये पेपीरस पुस्तकें कब्रों में मृतकों के शवों के साथ रख दी जाती थीं, इसलिए अधिकांश पेपीरस पुस्तकें कब्रों से ही प्राप्त हुई हैं। पेपीरस के दीर्घपट्टों की चौड़ाई ३ से १८ इंच तक होती थी और लम्बाई लिखी जाने वाली सामग्री पर निर्भर करती थी। मिस्र की शुष्क जलवायु के कारण ही ये पेपीरस पुस्तकें इतने दिनों तक कायम रह पायी हैं।

पेपीरस ने, न केवल प्राचीन मिस्र के साहित्य की, बल्कि ईसाई तथा यूनानी साहित्य की भी सेवा की है। ५वीं शताब्दी ई.पू. में यूनानी लोग मिस्र से पेपीरस का आयात करने लग गये थे। यूनानी लोग पेपीरस को 'बाइब्लोस' और पेपीरस के एक पत्र को 'बिब्लिओन' कहते थे। कालान्तर में पेपीरस पुस्तक के लिए 'बिब्लिओन' शब्द का प्रयोग होने लगा। रोमन लोगों ने भी पेपीरस का बहुतायत में उपयोग किया है।

ईसा की पहली शताब्दी में चीन में कागज बनने लग गया था। ७०४ ई. में समरकंद पर विजय प्राप्त करके अरबों ने चीनवालों से रुई और चीथड़ों से कागज़ बनाना सीखा। फिर दमिश्क में भी कागज बनने लगा। ९वीं शताब्दी में अरबी पुस्तकें कागज़ पर लिखी जाने लगी थीं। ८०० ई. के आसपास अलेक्ज़ेंड्रिया वालों को चीन के कागज का ज्ञान था। बारहवीं शताब्दी में अरबों द्वारा पहली बार यूरोप में नये कागज़ का प्रवेश हुआ। इस प्रकार, हम देखते हैं कि, जहां आधुनिक कागज़ को मानव-मस्तिष्क की सेवा करते हुए अभी लगभग एक हजार वर्ष ही हो रहे हैं, वहां प्राचीन मिस्र के पेपीरस ने लगभग चार हजार वर्षों तक तीन महान संस्कृतियों की सेवा की है। पेपीरस का पौधा आज मिस्र में कहीं भी नहीं मिलता (यह आज सुदान में पाया जाता है), परन्तु आधुनिक कागज़ के लिए यूरोप की भाषाओं में प्रयुक्त 'पेपर' शब्द 'पेपीरस' से ही व्युत्पन्न है।

स्पष्ट है कि मिस्री लेखन-कला पर अधिकार प्राप्त करना आसान काम नहीं था। बहुत थोड़े लोग ही लिखना-पढ़ना जानते थे; किन्तु जो जानते थे उनका समाज में बहुत ऊंचा स्थान था। पढ़ने-लिखने वालों का कोई वर्ग-विशेष तो नहीं था, परन्तु ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम थी। असल में, कोई भी इस पेशे को अपना सकता था। पढ़ने-लिखने के लिए मंदिरों के साथ पाठशालाएं होती थीं, जहां कोई भी अपनी इच्छा से प्रवेश पा सकता था। प्राचीन मिस्र का एक पिता अपने पुत्र को सलाह देता है :

"यदि तुम दिल लगाकर पढ़ाई-लिखाई करोगे तो किसी भी प्रकार के सख्त काम से बच सकते हो और सरकारी अफ़सर बनकर नाम कमा सकते हो। जो लिखना जानता है, उसे मेहनत का काम नहीं करना पड़ता, बल्कि वही हुक्म देता है . . ."

३

कीलाक्षर लिपियां

कीलाक्षर लिपि का जन्म ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दी में प्राचीन मेसोपोटामिया में होता है। इसके जन्मदाता थे सुमेरी लोग, जो उस समय फारस की खाड़ी के ऊपर दजला-फरात नदियों के बीच के प्रदेश में रहते थे। वस्तुतः उस समय यह लिपि 'कीलाक्षर' स्वरूप की नहीं थी; यह चित्रात्मक थी। बाद में इस लिपि को मिट्टी के खपड़ों पर नुकीली कलम से उकेरा जाने लगा तो इसके संकेत त्रिकोण या कील या खूंटी के आकार के दिखाई देने लगे। इसीलिए आधुनिक पुराविदों ने इस लिपि को 'कीलाक्षर' (क्यूनेफॉर्म) लिपि का नाम दिया है।

सुमेरी लोगों की भाषा न तो सेमेटिक परिवार की थी और न भारत-यूरोपीय परिवार की। यह एक योगात्मक भाषा थी। ३००० ई. पू. के आसपास सुमेरी लिपि को अक्कदियों ने अपनी सेमेटिक भाषा के लिए अपना लिया। अक्कदियों के प्रभाव से यह लिपि, न केवल सारे मेसोपोटामिया, बल्कि सारे पश्चिम-एशिया में फैल गयी। इस कीलाक्षर लिपि को अनातोली, कनानिती, हिब्रू और हित्ती लोगों ने तो अपनाया ही, पूर्व की ओर भी एलाम और अन्त में ईरान में इसे अपनाया गया। काल और प्रदेश के विस्तार के साथ-साथ इस लिपि में परिवर्तन होते जाना स्वाभाविक था। इसके भावचित्रों की संख्या धीरे-धीरे कम होती गयी। चित्रात्मक स्वरूप से आरंभ हुई यह लिपि भाव-चित्रात्मक, ध्वन्यात्मक और अक्षरात्मक स्वरूपों को पार करती हुई लगभग एक 'वर्ण-माला' के रूप पर पहुंच गयी थी। असीरी (जिनकी भाषा अक्कदी की एक बोली थी) शासन के समय इसमें लगभग ६०० संकेत थे, जिसमें भावचित्र अधिक संख्या में थे। सुमेर के पूर्व में एलाम-प्रदेश में पहुंचने पर इस लिपि में लगभग १२० चिह्न रह गये थे। किन्तु सबसे अन्त में, ईसापूर्व सातवीं-छठी शताब्दी में, ईरान के हख़ामनी साम्राज्य ने जब इन कीलाक्षरों से एक अर्ध-वर्णमालात्मक लिपि को जन्म दिया, तो इसमें केवल ४१ संकेत ही रह गए थे।

कीलाक्षर लिपि के अन्वेषण की कथा कुछ उल्टी है। इसका अन्वेषण शुरू से—सुमेरी लिपि से—न होकर हख़ामनी साम्राज्य की कीलाक्षर लिपि से आरंभ हुआ। अन्वेषण के इस क्रम को बनाये रखते हुए हम भी सबसे पहले प्राचीन पारसी कीलाक्षरों से ही आरंभ करेंगे।

प्राचीन पारसी कीलाक्षर

ई.पू. सातवीं शताब्दी में भारत-ईरानी परिवार की जो आर्य जातियां ईरान में बसती थीं, उनमें मेदेस (मद) और पारसी (पर्श) प्रमुख थीं। मेदेस ईरानी पठार के उत्तर-पश्चिमी भाग में बसे थे और पारसी इनके दक्षिण में। शताब्दियों तक इन ईरानी

आर्यों (वस्तुतः 'ईरान' और 'आर्य' एक ही मूल शब्द के दो रूप हैं) को असीरी शासन के दब-दबे में रहना पड़ा था। अन्त में, सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में असीरी साम्राज्य कमजोर पड़ गया, तो मेदेसी आर्यों ने असीरिया का तख्ता उलट दिया; उनकी राजधानी निनुआ को ६१२ ई. पू. में खूब लूटा। किन्तु मेदेसी भी, जिनकी राजधानी हगमतन (यूनानियों का 'एकबतान' और आधुनिक 'हमादान') में थी, अपनी धाक अधिक समय तक कायम नहीं रख पाए।

दूसरी ओर, लगभग ७०० ई.पू. में पारसी आर्य दक्षिणी ईरान में हख़ामनी राज्य की नींव डाल चुके थे। उनके प्रथम शासक का नाम हख़ामनिश था, इसीलिए वे अपने राज्य को हख़ामनी राज्य कहते थे। हख़ामनिश के पुत्र चिशपिश या तिएस्प (६७५-६४० ई.पू.) ने अपने राज्य के दो हिस्से करके अपने दो बेटों में बांट दिया। अरिजारम्न (६४०-५६० ई.पू.) को पूर्व का प्रदेश मिला और कुरश प्रथम (६४०-६०० ई.पू.) को पश्चिम ईरान का। पारसी कीलाक्षर लिपि के इतिहास की दृष्टि से अरिजारम्न या अरियमेनस् के संबंध में यहां एक बात का उल्लेख जरूरी है। हमादान से एक स्वर्ण-फलक मिला है, जिस पर प्राचीन पारसी भाषा और कीलाक्षर लिपि में एक लेख अंकित है। इसमें अरिजारम्न अपनी उपाधि––"महान राजा, राजाओं का राजा, पार्श देश का राजा"–– देकर, आगे कहता है, "पारसियों की यह भूमि, जो मेरे अधिकार में है, मुझे अहुरमज्दा से मिली है। इसमें उत्तम घोड़े और सभ्य आदमी बसते हैं।" यह स्वर्ण-फलक प्राप्त हख़ामनी पुरावशेषों में सबसे प्राचीन वस्तु तो है ही, इस पर अंकित लेख भी प्राचीन पारसी कीलाक्षर लिपि का प्राचीनतम उपलब्ध लेख है।

कुरश-प्रथम और उसके पुत्र कम्बुशिय ने मेदेस राज्य की अधीनता स्वीकार की थी। किन्तु कम्बुशिय के पुत्र कुरश-द्वितीय 'महान' (५५९–५३० ई.पू.) ने, न केवल मेदेस का तख्ता उलट दिया, बल्कि लीदिया और बेबीलोनिया को भी पराजित किया और एक विशाल साम्राज्य की नींव डाली। कुरश महान के ज्येष्ठ पुत्र और उत्तराधिकारी कम्बुशिय-द्वितीय (५३०-५२२ ई.पू.) ने मिस्र पर चढ़ाई करने के पहले अपने भाई बारदिय की गुप्त रूप से हत्या करवा दी थी। इस हत्या की बात को लोगों से गुप्त रखा गया था, और जनता समझती रही कि बारदिय जिंदा ही है। कम्बुशिय जब मिस्र पर चढ़ाई करने चला गया, तो इधर पुरोहित-वर्ग का गौमत नाम का एक व्यक्ति जनता के सामने अपने को ही बारदिय बताकर गद्दी पर बैठ गया। कम्बुशिय को जब इस षडयंत्र का समाचार मिला तो वह मिस्र से तुरंत वापस लौटा, किन्तु रास्ते में ही सीरिया में ५२२ ई.पू. में उसकी मृत्यु हो गयी।

राजपरिवारों के कुछ लोग बारदिय की बदमाशी को जानते थे। बारदिय का वध करने के लिए सात राजकुमार संघटित हो गये। इनमें विश्तास्प का पुत्र दारयवुश (दारा या डेरियस) भी एक था। दारयवुश ने ही अपने हाथों से उसी के महल में बारदिय की हत्या की और वह ईरान का राजा (५२२-४८६ ई.पू.) बन गया। इसी समय राज्य में जहां-तहां झूठे राजे उठ खड़े हुए। इन्हें दबाने के लिए दारयवुश को कुल मिलाकर १९ युद्ध लड़ने पड़े। अब उसका साम्राज्य सिन्धु नद के पश्चिम-प्रदेश से लेकर भूमध्य-सागर तक फैला हुआ था। उसके इस साम्राज्य में २४ प्रान्त थे, जिसमें गंधार भी एक था।

अपनी विजयों के वृत्तान्त को भविष्य के लिए बनाये रखने की दृष्टि से दारयवुश ने बेहिस्तुन की चट्टान पर उस समय की तीन प्रमुख भाषाओं––प्राचीन पारसी, एलामी

और अक्कदी (बेबीलोनी)—— में और कीलाक्षरों में एक लंबा अभिलेख खुदवाया। इस 'बेहिस्तुन अभिलेख' की चर्चा हम आगे करेंगे। दारयवुश ने कुर और पोल्वर नदियों के संगम-स्थल के पास एक भव्य प्रासाद का निर्माण कार्य भी आरंभ कर दिया था। इसी प्रासाद से तीन मील की दूरी पर प्रसिद्ध पेर्सिपोलिस नगरी थी। दारयवुश-तृतीय के शासन-काल में, ३३४ ई.पू. में सिकंदर ने इस पेर्सिपोलिस नगर को जलाकर राख कर दिया था। सिकंदर की इस विजय के बाद हख़ामनी राज्य भी सदा के लिए समाप्त हो गया। आज शेष रह गये हैं तो केवल उनके कुछ ध्वस्त स्मारक। इन्हीं स्मारकों पर उत्कीर्ण कीलाक्षरों के कारण संपूर्ण कीलाक्षर लिपियों का अन्वेषण संभव हुआ है। सिक्कों पर राजा के धड़ को अंकित करने की प्रथा हख़ामनी शासन की ही देन है। डाक-व्यवस्था की शुरूआत करने वाले रोमन नहीं, बल्कि ये हख़ामनी शासक ही थे। हख़ामनी साम्राज्य संसार का पहला सबसे बड़ा साम्राज्य होने के कारण शासन-संचालन के लिए उन्होंने ही पहले-पहल डाक लाने-ले जाने के लिए घुड़सवारों को नियुक्त किया था।

ईसा पूर्व पहली सहस्राब्दी के आरंभ से ही आरमेई (आरमाइक) भाषा सारे पश्चिम-एशिया की एक प्रकार से सम्पर्क भाषा बन गयी थी। असीरी शासन काल में भी यह भाषा संपूर्ण पश्चिम-एशिया में व्यापार की भाषा के रूप में स्थिर हो चुकी थी। इनकी लिपि भी सारे पश्चिम-एशिया में फैल गयी थी। हख़ामनी शासन-काल में इस आरमेई भाषा और लिपि का और भी अधिक प्रचार हुआ और यह सिन्धु-प्रदेश से लेकर मिस्र तक बोली और पढ़ी जाती थी। पर हख़ामनियों की अपनी एक भाषा——प्राचीन पारसी ——थी, और इसके लिए उन्होंने कीलाक्षरों के आधार पर एक अक्षरात्मक लिपि भी बना ली थी। इसके अलावा, एलाम प्रदेश की भाषा भी कीलाक्षरों में ही लिखी जाती थी और बेबीलोनी की लिपि तो कीलाक्षरों वाली थी ही। सुसा (एलाम) और बेबीलोन नगर भी हख़ामनी साम्राज्य की राजधानियां थे। प्राचीन पारसी भाषा के जो अभिलेख स्मारकों पर अंकित पाये गये हैं, वे अधिकतर कीलाक्षर लिपि में थे। पर दैनन्दिन व्यवहार की दृष्टि से पारसी भाषा के लिए सेमेटिक उत्पत्ति की आरमेई लिपि ही अपनाई गयी। इसी आरमेई लिपि से कालान्तर में पहलवी लिपि का विकास हुआ था।

लिपि अन्वेषण का आरंभ

पारसी कीलाक्षरों का विधिवत अध्ययन करनेवाला और इनकी नकल उतारनेवाला पहला पुराविद था कार्सटेन निएबुर (१७३३-१८१५ ई.)। १७६१ में डेनिश शासक फ्रेडरिक-पंचम ने पूर्व के देशों के अध्ययन के लिए वैज्ञानिकों का जो एक अभियान-दल भेजा था, निएबुर उसका एक सदस्य था। यह अभियान-दल, जिसमें पांच सदस्य थे, कोपनहेगन से चलकर कुस्तुन्तुनिया पहुंचा। इसके बाद ये लोग मिस्र गये। सीरिया, पैलेस्तीन और अरबिया होते हुए वह किसी तरह बम्बई पहुंच गया। निएबुर अकेला ही बम्बई पहुंचा था। उसके शेष साथी रास्ते में ही मर गए थे। निएबुर पुनः स्थल-मार्ग से ईरान आया और मार्च १७६५ के प्रथम सप्ताह में 'तख्ते-जमशेद' पहुंचा। यहां उसने प्राचीन कीलाक्षर अभिलेखों की अनुकृतियां तैयार कीं। निएबुर ने इन लेखों में से ४२ संकेतों को अलग करके इन्हें अक्षरात्मक नाम भी दिये थे, किन्तु इनमें केवल ६ संकेतों के मान ही सही थे। बाद में यूरोप पहुंच कर निएबुर ने एक ग्रन्थ लिखा——"अरबिया और पड़ोसी देशों का यात्रा-विवरण" (१७७४-७८ ई.)। यह सही है कि निएबुर के इस

आरंभिक प्रयास में कुछ गलतियां अवश्य थीं, किन्तु उसी के प्रयास से यूरोप के पुराविदों को पहले-पहल पारसी कीलाक्षर-लिपि के लेखों की प्रतिलिपियां उपलब्ध हो सकीं।

इसी समय यूरोप में प्राचीन आर्यभाषाओं––'जेन्दवेस्ता' की भाषा और संस्कृत––का अध्ययन जोरशोर से आरंभ हुआ। जेन्द की भाषा के अध्ययन के लिए भारत पहुंचनेवाला पहला फ्रेंच व्यक्ति था, दु पेराँ (१७३१–१८०५ ई.)। एक फ्रेंच जहाज से दु पेराँ पहले पांदेचरी पहुंचा और वहां से सूरत। सूरत में उसने पारसी दस्तूरों से न केवल पारसी भाषा सीखी, बल्कि जेन्द-अवेस्ता की प्राचीन हस्तलिपियां भी प्राप्त कीं। सात वर्ष भारत में रहकर अन्त में दु पेरॉ यूरोप लौटा। पेरिस में उसने जेन्द-अवेस्ता का अनुवाद प्रकाशित किया (१७७१ ई.)। यूरोप में पारसियों के इस धर्मग्रंथ का अनुवाद प्रकाशित हो जाने से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि वहां के पुराविदों को हख़ामनी शासकों के नामों के सही उच्चारण ज्ञात हो गये, और इन्हीं नामों को हख़ामनी अभिलेखों में टटोलते हुए कीलाक्षर-लिपि का अन्वेषण संभव हो सका। हिरोदोतस के इतिहास-ग्रन्थ में भी ईरान के इन प्राचीन शासकों के नाम मिलते हैं, किन्तु उसमें ये काफी विकृत रूप में हैं।

निएबुर की प्रतिलिपियां उपलब्ध हो जाने पर यूरोप के अनेक पुराविद कीलाक्षर लिपि के अन्वेषण में जुट गये। इनमें पहला गंभीर प्रयास था ओलउस गेरहार्ड टाइख़सेन (१७३४-१८१५ ई.) का। उसने एशिया की अनेक भाषाओं का अध्ययन किया था और मिस्र की हाइरोग्लिफिक लिपि पर भी कुछ अनुसंधान-कार्य किया था। टाइख़सेन ने निएबुर का अनुकरण करते हुए इन अभिलेखों के संकेतों को ध्वन्यात्मक मान देने की कोशिश की। साथ ही, उसने यह भी जाना कि इन तीन लिपि-प्रकारों में तीन भिन्न भाषाएं लिपिबद्ध हैं। उसने इनमें एक ऐसे संकेत को भी पहचाना, जो शब्दों के आरंभ और अन्त में बार-बार आता है। बाद में इसी संकेत को 'शब्द-विभाजक' का नाम दिया गया। परन्तु टाइख़सेन का यह विचार सही नहीं था कि इन तीन लेखों की तीन भाषाएं पार्थियन, मेदियन और बाख्त्रियन हैं।

टाइखसेन के समय में ही एक अन्य विद्वान (डेनिश) फ्रेडरिख़ क्रिश्चियन कार्ल हेनरिख़ मुन्टेर (१७६१-१८३० ई.) कीलाक्षर लिपि का अध्ययन कर रहा था। मुन्टेर इस परिणाम पर पहुंचा कि ये कीलाक्षर अभिलेख पार्थियन-काल के न होकर हखामनी काल के हैं और इनकी एक भाषा अवेस्ता की भाषा या पहलवी से मिलती-जुलती है। परन्तु मुन्टेर भी सही-सही नहीं जान पाया कि ये तीनों भाषाएं ठीक कौन-कौनसी हैं। मुन्टेर द्वारा यह प्रतिपादित किये जाने के बाद कि ये अभिलेख हख़ामनी काल के हैं, इनमें हख़ामनी शासकों के नामों की खोज आरंभ हुई। मुन्टेर ने कीलाक्षर संकेतों का सांख्यिकीय विश्लेषण करके इनमें सबसे अधिक प्रयुक्त होनेवाले संकेतों में स्वर-संकेतों को खोजने की कोशिश की। मुन्टेर ने 'शब्द-विभाजक' संकेत को तो पहचाना था; साथ ही, उसका ध्यान सात संकेतों के एक ऐसे समूह पर भी गया, जिसे उसने ठीक ही 'राजा' का द्योतक माना था। मुन्टेर सही रास्ते पर आगे बढ़ रहा था, किन्तु अन्वेषण की अनेक बाधाओं के कारण आगे उसने अपना अध्ययन रोक दिया।

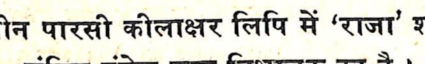

प्राचीन पारसी कीलाक्षर लिपि में 'राजा' शब्द।
अंतिम संकेत शब्द-विभाजक का है।

कीलाक्षर लिपि के अन्वेषण के अब तक जो प्रयास हुए थे, उनमें इस लिपि को पढ़ने में किसी को भी सफलता नहीं मिली थी। अभी इन संकेतों के ध्वन्यात्मक मान भी प्राप्त करने बाकी थे। अभी तो यह भी ज्ञात नहीं हो पाया था कि अन्वेषण की कौन-सी दिशा सही है। सही मार्ग अपनाकर अन्वेषण में आंशिक सफलता प्राप्त करने का श्रेय है ग्रोटेफेन्ड को। ग्रोटेफेन्ड का जन्म ६ जून १७७५ में जर्मनी के मुन्डेन नगर में हुआ था। उसने गॉटिंगेन-विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया था और १७९९ ई० में उसने "विश्व-लिपि" पर एक पुस्तक भी लिखी थी। उसने निएबुर और सिल्वेस्तर द सासी के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। द सासी ने 'नक्श-इ-रुस्तम' से प्राप्त पहलवी अभिलेखों को प्रकाशित किया था।

निएबुर द्वारा दारयवुश के महल के भग्नावशेषों से प्राप्त अभिलेखों में से दो को चुनकर ग्रोटेफेन्ड ने अपना अध्ययन आरंभ किया। उसने देखा कि इन दो अभिलेखों के

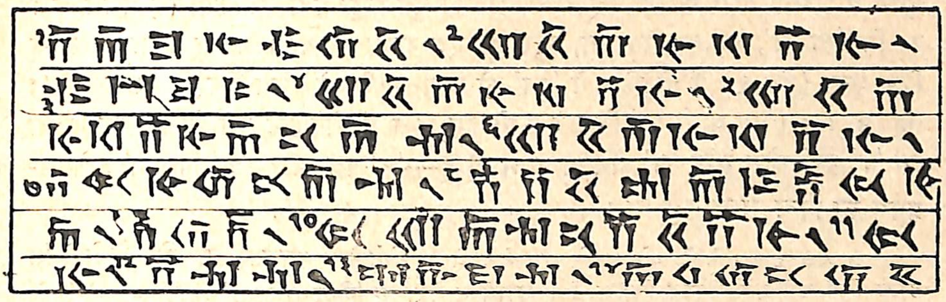

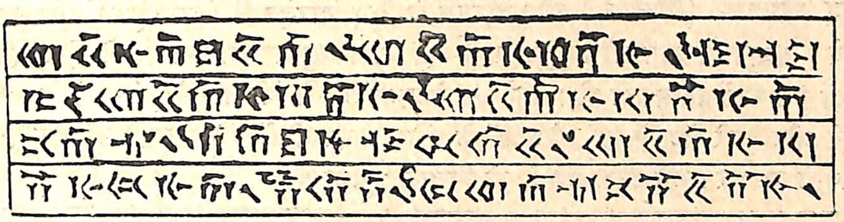

निएबुर द्वारा पेर्सिपोलिस से प्राप्त दो अभिलेख। ऊपर का लेख दारयवुश-प्रथम का है और नीचे का उसके पुत्र क्षयार्श का।

शब्द-संकेतों में अनेक प्रकार की समानताएँ हैं। शुरू में ही उसने खोज लिया कि मुन्टेर का सात संकेतों वाला शब्द ('राजा') ऊपर के लेख में नं० २, ४ और ६ में आया है और नीचे के लेख में नं० २, ४ और ७ के स्थानों में। इनके अलावा, इन दोनों लेखों के नं० ५ के स्थानों में यही शब्द कुछ अतिरिक्त संकेतों के साथ प्रकट हुआ है। ग्रोटेफेन्ड को लगा कि ये अतिरिक्त शब्द-संकेत संबंध-कारक के बहुवचन ('राजाओं का') के द्योतक होने चाहिए। सूक्ष्मता से अवलोकन करने पर उसे यह भी पता चला कि ऊपर के लेख के न० १ के शब्द-संकेत नीचे के लेख में नं० ६ के स्थान पर आये हैं--बीच में एक अतिरिक्त संकेत के साथ। उसने अंदाजा लगाया कि ऊपर के लेख में यह शब्द आरंभ में आया है, इसलिए यह किसी राजा का नाम होना चाहिए।

नीचे के लेख में यह 'राजाओं का राजा' शब्द के बाद आया है और इसमें एक अतिरिक्त संकेत है। इस विश्लेषण से ग्रोटेफेन्ड इस परिणाम पर पहुंचा कि इस शब्द का यह अतिरिक्त

संकेत संबंध-कारक के 'का' प्रत्यय का द्योतक होना चाहिए। अपनी इन परिकल्पनाओं के आधार पर नीचे के छोटे लेख के लिए उसने निम्न-लिखित एक ढांचा तैयार कर लिया :

"१'क' २राजा ३महान ४राजा ५राजाओं का ६'ख' का७ राजा का ८पुत्र ९हख़ामनी।"

यह एक महान प्रयास था, पर अभी ठोस कुछ भी हाथ नहीं लगा था। 'क' और 'ख' नामों की पहचान होने पर ही आगे बढ़ा जा सकता था। इन नामों की खोज के लिए ग्रोटेफेन्ड हिरोदोतस के इतिहास-ग्रन्थ के पन्ने पलटने लगा। हिरोदोतस ने अपने इतिहास-ग्रन्थ की सातवीं पुस्तक में हख़ामनी राजाओं की पिता-पुत्र परम्परा की एक सूची दी है : "....डेरियस, हिस्तास्पेस का पुत्र, एरिसामेस का पुत्र, एरियरम्नेस का पुत्र, तिएस्पेस का पुत्र, सायरस का पुत्र, कम्बिसेस का पुत्र, अखएमेनेस का पुत्र, ...।"

हिरोदोतस की इस सूची से ग्रोटेफेन्ड को अब 'क' और 'ख' के लिए उचित नाम चुनने थे। उसने देखा कि 'क' को राजा 'ख' का पुत्र कहा गया है; इसलिए प्रथम लेख का निर्माता 'ख', 'क' का पिता था, और खुद एक राजा भी था। परन्तु प्रथम लेख के जिस शब्द (नं० ६) में ग्रोटेफेन्ड ने 'पुत्र' की कल्पना की थी, उसके पहले 'राजा' शब्द नहीं था। इन सब बातों पर विचार करते हुए अन्त में ग्रोटेफेन्ट इस निर्णय पर पहुंचा कि 'क' क्सेरेक्सेस और 'ख' डेरियस-प्रथम ही है—'क' पुत्र और 'ख' पिता। डेरियस-प्रथम का पिता राजा नहीं था।

अब इन संकेतों को ध्वनिमान देने थे। ग्रोटेफेन्ड जानता था कि हिरोदोतस द्वारा दिये गये इनके नाम विकृत हैं। उसने दु पेराँ के 'जेन्द-अवेस्ता' से 'हिस्तास्पेस' के लिए 'गोश्तास्प' (विश्तास्प) और डेरियस के लिए 'दारहेउश' (दारयवुश) नाम प्राप्त किये। वस्तुतः ये नाम भी बिल्कुल सही नहीं थे, किन्तु आरंभिक प्रयास के लिए इनसे गाड़ी कुछ आगे बढ़ सकती थी। ग्रोटेफेन्ड ने प्रथम लेख से 'गोश्तास्प' (नं० ८) के संकेत लिये और दूसरे लेख से 'क' और 'ख' के संकेत। इन तीनों संकेत-समूहों को एक-दूसरे के नीचे रखकर उसने इनके संकेतों को मिलाया; यथा :

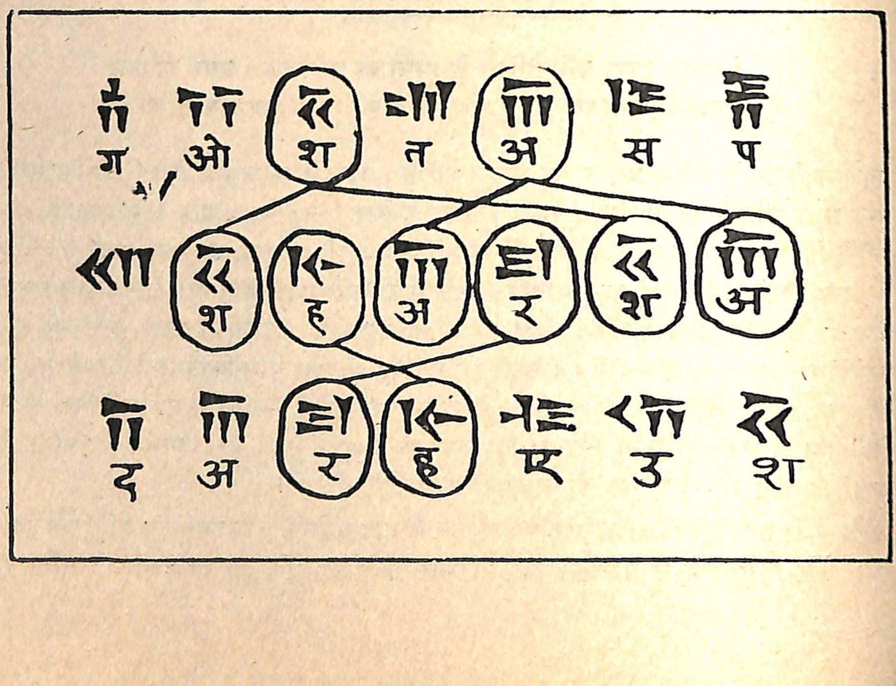

इस तुलनात्मक परीक्षण से ग्रोटेफेन्ड ने प्राचीन पारसी कीलाक्षरों में से १३ संकेतों के ध्वनि मान प्राप्त किये। इनमें से ९ मान तो बिल्कुल सही थे, किन्तु ४ में वह गलती कर बैठा था। यह भी इसलिए कि उस समय उसे हख़ामनी राजाओं के नामों के सही-सही उच्चारण ज्ञात नहीं थे। फिर भी, यह एक महान सफलता थी। यह १८०२ ई० की बात है। बाद में ग्रोटेफेन्ड ने 'कुरुश' के संकेतों के ध्वनिमान खोजकर तीन और संकेतों के ध्वनिमानों की खोज की। परन्तु वह अपने इस अन्वेषण में इससे अधिक आगे नहीं बढ़ पाया। वस्तुतः प्राचीन पारसी भाषा और अभिलेखों के बारे में और भी बहुत-सी सामग्री प्राप्त होनी बाकी थी। और फिर, ग्रोटेफेन्ड को तत्कालीन पुराविदों से उचित प्रोत्साहन भी नहीं मिला। गॉटिंगेन-विश्वविद्यालय के मुखपत्र ने उसके आगे के निबंधों को प्रकाशित करने योग्य भी नहीं समझा! इन्हीं सब कारणों से ग्रोटेफेन्ड आगे नहीं बढ़ा और उसने आगे के सारे प्रयास त्याग दिये। फिर भी, कीलाक्षर लिपि के अन्वेषण के इतिहास में उसका नाम सदैव ही गौरव के साथ लिया जायेगा।

१८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से यूरोप के विद्वान संस्कृत भाषा का महत्व समझ कर इसके अध्ययन में अधिकाधिक रुचि लेने लग गये थे। यूरोप में वेद और अवेस्ता की भाषाओं का अध्ययन आरंभ हो गया था। इसी अध्ययन का परिणाम है कि यूरोप में 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' ने जन्म लिया। जेन्द की भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाला पहला व्यक्ति था, डेनिश विद्वान रस्मुस क्रिश्चियन रास्क (१७८७-१८३२ ई०)। रास्क ने जेन्द के अलावा, पहलवी, संस्कृत, पाली, अरबी, हिन्दी आदि भाषाओं का भी अध्ययन किया था। जेन्द और संस्कृत के अध्ययन के लिए वह भारत भी आया था और १८२० से १८२२ तक यहां रहा। बम्बई और उसके आसपास रहकर उसने पारसियों की मदद से अवेस्ता की भाषा का गहन अध्ययन किया था।

ग्रोटेफेन्ड के अनुसंधानों का अध्ययन करके रास्क इस परिणाम पर पहुंचा कि इन अभिलेखों की भाषा और अवेस्ता की भाषा में काफी समानता है। लेकिन उसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि इन दोनों भाषाओं को एक ही मानना उचित नहीं होगा। उसने सम्बंध कारक के बहुवचन के अन्त-प्रत्यय 'अनाम' की भी खोज की; यथा:

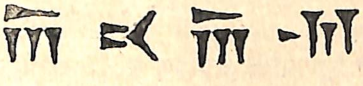

अ न अ म

इससे पारसी कीलाक्षर लिपि के ज्ञात संकेतों की सूची में 'न' और 'म' के दो और संकेत सम्मिलित हो गये।

हम बतला चुके हैं कि यूरोप में सबसे पहले दु-पेराँ ने जेन्द-अवेस्ता का अनुवाद प्रस्तुत किया था। परन्तु उसके इस प्रथम प्रयास में अनेक त्रुटियां थीं। अवेस्ता का एक सुंदर संस्करण प्रस्तुत करने का श्रेय है, प्रसिद्ध विद्वान बर्नौफ़ (१८०१-५२) को। बर्नौफ 'कालेज द फ्रांस' में संस्कृत का प्राध्यापक था। उसे जब पता लगा कि 'यस्न' ('अवेस्ता' का एक भाग) का भारत के एक पारसी विद्वान द्वारा संस्कृत में किया हुआ अनुवाद उपलब्ध है, तो उसे प्राप्त करके, उसके आधार पर उसने 'यस्न' का एक समीक्षात्मक अध्ययन १८३४ में पेरिस से प्रकाशित किया। उसने कीलाक्षर लिपि के कुछ नये अभिलेख भी

उपलब्ध कराये। जेन्द भाषा का अच्छा ज्ञान होने से बर्नौफ कीलाक्षर लिपि के अन्वेषण की ओर आगे बढ़ सकता था। निएबुर द्वारा प्राप्त एक अभिलेख में बहुत-से नाम एक साथ आये हुए जान पड़ते थे। बर्नोफ़ ने इनकी खोज आरंभ की। वस्तुतः इस लेख में दारयवुश के समय के हख़ामनी साम्राज्य के २४ प्रान्तों के नाम दिये हुए थे। बर्नौफ़ ने इनमें से १६ नामों को खोजा, जिनमें से आधे सही थे। इतना सब करने पर भी उसे कीलाक्षर लिपि के अधिक संकेतों के ध्वनिमान खोज निकालने में सफलता नहीं मिली। उसे केवल 'क' और 'ज' के संकेत खोजने का ही श्रेय प्राप्त है।

बर्नौफ़ का मित्र क्रिश्चियन लास्सेन (१८००-७६) भी संस्कृत तथा भारतीय भाषाओं का पंडित था। लास्सेन अच्छी तरह जानता था कि इन लेखों में राजाओं या प्रान्तों के नाम खोजने के लिए हिरोदोतस से बढ़कर कोई बढ़िया मार्गदर्शक नहीं है। हिरोदोतस के इतिहास-ग्रन्थ की चौथी पुस्तक में उल्लेख मिलता है :

"डेरियस (दारयवुश) ने बास्फोरस को देखने के बाद वहां तट पर श्वेत संगमर्मर के दो स्तम्भ खड़े करवाये। उसने इनमें से एक पर असीरी लिपि में और दूसरे पर ग्रीक लिपि में उन सभी देशों के नाम अंकित करवाये जो उसकी सेना में थे और जिन पर वह शासन करता था।"

लास्सेन को विश्वास था कि इस प्रकार का कोई लेख पेर्सिपोलिस से भी प्राप्त होना चाहिए। उसने निएबुर की प्रतिलिपियों की छानबीन की और अन्त में उसे एक ऐसा लेख मिला जिसमें २४ नाम दिए हुए थे।

इन नामों की खोज करते हुए लास्सेन ने पारसी कीलाक्षर लिपि के २३ संकेतों के शुद्ध ध्वनिमान प्राप्त कर लिये। इसमें उसके अपने खोजे हुए ८ संकेत-मान थे। लास्सेन के पहले 'अ' के अतिरिक्त संकेत को लेकर यूरोप के पुरालिपिविद बहुत परेशान थे। किन्तु लास्सेन संस्कृत-वर्णमाला से परिचित था। प्राचीन पारसी भाषा संस्कृत के निकट होने के कारण उसने तुरंत पहचान लिया कि व्यंजनों के साथ 'अ' स्वर निहित रहता है। और 'अ' का संकेत यदि स्वतंत्र रूप से आये तो उसका प्रायः मतलब होगा 'आ'। इसके बाद लास्सेन ने उस समय तक उपलब्ध सभी हख़ामनी अभिलेखों के अनुवाद प्रस्तुत किये। इन अनुवादों में त्रुटियां थीं, क्योंकि अभी लगभग आधा दर्जन संकेतों के ध्वनिमानों को खोजना बाकी था।

मिस्र की प्राचीन लिपियों के अन्वेषण में जो महत्व रोसेटा-प्रस्तर का है, वही महत्व कीलाक्षर-लिपि के अन्वेषण में "बेहिस्तुन अभिलेख" का है। हख़ामनी सम्राट दारयवुश-प्रथम के इस बेहिस्तुन-लेख को उपलब्ध कराने का श्रेय है हेनरी क्रेसविक रावलिन्सन (१८१०-९५) को। रावलिन्सन ने अपने विद्यार्थी जीवन में ही ग्रीक व लैटिन भाषाओं पर अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया था। सोलह साल की आयु में ईस्ट इंडिया कम्पनी की नौकरी स्वीकार करके उसने एक जहाज से १८२७ में भारत को प्रस्थान किया। सद्यः नियुक्त बम्बई का गवर्नर सर् जोन माल्कोम, जो पुरातत्व का प्रेमी था, इसी जहाज में यात्रा कर रहा था। इस समुद्र-यात्रा में माल्कोम के संपर्क में आकर तरुण रावलिन्सन में भी पुरातत्व और प्राचीन भाषाओं के प्रति प्रेम जागृत हुआ। बम्बई में रहकर एक साल के भीतर ही उसने फ़ारसी, अरबी और हिन्दी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। फलतः एक सैनिक टुकड़ी के साथ दुभाषिये के रूप में उसकी नियुक्ति हुई।

१८३५ में रावलिन्सन को ईरान के शाह के भाई के सैनिक-सलाहकार के रूप

में किरमनशाह भेजा गया। यहीं पर उसे पता चला कि हमादान के समीप अल्वेन्द पर्वत की ढलती चट्टान पर कीलाक्षर लेख उत्कीर्ण हैं। रावलिन्सन ने वहां जाकर इन लेखों की नकल उतारी और इनका अध्ययन आरंभ कर दिया। अबतक उसे यूरोप में हुए कीलाक्षर लिपि के अन्वेषण-कार्य की जानकारी नहीं थी। उसे सिर्फ इतनी ही जानकारी थी कि इन लेखों में हख़ामनी राजाओं के नाम खोजे गये हैं।

किरमनशाह में ही रावलिन्सन को पता चला कि केवल २२ मील की दूरी पर बेहिस्तुन चट्टान पर कीलाक्षर अभिलेख खुदे हुए हैं। 'बेहिस्तुन' या 'बिसीतुन' या 'भगीस्थान' का अर्थ होता है 'देव-भूमि'। यह बेहिस्तुन चट्टान बगदाद-हमादान के प्राचीन मार्ग पर स्थित है। ५१६ ई० पू० में दारयवुश-प्रथम ने इस चट्टान पर काफी ऊंचाई पर तीन भाषाओं--प्राचीन पारसी, एलामी (सूसी) और बेबीलोनी (अक्कदी)--में और कीलाक्षर लिपियों में एक विस्तृत लेख उत्कीर्ण करवाया था। यह अभिलेख १५०×१०० फुट जगह घेरे हुए है। नीचे पांच कॉलमों या स्तम्भों में प्राचीन पारसी में लगभग ४०० पंक्तियां हैं। इसके बायीं ओर तीन स्तम्भों में एलामी भाषा के लेख की लगभग २५० पंक्तियां हैं। एलामी लेख के ऊपर बेबीलोनी भाषा का लेख है। पारसी लेख के ऊपर और बेबीलोनी लेख के दाहिनी ओर १४ आकृतियों का एक चित्रपट उत्कीर्ण है। इसमें मुकुट तथा राजदंड धारण किए हुए सम्राट दारयवुश खड़ा है और उसके पीछे दो अंगरक्षक हैं। सम्राट के सामने १० कैदी हैं, जिनमें से एक जमीन पर लेटा है और सम्राट का पैर उसकी छाती पर है। शेष नौ कैदी खड़े हैं और सभी की गर्दनें एक रस्सी से बंधी हुई हैं। इन सबके ऊपर अहुर-मज्दा की आकृति है। इन आकृतियों के ऊपर और नीचे भी कुछ छोटे-छोटे अभिलेख हैं--कुल ३२ लेख, जिनमें ११ पारसी में, १२ एलामी में और ९ बेबीलोनी में हैं।

चट्टान पर इन अभिलेखों तक पहुंचना बहुत मुश्किल का काम था। फिर, केवल फुट-डेढ़ फुट जगह पर खड़े रहकर--पीछे लगभग ३०० फुट की खाई थी--इन लेखों की नकल उतारना और भी कठिन काम था। सीढ़ी की सहायता से रावलिन्सन ने बड़ी कठिनाई से पारसी लेख की नकल उतारी। इसके लिए उसे किरमनशाह से बेहिस्तुन तक महिनों चक्कर लगाने पड़े।

१८३५ में अलवेन्द-पर्वत के लेखों में से विस्तास्प, दारयवुश और क्षयार्श नामों को पढ़कर रावलिन्सन ने १३ कीलाक्षरों को जान लिया था। रावलिन्सन को ग्रोटेफेन्ड की गवेषणाओं की जानकारी नहीं थी। उसने अपने प्रयास से ही इन तेरह कीलाक्षरों के मान प्राप्त किए थे। उसने, ग्रोटेफेन्ड की ही तरह, हिरोदोतस के इतिहास-ग्रन्थ से हख़ामनी राजाओं की वंशावली खोज निकाली थी। और अब तो रावलिन्सन को बेहिस्तुन के अभिलेख भी उपलब्ध थे। उसने बेहिस्तुन के पारसी लेख की आरंभिक पंक्तियों में से पारस, अरशाम, अरियारम्न, चिशपिश और हख़ामनिश ये पांच नाम खोज निकाले। इन पांच नामों से उसे पांच अतिरिक्त कीलाक्षर मिले। इस प्रकार कुल १८ कीलाक्षर उसे ज्ञात हो गए।

१८३६ में रावलिन्सन जब बगदाद लौटा तो उसे ग्रोटेफेन्ड तथा सेंट-मार्टिन की कीलाक्षर-वर्णमाला प्राप्त हुई। किन्तु अब वह इन दोनों से अधिक कीलाक्षरों को जानता था। इसके बाद रावलिन्सन ने बेहिस्तुन अभिलेख पर अध्ययन-कार्य चालू रखा और उसे नए-नए कीलाक्षर-मान मिलते चले गए। वह बाबीरूश (बेबीलोन) से 'ब',

कतपतुका (कप्पादोसिया) से 'क', उफ़ाता (युफ़ाटेस, फरात) से 'फ' आदि नए-नए कीलाक्षर प्राप्त करता गया। १८३७ के शरदारंभ तक उसने लगभग २०० पंक्तियों (आधे पारसी लेख) का लिप्यन्तर कर लिया था और इस लेख की आरंभिक पंक्तियों का अनुवाद भी कर लिया था। अपनी इन सारी गवेषणाओं को एक निबंध के रूप में उसने १८३८ में लंदन की रॉयल एसियाटिक सोसायटी को भेज दिया। वहां यह निबंध एडविन नॉरिस के हाथ में पड़ा। नॉरिस ने इसकी एक प्रति पेरिस भेज दी, जहां इसने तहलका मचा दिया। इसके बाद रावलिन्सन ने लास्सेन और बर्नौफ़ के साथ बराबर सम्पर्क बनाये रखा। उसने संस्कृत तथा जेन्द भाषा का भी अध्ययन किया।

१८४६ तक सभी पारसी कीलाक्षरों के ध्वनिमान ज्ञात हो चुके थे । इस प्राचीन पारसी कीलाक्षर लिपि में कुल ४१ संकेत हैं। इनमें से ४ संकेत—'राजा', 'प्रान्त', 'भूमि' और 'अहुर-मज्दा'—शुद्ध भावचित्र हैं। इनके अतिरिक्त 'शब्द-विभाजक' के लिए भी एक स्वतंत्र संकेत है। शेष ३६ संकेत ध्वन्यात्मक हैं। सभी व्यंजनों में 'अ' स्वर

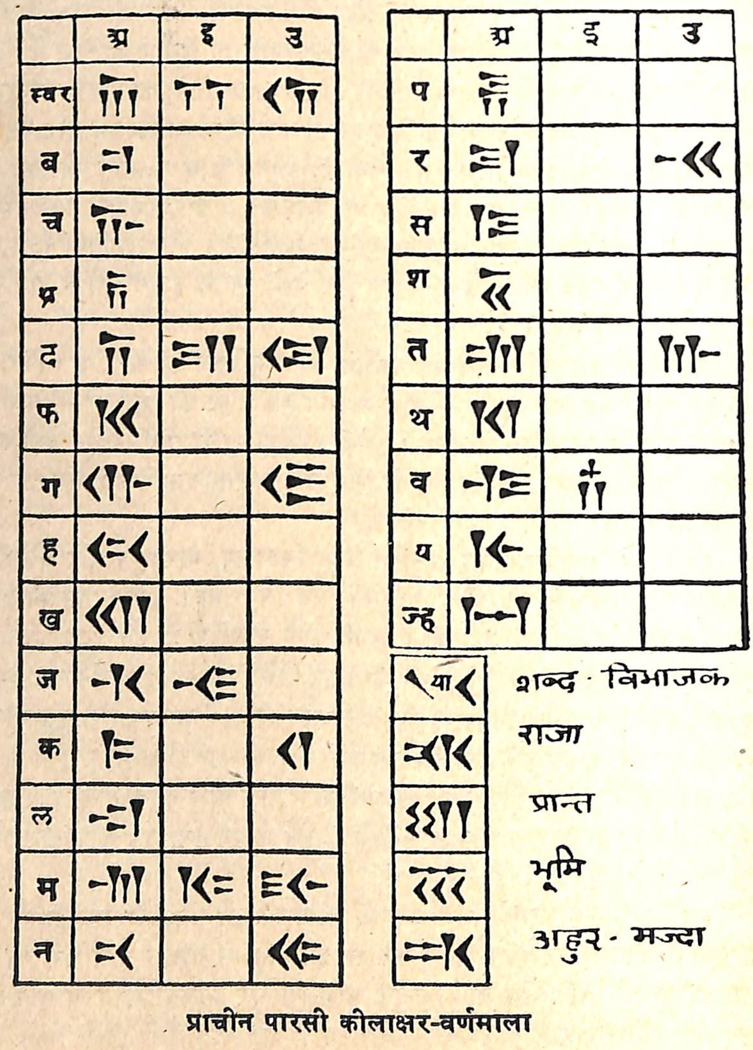

प्राचीन पारसी कीलाक्षर-वर्णमाला

निहित है। 'उ' और 'इ' स्वरों से युक्त कुछ व्यंजनों के लिए स्वतंत्र संकेत हैं। यह पारसी कीलाक्षर-लिपि ब्राह्मी की तरह बाईं ओर से दाहिनी ओर लिखी जाती थी।

हख़ामनी काल में संपूर्ण पश्चिम-एशिया में आरमाइक वर्णमाला का प्रचार था। इसी वर्णमाला का अनुकरण करते हुए सम्भवत: हखामनी शासकों ने बेबीलोनी कीलाक्षरों से पारसी के लिए एक नूतन वर्णमाला (अक्षरमाला) का आविष्कार किया था। हख़ामनी शासन के साथ ही यह पारसी कीलाक्षर लिपि अस्तित्व में आयी थी और हख़ामनी शासन की समाप्ति के साथ ही इसका अन्त हो गया। इस लिपि ने किसी अन्य लिपि को न तो जन्म दिया और न प्रभावित किया।

एलामी कीलाक्षर

प्राचीन पारसी कीलाक्षरों का अन्वेषण-कार्य तो पूर्ण हो गया था, परन्तु असली कीलाक्षर-लिपि के उद्घाटन का यह केवल आरंभ ही था। प्राचीन पारसी कीलाक्षर-लिपि कीलाक्षरों का अंतिम रूप थी। वस्तुत: यथार्थ कीलाक्षर लिपि से इसका बहुत दूर का संबंध था। लेकिन इन्हीं पारसी कीलाक्षरों से पहले की सारी कीलाक्षर लिपियों को पढ़ पाना सम्भव हुआ।

हम बतला चुके हैं कि हख़ामनी काल के लेख पारसी, एलामी और बेबीलोनी-अक्कदी भाषाओं में मिलते हैं। इन तीनों भाषाओं की लिपियां, ऊपरी नज़र से देखने पर, कीलाक्षर जैसी दिखाई देती हैं; परन्तु इनमें काफी भेद है। हम बतला चुके हैं कि बेहिस्तुन चट्टान पर, पारसी के अलावा, एलामी और बेबीलोनी कीलाक्षरों में भी लेख हैं। इन तीनों लेखों में एक ही बात दोहराई गई है। इसलिए पारसी लिपि का उद्घाटन हो जाने के बाद पुरालिपिविदों के लिए एलामी तथा बेबीलोनी लिपियों का अन्वेषण करना सुलभ हो गया।

फारस की खाड़ी के पूर्व और ईरान के दक्षिण-पश्चिम में प्राचीन काल में एक राज्य था जिसके लिए बाइबल में 'एलाम' नाम मिलता है। इस राज्य की राजधानी सुसा नगर में थी। सुसा का इतिहास उतना ही प्राचीन है, जितना कि सुमेर का। एलाम देश की अपनी एक चित्रलिपि होने के भी उदाहरण मिलते हैं। लेकिन बाद में एलामी लोगों ने बेबीलोनी-असीरी संस्कृति के साथ-साथ उनकी भाषा और लिपि को भी अपना लिया था। कालान्तर में ये अपनी एलामी भाषा को भी कीलाक्षरों में लिखने लग गये। एलामी भाषा न तो भारोपीय-परिवार की थी और न सेमेटिक-परिवार की। यह एक योगात्मक भाषा थी और कुछ भाषाविद इसे काकेशियन-परिवार से सम्बंधित मानते हैं।

हख़ामनी सम्राटों नें जब पश्चिम-एशिया के देशों को जीतना आरंभ किया तो उनके अधिकार में आने वाला एलाम पहला देश था। पारसी विजेता एलाम की भाषा और संस्कृति को ऊँची मानते थे, इसलिए उन्होंने एलामी भाषा और इसकी कीलाक्षर लिपि को अपने साम्राज्य की एक भाषा एवं लिपि स्वीकार कर लिया। इसीलिए हमें बेहिस्तुन और अन्य स्थानों के हख़ामनी अभिलेख पारसी के अलावा एलामी और बेबीलोनी भाषाओं में भी मिलते हैं।

आरंभ में एलामी लेखों को पढ़ पाना सचमुच ही कठिन था, लेकिन यह उतना कठिन नहीं था जितना कि बेबीलोनी लेखों को पढ़ना। विभिन्न संकेतों का वर्गीकरण करने पर पता चला कि एलामी लिपि में १११ कीलाक्षर हैं। इससे यह सिद्ध हो गया कि यह कीलाक्षर-लिपि न वर्णमालात्मक है और न भावचित्रात्मक। सभी दृष्टियों से यह

एक अक्षरात्मक (सिलेबिक) लिपि जान पड़ी। ग्रोटेफेन्ड ही पहला व्यक्ति था जिसने इस लिपि के बारे में कुछ बातों का पता लगाया। प्राचीन पारसी कीलाक्षर लिपि की तरह एलामी लिपि में 'शब्द-विभाजक' जैसा कोई संकेत नहीं था। ग्रोटेफेन्ड ने पता लगाया कि इस लिपि में पुरुषवाचक नामों के पहले एक खड़ी कील के ग्राकार का चिह्न ग्राता है, जिसका उच्चारण नहीं होता।

डेनिश विद्वान नील्स लुडविग वेस्टरगार्ड १८४३ में ईरान पहुंचा। उसने नक्श-इ-रुस्तम स्थान से, जहां दारयवुश की समाधि है, लेखों की नकल उतारकर देशों के नामों की एक सूची प्राप्त की। वह पहला व्यक्ति था जिसने एलामी लेख के एक ग्रंश का ग्रनुवाद प्रस्तुत किया। लेकिन वेस्टरगार्ड एलामी संकेतों के स्वरूप को पूर्ण रूप से नहीं समझ पाया। वह इन लेखों की भाषा को मीदियन समझ बैठा था।

१८४४ में रावलिन्सन पुनः बेहिस्तुन के लेखों की नकल उतारने में जुट गया। इस बार उसे एलामी लेखों की नकल उतारनी थी। लेकिन इन लेखों की नकल उतारना पारसी लेखों से भी ग्रधिक कठिन काम था। खैर, किसी तरह उसने एलामी लेखों की भी नकल उतार ली ग्रौर इनकी प्रतियां एडविन नॉरिस के पास लंदन भेज दीं। नॉरिस ने १८५३ में एलामी लेख प्रकाशित किए। नॉरिस का जन्म १७९५ में हुग्रा था। रावलिन्सन की तरह नॉरिस ने भी ईस्ट इंडिया कंपनी की नौकरी स्वीकार करके भारत को प्रस्थान किया था। १८३८ में वह रॉयल एसियाटिक सोसाइटी का सह-सेक्रेटरी बना। इसके बाद ही उसे रावलिन्सन की प्रतियां प्राप्त हुई थीं। इन्हीं प्रतियों के ग्राधार पर नॉरिस ने एलामी लिपि का ग्रन्वेषण करके इन लेखों को प्रकाशित किया। सम्राटों तथा देशों के नामों का तुलनात्मक ग्रध्ययन करके एलामी कीलाक्षर-लिपि के सारे ग्रक्षरों के मान प्राप्त किए थे। पारसी लेखों का ग्रनुवाद ग्रब मौजूद था, इसलिए पुरालिपिविद ग्रब एलामी शब्दों के ग्रर्थ तथा इनके व्यारकण-नियमों की ग्रासानी से खोज कर सकते थे। हम बतला ही चुके हैं कि एलामी कीलाक्षर लिपि में १११ संकेत हैं, जिनमें से लगभग ८० ग्रक्षर-संकेत हैं। शेष में कुछ निर्धारक-चिह्न हैं ग्रौर कुछ भावचित्र।

हखामानी काल के बाद के एलामी ग्रभिलेख हमें नहीं मिलते। संभवतः ईसा की कुछ ग्रारंभिक शताब्दियों तक इस भाषा का उपयोग होता रहा, किन्तु ग्राज यह एक मृत भाषा है।

प्राक्-एलामी लिपि

हखामनी काल के पहले दक्षिण-पश्चिम ईरान में एक प्रागैतिहासिक लिपि का ग्रस्तित्व रहा है। एलाम प्रदेश से इस प्राचीन लिपि के ग्रवशेष मिलने से इसे 'प्राक्-एलामी लिपि' का नाम दिया गया है। पुराविदों का ग्रनुमान है कि एलाम की प्राचीन राजधानी सुसा नगर में इस लिपि का जन्म हुग्रा था। सुसा नगर में ई.पू. ३००० में हमें इस लिपि का ग्रस्तित्व देखने को मिलता है। इस लिपि के भी दो प्रकार हैं——प्राचीन ग्रौर बाद की। बाद की एलामी लिपि में संकेतों की संख्या कम है——लगभग ६०। परन्तु प्राचीन एलामी लिपि में कई सौ संकेत हैं, जो सभी भावचित्र जान पड़ते हैं। ग्रभी तक यह लिपि पढ़ी नहीं गई है, परन्तु पुरालिपिविदों का ग्रनुमान है कि यह दाईं ग्रोर से बाईं ग्रोर को लिखी गयी है। इस लिपि के ग्रधिकांश लेख मिट्टी के फलकों पर मिलते हैं। इन फलकों को देखने से पता चलता है कि ये हिसाब-किताब ग्रौर लेन-देन से संबंधित हैं। कुछ पुराविदों ने इन फलकों के ग्रंक-संकेतों का ग्रध्ययन किया है ग्रौर उनका ग्रनुमान

है कि एलामी लोगों की अंक-पद्धति दाशमिक थी। सियाल्क से कुछ ऐसे भी फलक मिले हैं जिनमें रस्सी डालने के लिए छेद बने हुए हैं। इसलिए पुराविदों का मत है कि ये फलक वाणिज्य-वस्तुओं के साथ बांध दिए जाते थे। कालान्तर में सिलिंडर के आकार की मुहरें भी बनने लग गई थीं। मुलायम मिट्टी पर इन मुहरों की छाप मालिक का हस्ताक्षर मानी जाती थीं।

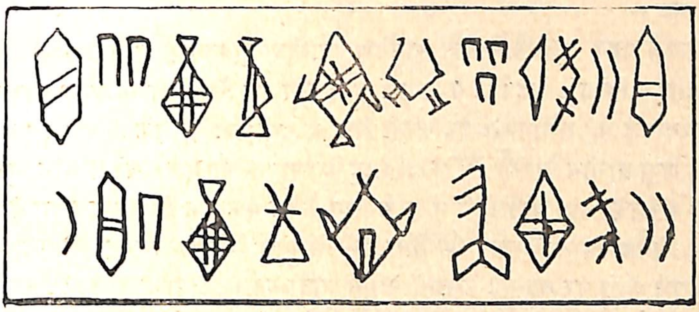

चित्र : प्राक्-एलामी लेख

इस प्राक्-एलामी लिपि का जब तक उद्‌घाटन नहीं होता, तब तक इसकी उत्पत्ति के बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु सुमेरी लोगों के साथ एलामियों के घनिष्ठ संबंधों के कारण सम्भव यही जान पड़ता है कि इन्होंने सुमेरी लिपि के आधार पर अपनी इस लिपि का निर्माण किया था। बाद में एलामियों ने अपनी इस लिपि को छोड़ दिया और बेबीलोनी कीलाक्षरों के सरल रूप को अपनाया था। सिन्धु लिपि का उद्‌घाटन होने से भी इस प्राक्-एलामी लिपि पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है।

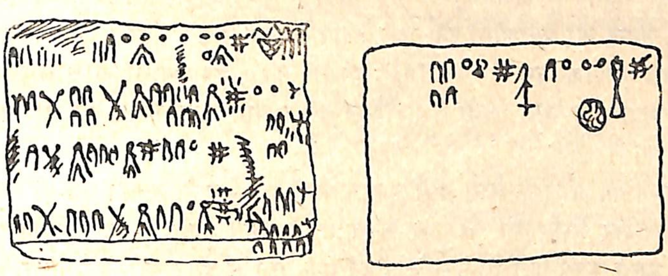

प्राक्-एलामी लेख

बेबीलोनी कीलाक्षर

अब हख़ामनी लेखों की तीसरी कीलाक्षर लिपि—बेबीलोनी-अक्कदी—का अन्वेषण-कार्य बाकी था। बेहिस्तुन अभिलेख की इस तीसरी कीलाक्षर लिपि के लेख अब मेसोपोटामिया के टीलों की खुदाई में भी मिलने लग गए थे। १८४३ में पॉल एमिले बोट्टा ने खोरसाबाद के पास सारगोन-द्वितीय (७२१-७०५ ई. पू.) के महल को खोज निकाला। इसके बाद हेनरी लायार्ड ने निमरुद स्थान से आश्शुरनसीपाल (८८४–८५९ ई.पू.) के राजप्रासाद की खोज की। इन दोनों स्थानों से असीरी-बेबीलोनी पुरातत्व की ढेर सारी चीजें तो मिलीं ही, कीलाक्षर लिपि के भी बहुत-से लेख मिले। मेसोपोटामिया से प्राप्त ये कीलाक्षर-लेख उसी लिपि और भाषा में थे जिनमें कि बेहिस्तुन का तीसरा लेख खुदा हुआ था। इधर १८५० तक रावलिन्सन ने भी एक कुर्दी बालक की

सहायता से बेहिस्तुन चट्टान से बेबीलोनी लेख की अनुकृतियां प्राप्त कर ली थीं।

इन बेबीलोनी लेखों का अन्वेषण पारसी या एलामी लेखों की तरह आसान नहीं था। हम देख चुके हैं कि पारसी लिपि में केवल ४१ कीलाक्षर संकेत थे और एलामी में १११ कीलाक्षर। परन्तु बेबीलोनी में कीलाक्षर-संकेतों की संख्या बहुत अधिक, ५०० से भी अधिक थी। इतने अधिक संकेतों को देखकर आरंभ में रावलिन्सन भी हतोत्साहित हो गया था।

सबसे पहले १८४६ में एक स्वीडिश पुराविद लोवेनस्टर्न ने बेबीलोनी लिपि का अध्ययन आरंभ किया। ग्रोटेफेन्ड ने क्षयार्श के लेख से इस लिपि का अन्वेषण आरंभ किया था। लोवेनस्टर्न ने समानार्थी बेबीलोनी लेख से इस लेख के संकेतों की तुलना करके जाना कि, जहां प्राचीन पारसी में 'राजा' शब्द के लिए ७ कीलाक्षर संकेत और 'पुत्र' शब्द के लिए ३ संकेत हैं, वहां बेबीलोनी में इनके लिए केवल एक-एक ही संकेत आया है। इससे आरंभ में लोवेनस्टर्न को लगा कि बेबीलोनी संभवतः भावचित्रात्मक लिपि है। परन्तु आगे अन्वेषण करने पर नई-नई उलझनें सामने आती गईं। 'क्षयार्श' नाम के लिए प्राचीन पारसी लिपि में सात संकेत (दो 'अ' और पांच व्यंजन) मिलते हैं, किन्तु यहां बेबीलोनी में इस नाम के लिए केवल पांच संकेत ही दिए हुए थे। इसका क्या अर्थ लगाया जाए? उस समय के पुरालिपिविद जानते थे कि हिब्रू तथा अन्य सेमेटिक भाषाओं की लिपियों में प्राचीन काल में केवल व्यंजन-संकेतों का इस्तेमाल होता था। इस समय तक असीरी पुरातत्ववेत्ताओं को यह ज्ञात हो गया था कि बेबीलोनी (अक्कदी) सेमेटिक परिवार की भाषा है। इसलिए रावलिन्सन ने १८४७ से ही हिब्रू तथा सीरियाई भाषाओं का अध्ययन आरम्भ कर दिया था। अब उसने बेहिस्तुन के बेबीलोनी लेख की कुल ११२ पंक्तियों का गहन परीक्षण आरंभ कर दिया। १८५० में उसने रॉयल एसियाटिक सोसायटी, लंदन, को बेबीलोनी कीलाक्षर लिपि के बारे में एक निबंध भेजा। रावलिन्सन का विश्वास था कि उसने ८० नामों, लगभग १५० ध्वनिमानों और लगभग ५०० बेबीलोनी शब्दों को जान लिया है। लेकिन इसके आगे रावलिन्सन को भी रास्ता नहीं सूझ रहा था।

आगे की खोज के लिए मार्ग प्रशस्त करने का श्रेय है, पादरी एडवर्ड हिंक्स को। पारसी कीलाक्षर लिपि का अध्ययन करते समय हमने देखा है कि इन कीलाक्षरों के ध्वनिमान प्राप्त करने के लिए पुरालिपिविद एक नाम से दूसरे नाम की तुलना करते हुए आगे बढ़ते चले गए थे। किन्तु यहां बेबीलोनी लिपि के अन्वेषण में यह विधि असफल रही; क्योंकि यहां देखा गया कि, एक ही संकेत की कई ध्वनियां हैं और एक ही ध्वनि के लिए एक से-अनेक संकेत व्यवहार में लाये गये हैं। लोवेनस्टर्न ही पता लगा चुका था कि अकेली 'र' ध्वनि के लिए सात भिन्न-भिन्न संकेतों का इस्तेमाल होता है!

पुरालिपि-अन्वेषण का कार्य, यदि अभिलेखों की उत्तम प्रतियां उपलब्ध हो, तो अपने अध्ययन-कक्ष में भी हो सकता है। इसके लिए पुरातत्व-खुदाई के लिए जाने की जरूरत नहीं है। हिंक्स ने अपने अध्ययन-कक्ष में ही बेबीलोनी लिपि का अन्वेषण-कार्य आरंभ कर दिया। उसने बेबीलोनी लिपि की बहुत-सी गुत्थियों को सुलझाया। हिंक्स ने जाना कि बेबीलोनी में शुद्ध व्यंजन-संकेत नहीं है। इस लिपि के अक्षर-संकेत स्वर+व्यंजन—('आब', 'इर' इत्यादि) युक्त हैं या व्यंजन+स्वर ('दा', 'की' इत्यादि) युक्त। इनके अतिरिक्त इस लिपि में व्यंजन+स्वर+व्यंजन जैसे अक्षर-संकेत भी है;

जैसे 'कान', 'मुर' इत्यादि। इन संयुक्त संकेतों को कभी-कभी दो भिन्न अक्षर-संकेतों से भी व्यक्त किया जाता है; जैसे 'कान'=का–आन, 'मुर=मु–उर।

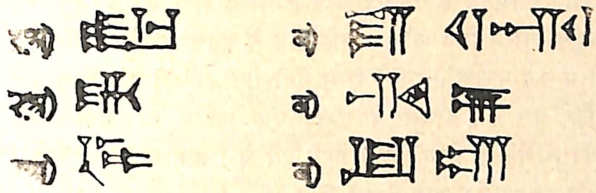

१. अ) शर ब) श-अर
२. अ) गिर ब) गि-इर
३. अ) लुम ब) लु-उम

बेबीलोनी लिपि के सरल (अ) एवं संयुक्त (ब) कीलाक्षर-संकेत

हिंक्स ने बेबीलोनी लिपि की एक और विशेषता की खोज की : इस लिपि में एक ही संकेत भावचित्र, अक्षर-संकेत तथा निर्धारक-संकेत इन तीनों रूपों में इस्तेमाल हो सकता है। तात्पर्य यह कि इस लिपि के संकेत बहुरूपी हैं। बाद में यह भी पता चला कि एक ही संकेत की अनेक ध्वनियां भी हो सकती हैं। रावलिन्सन ने १८५१ में लगभग २०० ऐसे संकेत एकत्र किये थे, जिनके एक से अधिक ध्वनिमान थे।

१. (अ) भावचित्र 'इशु'-लकड़ी।
(ब) वृक्षों तथा लकड़ी से बनी वस्तुओं के पहले प्रयुक्त निर्धारक-संकेत।
(क) अक्षरात्मक संकेत 'इज', 'इस' इत्यादि।
२. (अ) भावचित्र 'मातु'=देश और 'शदु'=पर्वत।
(ब) देशों तथा पर्वतों के नामों के पूर्व प्रयुक्त निर्धारक-संकेत।
(क) अक्षरात्मक संकेत 'कुर', 'मात', 'शत', 'नत', 'गिन' इत्यादि।

बेबीलोनी कीलाक्षर लिपि के ऐसे दो संकेत जिन्हें भावचित्र, अक्षर-ध्वनि तथा निर्धारक-संकेत इन तीनों के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

किद, शाह, सिल।

पिस, गिर,।

लल, लिब, लुब, पाह, नर।

चित्र : बेबीलोनी लिपि के बहुध्वन्यात्मक अक्षर-संकेत।

पुरालिपिविद जब बेबीलोनी लिपि के इस मायाजाल में फंसे हुए थे, तो सौभाग्य से इसी समय हेनरी लायार्ड ने कुयुंजिक (प्राचीन ननुआ) की खुदाई से कीलाक्षर लेखों

का एक प्राचीन 'ग्रन्थागार' ही खोज निकाला। निनुआ असीरी साम्राज्य की राजधानी थी और यहीं से राजा आशुर बनीपाल के संग्रहालय में २०,००० से भी अधिक बेबीलोनी कीलाक्षरों में अंकित मिट्टी के फलक मिले हैं। ये सारे फलक जब लंदन के ब्रिटिश-म्यूजियम में पहुंचे, तो नॉरिस और रावलिन्सन ने इनका परीक्षण किया। उन्होंने देखा कि इन फलकों में कई फलक ऐसे हैं जिसमें बेबीलोनी संकेतों के सामने एक अज्ञात भाषा के ध्वनिमान दिये हुए हैं। वस्तुतः ये फलक एक प्रकार के 'शब्दकोश' थे, जो उस अज्ञात भाषा को सीखने के लिए तैयार किये गये थे। बाद में इस अधिक प्राचीन अज्ञात भाषा को सुमेरी भाषा का नाम दिया गया।

इन शब्दकोशों की सहायता से कीलाक्षर लिपि का अन्वेषण-कार्य तेजी से आगे बढ़ा। किन्तु इन संकेतों के सही-सही अर्थ ज्ञात करना अब भी एक पहेली थी; क्योंकि जैसा कि हम बतला चुके हैं, इस लिपि के एक ही संकेत के एक से अधिक ध्वनिमान थे, और एक ही ध्वनि के लिए अनेक संकेतों का इस्तेमाल होता था। इस उलझन के कारण किसी भी बेबीलोनी लेख का अर्थ लगाने में काफी कठिनाई होती थी। कीलाक्षर लिपि के अन्वेषक सही मार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं या नहीं, इसका पता लगाने के लिए लंदन में एक 'परीक्षा' की गई। सबसे पहले विलियम हेनरी फॉक्स टाल्बोट (१८००–७७) के दिमाग में इस 'परीक्षा' का विचार आया था। टाल्बोट था तो एक गणितज्ञ, परन्तु पुरातत्व में भी उसकी रुचि थी। योजना यह थी कि, रॉयल एसियाटिक सोसायटी किसी नये खोजे गये बेबीलोनी लेख की प्रतियां विभिन्न पुरालिपिविदों के पास भेजकर उनसे इनके अनुवाद प्राप्त करेगी। इन अनुवादों की तुलना करने से पता चल जायगा कि बेबीलोनी लिपि के अन्वेषण का कार्य कितना सफल रहा है।

किन्तु इस प्रयोग में कौन-कौन पुरालिपिविद भाग लेंगे? रावलिन्सन, हिंक्स और टाल्बोट का इस परीक्षा में सम्मिलित होना निश्चित था। चौथा व्यक्ति चुना गया, जूलेस ओप्पेर्ट (१८२५–१९०५)। ओप्पेर्ट का जन्म हम्बर्ग (जर्मनी) में हुआ था—एक यहूदी परिवार में। आरंभ में उसने गणितशास्त्र का अध्ययन किया था; किन्तु बाद में जब भारतीय संस्कृति में उसकी दिलचस्पी बढ़ी, तो उसने संस्कृत का भी अध्ययन किया था। वह पेरिस के प्रसिद्ध 'कालेज द फ्रांस' में संस्कृत का आचार्य था। फिर, असीरी पुरातत्व में उसकी इतनी अधिक रुचि जगी कि, इसके अध्ययन के लिए उसने संस्कृत का आचार्य-पद भी त्याग दिया!

संयोग ऐसा कि १८५७ में रावलिन्सन, हिंक्स, टाल्बोट और ओप्पेर्ट, ये चारों लंदन में ही मौजूद थे। सोसायटी के सेक्रेटरी नॉरिस ने इस अवसर को हाथ से नहीं जाने दिया। उसने एक बेबीलोनी-असीरी लेख की प्रतियां लिफाफों में बंद करके, मुहर लगाकर, इन चारों के पास भेज दीं। इन चारों में से किसी को भी यह लेख पहले से ज्ञात नहीं था। क्योंकि मिट्टी के तीन सिलिडरों पर अंकित यह लेख नया-नया ही मेसोपोटामिया की खुदाई में प्राप्त हुआ था और हाल ही में लंदन पहुंचा था। यह लेख असीरी राजा तिगलथ-पिलेसर (१११३–१०७४ ई.पू.) के समय का था। उपर्युक्त चारों पुरालिपिविदों को इस लेख का लिप्यन्तर तथा अनुवाद करके सोसायटी को वापस भेजना था।

इन चारों विद्वानों ने अपने-अपने अनुवाद मुहर-बंद लिफाफों में सोसायटी के पास भेज दिए। सोसायटी ने इन अनुवादों के परीक्षण के लिए एक परीक्षक-मंडल नियुक्त किया था। इस अवसर पर सोसायटी ने विद्वानों की एक सभा का भी आयोजन किया था।

परीक्षण के बाद ज्ञात हुआ कि ये चारों अनुवाद, जहां तक प्रमुख बातों का संबंध है, प्रायः एक-से हैं; मतभेद केवल कुछ मामूली बातों में ही था।

जो भी हो, इस प्रयोग ने यह सिद्ध कर दिया कि, बेबीलोनी-असीरी कीलाक्षर-लिपि के अन्वेषण-प्रयास सही हैं।

सुमेरी लिपि

लेकिन इसका अर्थ यह ही नहीं था कि कीलाक्षर-लिपि का अन्वेषण कार्य समाप्त हो गया है। हम बतला चुके हैं कि असीरी-बेबीलोनी लेखों का अध्ययन करते समय प्राचीन सुमेरी भाषा का पता चल गया था। बाद में यह भी पता चला कि सुमेरी लोग ही वास्तव में कीलाक्षर लिपि के जनक थे। सुमेरी लोगों से ही ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी में अक्कदी लोगों ने कीलाक्षर-लिपि प्राप्त की थी। बाद में असीरी और बेबीलोनी शासकों ने भी इस लिपि को अपनाया। बेबीलोनी-अक्कदी भाषा सेमेटिक परिवार की थी; लेकिन सुमेरी भाषा न तो सेमेटिक परिवार की थी और न भारोपीय परिवार की। यह एक योगात्मक भाषा थी। ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दी में फारस की खाड़ी के ऊपर दजला-फरात नदियों के बीच के प्रदेश में इन सुमेरी लोगों का निवास था। उर, एरिदु, लगाश, उरूक, लारसा आदि इनके प्रसिद्ध नगर थे। ३००० ई. पू. के आसपास उत्तर के सेमेटिक जाति के अक्कदी लोगों ने सुमेरियों का पराभव करके इनकी उपजाऊ भूमि पर अधिकार कर लिया था। इन सेमेटिक विजेताओं ने सुमेरी संस्कृति की बहुत-सी बातों के साथ-साथ उनकी लिपि को भी अपना लिया। अक्कदी पुरोहित कर्मकांड के लिए सुमेरी भाषा का ही इस्तेमाल करते थे; इसीलिए उन्होंने सुमेरी भाषा की शब्दावलियां, व्याकरण-नियम और सुमेरी पाठों के अक्कदी-बेबीलोनी अनुवाद तैयार किये थे। इसी प्रकार के द्वैभाषिक लेख प्राप्त होने से आरंभ में सुमेरी भाषा तथा संस्कृति के बारे में जानकारी मिली थी। इसी समय कुछ ऐसे प्रमाण मिले, जिससे ज्ञात हुआ कि सुमेरी कीलाक्षर-लिपि का आरंभ एवं विकास सुमेरी चित्र-संकेतों से हुआ है।

दजला और फरात नदियों के बीच की जमीन जलौढ़ मिट्टी से बनी हुई है। यहां लिखने के लिए मिट्टी के रूप में प्रकृति ने पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की है। मिट्टी का फलक तैयार करके इस पर लकड़ी की नुकीली कलम से लिखा जाता था। बाद में इस फलक को आग में पकाया जाता या तेज धूप में सुखाया जाता। इस प्रकार के फलक हजारों साल तक सुरक्षित रह सकते थे। इसलिए हमें सबसे प्राचीन लेख मेसोपोटामिया से ही मिले हैं।

मिस्र की प्राचीन हाइरोग्लिफिक लिपि की तरह कीलाक्षर लिपि में भी तीन प्रकार के संकेत पाये जाते हैं—भावचित्र, अक्षर-संकेत तथा निर्धारक-संकेत। सुमेरी लोग अपने भावचित्रों का अक्षर-संकेतों के रूप में इस्तेमाल करने लग गये थे। उदाहरणार्थ, सुमेरी भावचित्र 'अन' (=आकाश) 'अन' ध्वनि के लिए और भावचित्र 'मु' (=नाम) 'मु' ध्वनि के लिए प्रयोग में लाया जाता था।

अक्कदियों ने सुमेरी भावचित्रों को यथावत् ग्रहण करके इन्हें अपनी सेमेटिक भाषा के अर्थ प्रदान किए। उदाहरणार्थ, सुमेरी लिपि में 'पिता' के लिए जो भावचित्र था, उसका उच्चारण सुमेरी में 'अद' होता था, परन्तु सेमेटिक अक्कदी में इस भावचित्र का उच्चारण 'अदु' (=पिता) हो गया। इसी प्रकार, 'मु' (=नाम) 'शुमु' हो गया। किन्तु हम बतला चुके हैं कि सुमेरी में ध्वनिमान-युक्त संकेत भी अस्तित्व में आ चुके थे। अब इन

ध्वनि-संकेतों का क्या किया जाए ? सेमेटिक भाषियों के सामने यह एक बड़ा पेचीदा प्रश्न था। उन्होंने साहस किया और सुमेरी ध्वनि-संकेतों को इनकी सुमेरी ध्वनियों सहित ही स्वीकार कर लिया। जैसे, 'मु' संकेत (भावचित्र) अक्कदी में 'शुमु' (=नाम) पढ़ा जाएगा, किन्तु इसी संकेत का इस्तेमाल जब ध्वन्याक्षर के रूप में होगा तो यह 'मु' पढ़ा जाएगा।

पाठक अब समझ ही सकते हैं कि सुमेरी कीलाक्षर लिपि को अपनी भाषा के लिए अपनाते समय अक्कदियों को कितनी अधिक परेशानी हुई होगी। नीचे के एक ही संकेत पर यदि हम विचार करें तो इस उलझन का हमें कुछ स्पष्ट आभास मिल सकता है :

=सुमेरी भावचित्र 'पृथ्वी', 'पर्वत'।

सुमेरी भाषा में इस भावचित्र के अर्थ होंगे : (१) 'पृथ्वी,' 'देश' ('कुर'), और (२) पर्वत ('किन')। इस भावचित्र के और भी अर्थ हैं, परन्तु उन्हें यहां हम छोड़ देंगे। सेमेटिक भाषियों ने जब इस सुमेरी भावचित्र को अपनी भाषा के लिए अपनाया तो इसे 'मतु' (देश), 'इरशितु' (पृथ्वी, देश) तथा 'शदू' (पर्वत) के नाम दिए। इसके अलावा, उन्होंने इस संकेत को दो शुद्ध ध्वन्याक्षरों--'कुर' तथा 'किन' (ये सुमेरी भाषा की ध्वनियां थीं)--के लिए भी अपना लिया। इनके अलावा, सेमेटिक शब्द 'मतु' तथा 'शदू' की 'मन' तथा 'शद' ध्वनियों के लिए भी अक्कदियों ने इस संकेत का इस्तेमाल किया।

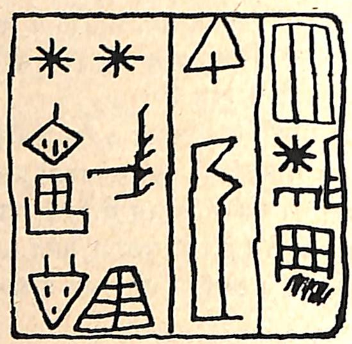

निप्पुर से प्राप्त राजा नारम-सिन (२२७०-२२३३ ई०पू०)
की मिट्टी की मुद्रा

आरंभिक सुमेरी चित्रलिपि में वस्तुओं को आसानी से पहचाना जा सकता है। शुरू में ये चित्रसंकेत खड़े स्तम्भों में लिखे जाते थे और ऊपर से नीचे की ओर पढ़े जाते थे। लेखन का आरंभ दाहिनी ओर से होता था और स्तम्भों की संख्या बाईं ओर को बढ़ती जाती थी। किन्तु बाद में यह जाना गया कि फलकों को बाईं ओर घुमाने से इस लिपि को क्षैतिज रेखा में आसानी से पढ़ा जा सकता है। तदनुसार संकेतों के लेखन-क्रम में भी परिवर्तन हुआ--संकेतों की दिशा ९०° के कोण में बदल गयी। इसके बाद यह कीलाक्षर लिपि बाईं ओर से दाहिनी ओर को पढ़ी और लिखी जाने लगी।

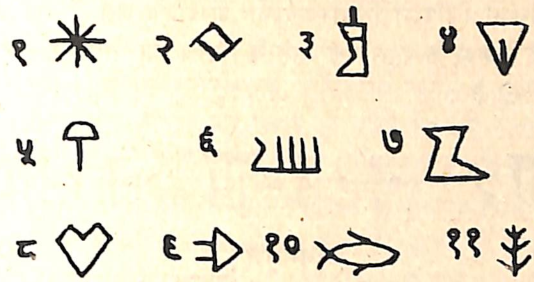

कीलाक्षर लिपि के कुछ आरंभिक चित्र-संकेत : १. तारा, आकाश, देवता; २. सूर्य, दिवस, प्रकाश; ३. शिश्न, पुरुष; ४. भग, स्त्री; ५. आंख, देखना, चेहरा; ६. हाथ; ७. जाना, खड़े रहना; ८. हृदय; ९. बैल; १०. मछली; ११. अनाज।

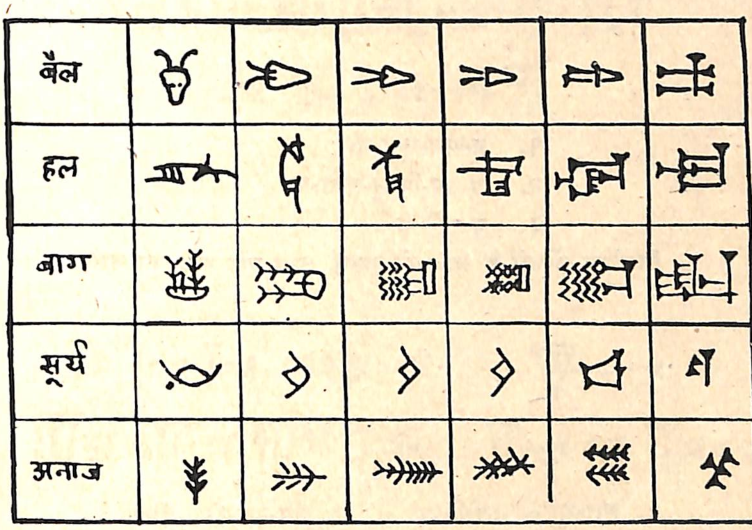

कीलाक्षर लिपि के संकेतों का विकास-क्रम

ये कठिनाइयां थीं सेमेटिक भाषा के लिए अपनाई गई कीलाक्षर लिपि की। कालान्तर में तो नव-बेबीलोनी और नव-असीरी में एक ही संकेत की अनेक स्वतंत्र ध्वनियां अस्तित्व में आ गई थीं। स्वयं बेबीलोनी तथा असीरी लेखकों के लिए ही उनकी यह लिपि बहुत जटिल बन गई थी। इस जटिलता को कुछ आसान बनाने के लिए उन्होंने कीलाक्षरों की एक 'मिश्रित योजना' तैयार की और अर्थ स्पष्ट करने के लिए वे निर्धारक-संकेतों का इस्तेमाल करने लग गए। उदाहरण के लिए, 'मतु' (देश) संकेत का केवल एक ही अर्थ प्रकट हो इसलिए वे इस शब्द को संकेतों की एक मिश्रित योजना में लिखने लग गए थे। भावचित्र के बाद इसके ध्वनि-संकेत भी दिए जाने लगे; यथा :

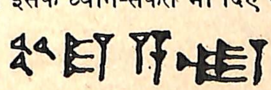

मतु+म+अ+तु
मिश्र कीलाक्षर लिपि में 'मतु' (=देश) शब्द।

प्राचीन मिस्री लिपि में निर्धारक-संकेत शब्दों के अंत में रखे जाते थे; परन्तु कीलाक्षर लिपि में वे शब्द के पहले रखे जाते थे। नीचे हम निर्धारक-संकेतों के प्रयोग के कुछ उदाहरण दे रहे हैं :

आ-नु एन-लिल ए-आ

निर्धारक-संकेतों के साथ तीन देवताओं के नाम

१. ह-अम-मु-र-बी
२. सु-उप-पि-लु-ल-उ-मा
३. पु-दु-हे-पा

निर्धारक-संकेतों के साथ दो पुरुषों तथा एक स्त्री का नाम

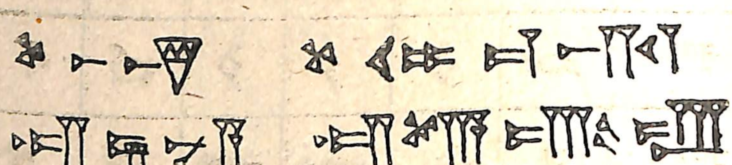

१. अश-शुर = 'असीरिया' ३. मि-इस-री = 'मिस्र'
२. नि-नु-आ = 'निनेवेह' ४. कार-गा-मिश = 'कार्चेमिश'

निर्धारक-संकेतों के साथ दो देशों तथा दो नगरों के नाम

ए-री नु = देवदार ए-लिप-पु = नौका

निर्धारक-संकेतों के साथ एक वृक्ष तथा लकड़ी से बनी एक चीज

पर-जिल-लु = लोहा प-अ-शु = परशु

निर्धारक-संकेतों के साथ एक धातु तथा धातु की बनी एक वस्तु

कीलाक्षर लिपि के इन्हीं भावसंकेतों तथा निर्धारक-संकेतों के कारण इनमें लिपिबद्ध भाषाओं को १९वीं सदी में पढ़ पाना सम्भव हुआ है। यह लिपि इतनी जटिल होने पर भी, जब ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी में असीरी-बेबीलोनी भाषा ने अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का दर्जा प्राप्त कर लिया, तो यह लिपि भी अनेक देशों में फैली। उस समय का अन्तर्राष्ट्रीय पत्र-व्यवहार इसी लिपि में होता था। ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के मध्य-काल में मिस्र के फरोहा तथा पैलेस्तीन के राजाओं के बीच जो पत्र-व्यवहार हुआ था और जो मिस्र के तेल-एल-अमर्न स्थान की खुदाई में प्राप्त हुआ है, इसी कीलाक्षर लिपि में है। वस्तुतः यह कीलाक्षर लिपि सारे पश्चिम एशिया में फैल गई थी। जिस भाषा ने भी इस कीलाक्षर लिपि को अपनाया, इसके निर्धारक-संकेत तथा भावचित्र पूर्ववत् ही बने रहे। निर्धारक-संकेतों की सहायता से नामों को आसानी से पहचाना जा सकता है और इन नामों की सहायता से लिपि-अन्वेषण का कार्य किस प्रकार आगे बढ़ता है, यह हम देख ही चुके हैं। यही कारण है कि इस कीलाक्षर लिपि के अन्वेषण के बाद हमें कुछ नई भाषाएं जानने को मिली हैं, जो इस लिपि में लिखी गई थीं।

४

चीनी लिपि

चीनी सभ्यता का संभवतः सबसे वैशिष्ट्यपूर्ण अंग है इसकी लिपि। चीनी लिपि के संकेतों में सहस्राब्दियों के चीनी जीवन की परम्परा निहित है। चीनी लिपि में सहस्रों शब्द-संकेत होने पर भी इनके अंकन में किसी प्रकार का कोई असंतुलन नहीं है। इन संकेतों की प्रत्येक रेखा में, न केवल चीनी अर्थतत्व, अपितु चीनी जनता के रीति-रिवाज, उनकी परम्परा, उनके विचार तथा उनका इतिहास अन्तर्निहित है। चीनी सुलेखनकला में जिस प्रकार के उचित क्रम, रेखाओं की शुद्धता और दिमाग की दक्षता की आवश्यकता पड़ती है, उतनी संसार की किसी भी अन्य लिपि को लिखने में नहीं पड़ती। ध्वनियों की दृष्टि से कृपण होने पर भी लिखित रूप में यह भाषा परिपूर्ण है। इतना सब होने पर भी चीनी लिपि की अपनी अनेक कठिनाइयां हैं और इसपर अधिकार प्राप्त करना बहुत ही कठिन है।

सुमेरी लिपि की तरह हमें चीनी लिपि के आरंभिक विकास के अध्ययन के लिए कोई सामग्री नहीं मिलती। आन्याङ (वर्तमान होनान प्रान्त) से प्राप्त हजारों 'देववाणी अस्थियों' पर पहले-पहल हमें चीनी लिपि के दर्शन होते हैं। आन्याङ को शाङ-काल (१५२३-१०२७ ई० पू०) में पान-केङ (१४०१-१३७४ ई० पू०) ने अपनी राजधानी बनाया था। आन्याङ 'यिन्' नाम से चाउ-वंश की भी राजधानी रही है। किन्तु आन्याङ से प्राप्त पुरावशेषोंपर जो चीनी लिपि मिलती है, वह इसका आरंभिक स्वरूप न होकर, इसका विकसित स्वरूप है। शाङ-काल में चीनी चित्रलिपि ने एक भावमूलक-लिपि का रूप धारण कर लिया था। शाङ-काल में यह लिपि पशुओं की हड्डियों तथा कछुओं के कवचों पर लिखी जाती थीं। हड्डियों को आग पर तपाने से इनमें जो दरारें पड़ती थीं, उनके आधार पर उस समय के चीनी ओझा जनता को 'भविष्य' बतलाते थे और बाद में वही 'देववाणी' उन हड्डियों पर अंकित कर दी जाती थी। इसीलिए शाङकाल की इन हजारों अंकित हड्डियों को 'देववाणी-अस्थियों' का नाम दिया गया है। काँस के बर्तनों पर भी लिपि-संकेत मिलते हैं। इस काल की चीनी-लिपि के संकेतों की संख्या दस हजार तक पहुंचती हैं। अतः प्राप्त प्रमाणों के आधार पर हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि शाङ-काल के आरंभ-काल (ई०पू० १५वीं शताब्दी) में चीनी लिपि पूर्ण रूप से अस्तित्व में आ चुकी थी। इसके पहले की चीनी लिपि के उद्भव एवं विकास के बारे में हमें कोई ठोस जानकारी नहीं मिलती। कन्फूसी-संहिताओं में ज्योतिष से सम्बंधित एक प्राचीन पुस्तक --'याओ' का पंचांग--संगृहीत है। ज्योतिषीय गणनाओं के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि इस पुस्तक की रचना ई० पू० २४ वीं शताब्दी में हुई थी। इससे हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि उस समय चीनी लोग ज्योतिष की जानकारी रखते थे

ग्रौर महत्वपूर्ण घटनाग्रों को लिपिबद्ध भी करने लग गये थे। किन्तु उस समय चीनी लिपि का स्वरूप क्या था, इसके बारे में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती।

चीनी ग्राख्यानों के ग्रनुसार, फू-ह्सी (ल० २८५० ई० पू०) ने चीनी लिपि का ग्राविष्कार किया था। इसके बाद पीत-सम्राट हुग्राङ-ती (२६८७-ई०पू०) के मंत्री त्साङ-ची ने इस लिपि में सुधार करके इसे स्थायी रूप दिया। पीत-सम्राट के शासनकाल में दो इतिहास-मंत्री थे। इनमें से एक सिंहासन के बायीं ग्रोर बैठता था ग्रौर सम्राट तथा मंत्रियों के भाषणों को लिपिबद्ध करता जाता था। दूसरा इतिहास-मंत्री सिंहासन के दायीं ग्रोर बैठता था ग्रौर उस समय की ऐतिहासिक घटनाग्रों को लिपिबद्ध करता जाता था। किन्तु उस समय की कोई भी लिखित समाग्री ग्राज उपलब्ध नहीं है। प्रसिद्ध चीनी बौद्ध-कोश 'फा युवन् चु लिन्' (६६८ ई०) में, भारतीय बौद्ध-ग्रन्थ 'ललित-विस्तर' की तरह, लिपियों की एक सूची दी हुई है। इस सूची में पहला नाम ब्राह्मी का ग्रौर दूसरा खरोष्ठी का है। ग्रागे विभिन्न लिपियों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "लिखने की कला का शोध तीन दैवीशक्ति वाले ग्राचार्यों ने किया। उनमें सबसे प्रसिद्ध 'ब्रह्मा' है, जिसकी लिपि (ब्राह्मी) बायीं ग्रोर से दाहिनी ग्रोर पढ़ी जाती है। उसके बाद कग्रलु (खरोष्ठ) है, जिसकी लिपि (खरोष्ठी) दाहिनी तरफ से बायीं तरफ पढ़ी जाती है, ग्रौर सबसे कम महत्व की 'त्साङ-की' (या त्साङ्-ची) है, जिसकी लिपि (चीनी) ऊपर से नीचे की तरफ पढ़ी जाती है। ब्रह्मा ग्रौर खरोष्ठ भारत में हुए ग्रौर त्साङ्-ची चीन में। ब्रह्मा ग्रौर खरोष्ठ ने ग्रपनी लिपियां देवलोक से पाईं ग्रौर त्साङ-की ने ग्रपनी लिपि पक्षी ग्रादि के पैरों के चिह्नों से बनाई।"

कुछ चीनी संकेतों का विकास

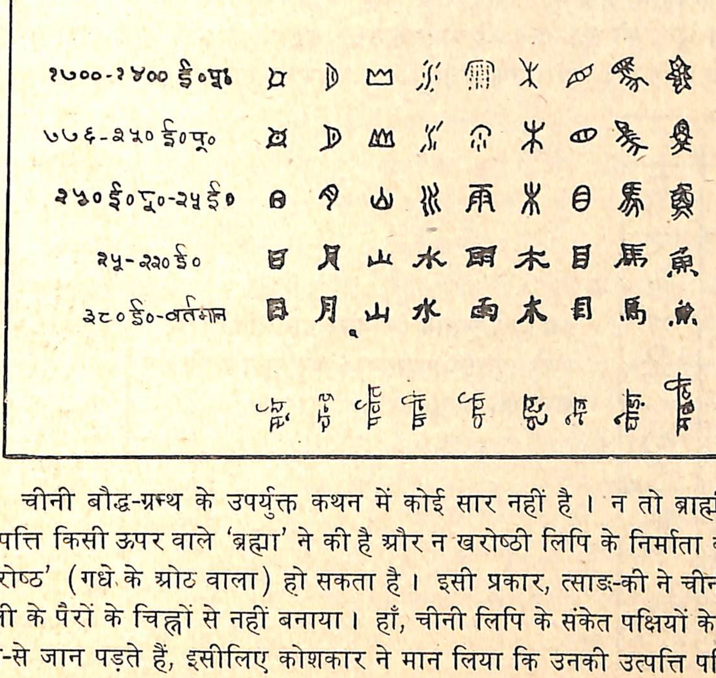

चीनी बौद्ध-ग्रन्थ के उपर्युक्त कथन में कोई सार नहीं है। न तो ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति किसी ऊपर वाले 'ब्रह्मा' ने की है ग्रौर न खरोष्ठी लिपि के निर्माता का नाम ही 'खरोष्ठ' (गधे के ग्रोठ वाला) हो सकता है। इसी प्रकार, त्साङ-की ने चीनी लिपि को पक्षी के पैरों के चिह्नों से नहीं बनाया। हाँ, चीनी लिपि के संकेत पक्षियों के पैरों के निशान-से जान पड़ते हैं, इसीलिए कोशकार ने मान लिया कि उनकी उत्पत्ति पक्षियों के

पैरों के निशानों के आधार पर हुई है। हम ऊपर बतला चुके हैं कि पीत-सम्राट के मंत्री त्साङ-ची ने चीनी लिपि में सुधार करके इसे स्थायी रूप दिया था। त्साङ-ची के बारे में कहा जाता है कि एक दिन रास्ते में जाते समय उसने एक कछुआ देखा और उसके आकार पर उसने विचार किया। उसने सोचा कि इसका एक रेखाचित्र खींचकर इससे कछुए का बोध कराया जा सकता है। इसके बाद उसने दूसरे जीवों (मनुष्य, पशु, पक्षी, मछली सर्प आदि) और निर्जीव वस्तुओं (पर्वत, नदी, सूर्य, चंद्र, मकान, वर्षा आदि) पर भी सोचा और इनके लिए उचित चित्र बनाकर उनके द्वारा इनके भाव व्यक्त करने की परम्परा चलायी। इसी से बाद में चीनी लिपि अस्तित्व में आई। इस कथा में सचाई जान पड़ती है।

चीनी भाषा मौलिक रूप से एकाक्षरी है। इसलिए चीनी-लिपि के संकेत भी एकाक्षरी हैं। यही कारण है कि सहस्राब्दियों की उथल-पुथल के बाद भी चीनी-लिपि में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। शब्दों के उच्चारणों में तो बहुत परिवर्तन हुआ है, किन्तु लिखित संकेतों में बहुत कम परिवर्तन हुआ है। संसार की अन्य सभी प्राचीन लिपियों ने अपने चित्रात्मक स्वरूप को छोड़कर अक्षरात्मक या वर्णमालात्मक रूप को ग्रहण कर लिया है; किन्तु चीनी लिपि पिछले लगभग चार हजार वर्षों में भी अपने उस आरंभिक चित्रात्मक स्वरूप को नहीं छोड़ पाई है। आधुनिक संकेतों को 'देववाणी अस्थियों' में भी पहचाना जा सकता है। आधुनिक संकेतों के क्रमिक विकास के आरंभ को शाङ-काल के चित्र-संकेतों में देखा जा सकता है। शाङ-काल में लगभग २५०० चित्र-संकेत मिलते हैं। बाद के चाउ-काल (आरंभः १०२७ ई० पू०) में कोई विशेष परिवर्तन नहीं मिलता। पूर्व चाउ-काल (१०२७-७७१ ई० पू०) के अधिकांश लेख कांस्य-पात्रों पर अंकित मिलते हैं।

सबसे प्राचीन चीनी लेख शाङ-काल की 'देववाणी अस्थियों' पर तो मिलते हैं, किन्तु इन लेखों की उस समय की चीनी भाषा के स्वरूप को आज जान पाना संभव नहीं है। चीनी लिपि यदि अक्षरात्मक होती तो उस समय की भाषा के स्वरूप को समझा भी जा

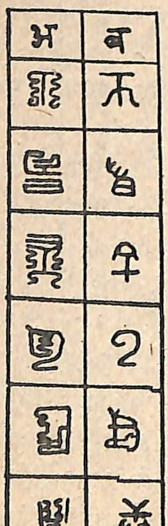

(अ) ता चुआन (महान मुद्रा-लिपि) और (ब) हसिएओ-चुआन् (लघु मुद्रा-लिपि) के संकेतों की तुलना।

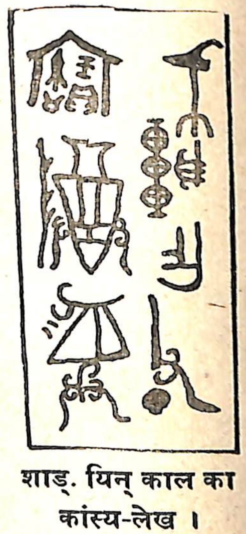

शाङ् यिन् काल का कांस्य-लेख।

सकता है। आज उस समय के चीनी लेखों को आधुनिक भाषाओं में पढ़ा तो जा सकता है, परन्तु इनसे उस समय की भाषा पर प्रकाश नहीं पड़ता।

शाङ-काल की प्राचीन चीनी चित्रलिपि को 'कु-वेन्' (प्राचीन आकृतियों) का नाम दिया गया है। कालान्तर में इसी से और दो लिपि-प्रकार 'महान मुद्रा-लिपि' (ता-चुआन्) तथा 'लघु मुद्रा-लिपि (ह्सिएओ-चुआन्) अस्तित्व में आए। 'महान मुद्रा-लिपि' पहले-पहल ई० पू० ९वीं शताब्दी के एक ग्रन्थ में प्रकट होती है और 'लघु मुद्रा-लिपि' का प्रचार लि-स्सु और प्रथम छिन् सम्राट (ई० पू० तीसरी शताब्दी) के दो मंत्रियों ने किया था। लि-स्सु ने चीनी लिपि में काफी सुधार भी किये (२१३ ई० पू०)। उस समय चीन में चीनी लिपि के विभिन्न प्रकार अस्तित्व में थे। इन सबके आधार पर लगभग ३३०० संकेतों की एक संयुक्त लिपि को लि-स्सु ने संयोजित किया। लिपि-संकेतों के इस एकीकरण का कालान्तर के इनके विकास पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इस सुधार से चीनी लिपि को स्थिरता मिली और किसी भी बोली में इन्हें पढ़ पाना सम्भव हुआ। इसके बाद चीनी लिपि की आन्तरिक रचना में नगण्य-सा परिवर्तन हुआ है। इसके बाद की शताब्दियों में, आवश्यकता के कारण, केवल संकेतों की संख्या में ही वृद्धि हुई है। चीनी संकेत अब भी 'मुद्रा-स्वरूप' के ही थे। वारिङ-काल में 'महान मुद्रा-लिपि' का व्यवहार होता था और कालान्तर में 'लघु मुद्रा-लिपि' का प्रयोग होने लग गया था। छिन्-काल में जो सरकारी लिपि (लि-शु) बनाई गई थी, उसका उपयोग हान्-काल में भी होता रहा। हान्-काल के उत्तरार्ध में इस लिपि ने, तेजी से लिखने के कारण, 'छियाई-शू' लिपि का रूप धारण कर लिया था। सभी दृष्टियों से यह 'छियाई-शू' लिपि आधुनिक चीनी लिपि के समान है।

चीनी लिपि के बाह्य स्वरूप पर लेखन-सामग्री का गहरा असर पड़ा है। जहां तक चीन की प्राचीन लेखन-सामग्री का सवाल है, हमें ई०पू० का कोई चीनी हस्तलिखित ग्रन्थ नहीं मिलता। हड्डियों और कच्छप-कवचों पर अंकित लेख 'देववाणियों' से सम्बंधित हैं और कांस्य-पात्रों पर अंकित लेख धार्मिक कृत्यों से सम्बंध रखते हैं। शाङ-काल के सामान्य लेख काष्ठ-फलकों तथा बाँसों पर लिखे मिलते हैं। आन्याङ के पुरावशेषों में एक ऐसे उच्चित्र के दर्शन होते हैं, जिसमें कुछ काष्ठ-फलकों को इनके छेदों में रस्सी डालकर बांधा हुआ दरशाया गया है। इन्हें हम उस समय की 'पुस्तकें' कह सकते हैं। किन्तु उत्तरी चीन की जलवायु के कारण उस समय के अंकित काष्ठ-फलक नष्ट हो गए हैं।

पुरातन काल में चीनी लिपिक बाँस की नुकीली कलम से लिखते थे। हड्डियों पर धातु की नुकीली कील से संकेत उत्कीर्ण किए जाते थे। परम्परा तो यह बतलाती है कि ब्रुश-कलम ('पि') का अविष्कार छिन्-जनरल मेङ-थियेन् ने २१५ ई० पू० में किया था; किन्तु तथ्य यह है कि आन्याङ के पुरावशेषों में भी ब्रुश-कलम के निशान मिलते हैं और कम से कम तीन हड्डियों पर ब्रुश-कलम का उपयोग देखने को मिलता है। इसलिए हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि ब्रुश-कलम का आविष्कार मेङ-थियेन् के कम से कम एक हजार वर्ष पहले हो चुका था। मेङ-थियेन् ने शायद इस ब्रुश-कलम में कुछ सुधार ही की थी। ब्रुश-कलम का प्रचार बढ़ने पर चीनी लिपि रेशमी कपड़ों पर भी लिखी जाने लगी। लिखने के लिए ब्रुश का इस्तेमाल होने के कारण चीनी लिपि अधिकाधिक कलात्मक होती गई। वस्तुतः चीनी सुलेखन-कला चित्रकला से प्रतिस्पर्धा कर सकती है। चौथी शताब्दी ईसवी के दो सुलेखक चीनी-लिपि के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। इनके

नाम हैं : वाङ-ह्सी-ची (३२१-३७९ ई०) और वाङ-ह्सिएन्-ची (३४४-३८८ ई०)।

किन्तु चीनी सुलेखन-कला को सबसे अधिक प्रोत्साहन मिला कागज के आविष्कार से। परम्परा से तो यही ज्ञात होता है कि पूर्वी हान्वंश के एक अधिकारी त्साई-लुन (मृत्यु ११४ई०) ने अपने सम्राट को पहली बार १०५ ई० में कागज भेंट किया था। परन्तु अन्य उल्लेखों से ज्ञात होता है कि चीन में इसके पहले ही कागज का आविष्कार हो चुका था। १९३१ में एङसिन्-गोल् स्थान पर कुछ अंकित बांसों के साथ कागज के अवशेष प्राप्त हुए हैं। पुराविद लाओ-कान् के मतानुसार ये कागज-अवशेष ९८ ई० के बाद के नहीं हो सकते। सामान्यतः हम कह सकते हैं कि चीन में ईसा की पहली शताब्दी में कागज का आविष्कार हो चुका था। ईसा की आरंभिक शताब्दियों में चीन का कागज मध्य-एशिया के प्रमुख नगरों में भी पहुंच चुका था। मध्य-एशिया के लोउ-लान् स्थान से ल० २६० ई० के, निया स्थान से ल० २५०-३०० ई० के और तुर्फान से ३९९ ई० के कागज-पत्र प्राप्त हुए हैं। चीन में कागज का आविष्कार होने पर भी जब तक मुद्रण का आविष्कार नहीं हुआ, इसकी उपयोगिता का कोई विशेष महत्व नहीं था। कारण यह है कि मिस्र के पेपीरस-कागज की तरह चीन का कागज अधिक दिनों तक नहीं टिक सकता था। यही कारण है कि चीन में अधिक प्राचीन हस्तलिपियां नहीं मिलतीं। १००० ई० के आसपास तुन्-हुआङ की एक गुफा में कुछ हस्तलिपियां सुरक्षित रख दी गई थीं। इस ग्रन्थालय की खोज हंगेरी के पुरातत्ववेत्ता ऑरेल स्टाइन ने १९०७ ई० में की है। चीन में जो सबसे प्राचीन हस्तलिपि प्राप्त हुई है, वह ४०६ ई० की है।

चीनी लिपि के इतिहास में एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि चीनी विद्वान समय-समय पर चीनी लिपि के ढ़ेर सारे शब्द-संकेतों को शब्दकोशों में संग्रहित करके इन्हें मानक रूप देते आये हैं। चीनी शब्दकोशों के इतिहास का आरंभ पुरातन ग्रन्थों की चीनी टीकाकारों की व्याख्याओं से होता है। इस प्रकार का सर्वप्रथम ग्रन्थ है, कन्फूसियस (५५१-४७९ ई० पू०) के शिष्य त्सु-हसिया द्वारा लिखा हुआ 'एर्ह्-या'। इस ग्रन्थ की शब्दावली को विषयों के अनुसार १९ भागों में विभक्त किया गया है। छिन्-सम्राट के मंत्री लिस्सु द्वारा ई० पू० तीसरी शताब्दी में तैयार की गई शब्द-संकेतावली भी एक प्रकार का शब्दकोश ही था। आज अप्राप्य इस शब्दकोश का नाम था, 'सान्-त्साङ'।

ई० सन् के आरंभ के बाद जो शब्दकोश तथा विश्वकोश तैयार किए गए, वे दो स्वरूपों के हैं : या तो उनकी रचना 'एर्ह्-या' की तरह विषयानुसार की गई है, या संकेतों के अन्तर्निहित मौलिक-तत्वों (रेडिकलों) के आधार पर की गई है। दूसरे प्रकार का व्युत्पत्तिमूलक शब्दकोश 'शुओ वेन चिएह-त्सु' लगभग १२० ई० में ह्सु-शेन ने तैयार किया था। इसकी रचना ४५० 'रेडिकलों' अर्थात् मूल-शब्दों के आधार पर हुई है। इसमें कुल ९३५३ शब्द-संकेत हैं। इसके अलावा, ११६३ द्वित्व-संकेत भी हैं। इस आरंभिक शब्दकोश के आधार पर कालान्तर में अनेक शब्दकोश तैयार किए गए। इस पद्धति पर १३वीं शताब्दी में रचित एक प्रसिद्ध शब्दकोश है, 'काङ-ह्सी-त्सु-तिएन्'।

चीनी लिपि को सीखना बहुत ही कठिन काम है। चीनी भाषा में कुल मिलाकर ५०-६० हजार चित्र-संकेत हैं। इनमें से ६-७ हजार संकेतों का अधिक उपयोग होता है। इस लिपि को सीखने में बालकों को अधिक समय तो लगता ही है, आधुनिक विकसित जीवन में भी कल्पनातीत असुविधाएं होती हैं। टाइपों की अधिकता के कारण मुद्रण की कठिनाइयां स्पष्ट ही हैं। इसलिए अब चीन का नया साम्यवादी शासन इस जटिल

लिपि में भी सुधार करने में जुट गया है। लगभग तीन हजार वर्षों तक व्यवहार में आई हुई और चीनी जन-जीवन में रूढ़ इस लिपि में परिवर्तन करना कोई सरल कार्य नहीं है। इसलिए चीन का नया शासन इस लिपि-सुधार को दो स्तरों में पूर्ण करना चाहता है। पहला स्तर––वर्तमान संकेतों की संख्या को घटाकर और इनके स्ट्रोकों को न्यूनतम करके इनका सरलीकरण करना––नई पीढ़ी पर लागू हो गया है। दूसरे स्तर की भी शुरुआत हो गई है। चीनी सरकार ने अपनी राष्ट्रीय भाषा––पेकिङ की बोली––के लिए एक वर्णमालात्मक-लिपि का चुनाव कर लिया है। इसके लिए अभी उन्होंने रोमन लिपि के अक्षरों का चुनाव किया है और पेकिङ-बोली के चार सुरों के लिए अक्षरों के ऊपर रखने के लिए चार संकेत-चिह्न भी चुन लिए हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि कुछ ही दशकों में चीन अपनी भाषा के लिए वर्णमालात्मक लिपि पूर्ण रूप से स्वीकार कर लेगा। तब वर्तमान चीनी लिपि एक 'पुरालिपि' का रूप धारण कर लेगी।

५

जापानी लिपि

चीनी भाषा की तरह जापानी एकाक्षरात्मक भाषा नहीं है। यह एक योगात्मक (श्लिष्ट योगात्मक) भाषा है। भाषाविदों में इस बात को लेकर बड़ा मतभेद रहा कि जापानी को किस भाषा-परिवार में रखा जाय। लेकिन अब अधिकांश भाषाविद इसे यूराल-अल्ताई भाषा-परिवार में रखने के पक्ष में हैं। जापान में बोलचाल की भाषा लिखने की भाषा से कुछ भिन्न रही है। लिखने की भाषा को 'बुङो' कहते हैं और बोलने की भाषा को 'कोङो') इन दो भाषा-प्रकारों में मुख्यत: शब्दों के अन्त में लगनेवाले विभक्ति-प्रत्ययों का अन्तर है। बोङों का इस्तेमाल अधिकतर सरकारी काम-काज में होता रहा है; उपन्यास, समाचारपत्र आदि अधिकतर बोलचाल की भाषा में ही छपते रहे हैं। अब तो इन दो भाषा-प्रकारों का रूप लगभग एक-सा हो गया है। चीनी भाषा का जापानी भाषा के लिए वैसा ही महत्व है जैसा कि भारतीय भाषाओं के लिए संस्कृत का। जापानी भाषा में चीनी भाषा से बहुत-से शब्द उधार लिये गये हैं, और आज भी लिये जा रहे हैं। बौद्धधर्म के माध्यम से जापानी में कुछ संस्कृत शब्दों का भी प्रवेश हुआ है। जापानी में इस प्रकार के कुछ शब्द हैं: बुत्सु (बुद्ध), बोन् (ब्रह्मा), ब-र-मोन् (ब्राह्मण), तुदुभि (दुन्दुभि), पति (पात्र), विनयक (विनायक), येम (यम), विशमोन (वैश्रवण), विरुशन (वैरोचन), सुतर (सूत्र), बिकु-बिकुनि (भिक्षु-भिक्षुणी). शमोन् (श्रमण), इत्यादि।

पश्चिमी सभ्यता के संपर्क में आने के बाद जापान ने विदेशी शब्दों को बहुतायत में अपनाया है, विशेषकर अंग्रेजी शब्दों को। परन्तु उन्होंने इन शब्दों को अपने जापानी उच्चारण के अनुसार सरल बना लिया है। इसके चंद उदाहरण हैं : पेजी (पेज), बसु (बस), पोन्दो (पाउन्ड), दोरेसु (ड्रेस), गुरान्दो (ग्राउन्ड) कुरिमू (क्रिम), ताइपुराइतु (टाइपरायटर), फोतोबुरू (फुटबाल), कारुशुमु (कैल्शियम), इत्यादि।

जापानियों की अपनी कोई देशी लिपि नहीं थी। जापानी परम्परा के अनुसार, प्राचीन काल में एक प्रकार की ग्रन्थि-योजना का अस्तित्व रहा है, परन्तु यह योजना लिपि नहीं हो सकती। प्राचीन ग्रन्थों में कुछ अन्य लिपियों के भी उल्लेख मिलते हैं, परन्तु आज इनका कोई नामो-निशान देखने को नहीं मिलता।

जापान अपनी बहुत-सी बातों के लिए चीन का ऋणी है। कोरिया के रास्ते ही चीनी संस्कृति का जापान में प्रवेश हुआ था। ईसा की तीसरी शताब्दी में चीनी लिपि का जापान में प्रवेश कोरिया के माध्यम से हुआ है। परम्परा है कि तीसरी शताब्दी में जापान ने कुछ राजदूत कोरिया भेजे थे। लौटते समय वे अपने साथ ओनिन या वाङ-जेन नाम के एक चीनी विद्वान को जापान ले आए। ओनिन ने जापानियों को चीनी लिपि

का ज्ञान कराया था। एक अन्य उल्लेख के अनुसार, 'आचिकी' और 'वानी' इन दो कोरियाई विद्वानों ने ईसा की तीसरी शताब्दी में जापान में लेखन-कला का प्रचार किया। बाद में ईसा की छठी शताब्दी में जापान में बौद्धधर्म का प्रचार हुआ तो बहुत-से चीनी बौद्ध-भिक्षु और विद्वान जापान में आए। इससे चीनी भाषा और लिपि का जापान में प्रभाव बढ़ा। चीनी से जापानी में बौद्ध-ग्रन्थों का अनुवाद करने के लिए चीनी भावचित्रों को अपनाना पड़ा। यह कोई आसान काम नहीं था। जापान की प्राचीन पुस्तक "कोजिकी" (७११-७१२ ई०) से इस कठिनाई का आभास मिलता है।

जापानी लिपि में हजारों भावचित्र हैं। ये भावचित्र जापानी में समय-समय पर चीनी लिपि से लिए गए है और इन्हें जापानी भावों के अनुरूप बना लिया गया है। इन सभी भावचित्रों पर अधिकार प्राप्त करना बहुत ही कठिन काम है। उच्च शिक्षा प्राप्त जापानी व्यक्ति भी मुश्किल से सात-आठ हजार भावचित्रों का ज्ञान रखता है। बीसवीं शताब्दी के शिक्षाविशारदों ने इन भावचित्रों की संख्या घटाने का काफी प्रयत्न किया है; फिर भी, किसी भी शिक्षित कहे जानेवाले व्यक्ति को कम से कम लगभग १२०० भावचित्र जानने ही पड़ते हैं। जापानी लिपि में इन भावचित्रों का इस्तेमाल केवल संज्ञाओं, विशेषणों और धातुओं के लिए ही होता है। लेकिन जापानी, चीनी की तरह, एकाक्षरी भाषा नहीं है; यह एक योगात्मक भाषा है और इसमें व्याकरण के प्रत्यय आदि लगते हैं। आरंभ में इन प्रत्ययों के लिए कुछ समान उच्चारण वाले चीनी भावचित्रों का इस्तेमाल होता था। जैसे, चीनी भावचित्र 'थियेन्' (आकाश), जिसका जापानी उच्चारण 'तेन्' था, अन्तप्रत्यय 'ते' के लिए प्रयुक्त होता था। लेकिन इस योजना में बहुत दिक्कत थी; इसलिए दो प्रकार की अक्षरमालाओं का आविष्कार किया गया।

ईसा की आठवीं और नौवीं शताब्दी में जापान में दो प्रकार की अक्षरात्मक (सिलेबिक) लिपियां अस्तित्व में आईं। इनमें से पहली अक्षरमाला "काताकाना" ८वीं शताब्दी के मध्य में अस्तित्व में आई। कहा जाता है कि 'काताकाना' का जनक "किबी-नो-माबी" नामक कोई व्यक्ति था। दूसरी अक्षरमाला "हिराकाना" या "हिरागाना" को एक बौद्धभिक्षु कोबो-दैशी ने ९वीं शताब्दी में बनाया।

इन दोनों अक्षरमालाओं को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय लिपि के सम्पर्क में आने पर ही जापानी बौद्ध विद्वानों ने इन अक्षरमालाओं को जन्म दिया है। 'काताकाना', के प्रथम पांच अक्षर "अ-इ-उ-ए-ओ" हैं, इसलिए इसे 'अइउएओ' अक्षरमाला भी कहते हैं। यहां स्पष्ट दिखाई देता है कि भारतीय वर्णमाला के आरंभिक स्वरों के अनुसार ही 'काताकाना' के इन आरंभिक पांच स्वराक्षरों का निर्माण हुआ है। 'हिरागाना' अक्षरमाला के प्रथम तीन अक्षर "इ-रो-हा" हैं, इसलिए हिरागाना को "इरोहा" अक्षरमाला भी कहते हैं। इसका जनक बौद्धभिक्षु कोबो-दैशी कवि भी था। इस 'हिरागाना' अक्षरमाला के सारे अक्षर क्रम से पंक्ति में रखे जायें, तो इनसे एक ऐसी काव्य-पंक्ति बनती है, जिसमें किसी भी अक्षर की पुनरावृत्ति नहीं होती। निस्संदेह यह काव्य-पंक्ति बौद्ध-दर्शन से संबंधित है, क्योंकि इसका अर्थ होता है—"इस क्षणिक संसार में सभी कुछ अनित्य है। इसके मायाजाल तथा दिखावे से मैं बचना चाहता हूं।"

यद्यपि इन दोनों अक्षरमालाओं को बनाने की प्रेरणा निश्चित रूप से भारतीय वर्णमाला से मिली थी, तो भी इनके संकेत चीनी भावचित्रों के आधार पर ही बनाये गये हैं। वस्तुतः इन जापानी 'कानाओं' को सही माने में हम अक्षरमालाएं भी नहीं कह सकते,

क्योंकि इनका स्वतन्त्र लिपि-संकेतों के रूप में इस्तेमाल नहीं होता। जापानी में इनका उपयोग व्याकरण-जनित शब्द-रूपान्तरों को व्यक्त करने के लिए ही होता है। भावचित्रों के साथ उनके उच्चारण को व्यक्त करने के लिए भी इनका उपयोग होता है। विदेशी नामों को जापानी में लिखने के लिए इनका इस्तेमाल होता ही है। जापान की अधिक प्रचलित लिपि का नाम "काना-माजिरी" है। इसमें चीनी भावचित्रों के साथ 'हिरागाना' को जापानी उच्चारण जानने के लिए और अन्तप्रत्यय व्यक्त करने के लिए लिखा जाता है। दूसरे प्रकार की जापानी लिपि का नाम "शिन-काताकाना" है, जिसमें चीनी भावचित्रों के साथ 'काताकाना' अक्षरों का प्रयोग होता हैं।

'काताकाना' और 'हिरागाना' दोनों में ही मूलतः ४७ अक्षर हैं। इनके अलावा, अनुच्चारित 'न' के लिए एक चिह्न है और दो अतिरिक्त चिह्न और हैं। इस प्रकार, कुल मिलाकर ५० अक्षर-संकेत बनते हैं। चीनी लिपि की तरह जापानी लिपि को लिखने में बड़ी सावधानी की जरूरत होती है। आरंभ में जापानी लिपि, चीनी की तरह, ऊपर से नीचे कॉलमों में बायीं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी। परन्तु आजकल इसके लिए कोई सुस्थिर नियम नहीं है।

जापानी अक्षरमालाएं जापानी भाषा के लिए स्वतन्त्र रूप से भी उपयोग में लाई जा सकती हैं। भावचित्रों का त्याग करके "काना" अक्षरों को ही पूर्ण लिपि के रूप में व्यवहार में लाने के अनेक प्रयास भी हुए हैं; लेकिन इन प्रयासों को पूर्ण यश नहीं मिल पाया। द्वितीय महायुद्ध में जापान की करारी हार के बाद वहां पर अमरीका का प्रभाव बढ़ने पर जापानी भाषा को रोमन लिपि में ढालने के भी प्रयत्न हुए हैं; किन्तु इस प्रयास को भी सफलता नहीं मिली। अब तो चीनी लोग ही अपनी पुरानी लिपि को छोड़ने जा रहे हैं। हम आशा रखते हैं कि तब तक जापानी लोग भी चीन से प्राप्त अपने प्राचीन लिपि-संकेतों को छोड़कर कोई वर्णमालात्मक लिपि अपना लेंगे।

६

हित्ती लिपि

हमारी प्राचीन सभ्यताओं की कहानियां भी बड़ी अद्भुत हैं। कुछ सभ्यताएं अपने स्मारकों के रूप में हमेशा ही जीवित रहीं, तो कुछ जमीन के भीतर सो गईं। मिस्र की हाइरोग्लिफिक लिपि का ज्ञान लम्बे समय तक लुप्त हो गया था; पर अपने भव्य स्मारकों--पिरामिडों तथा मन्दिरों--के माध्यम से मिस्र की प्राचीन सभ्यता जीवित रही। यूनानी तथा रोमन सभ्यताएं भी अपने स्मारकों के रूप में हमेशा जीवित रहीं। किन्तु इस धरती पर ऐसी भी कुछ सभ्यताओं का अस्तित्व रहा है, जो जमीन के भीतर दफ़ना दी गई थीं। इनमें कुछ ऐसी भी सभ्यताएं थीं जिनका नामो-निशान भी मिट गया था। १९२० तक कौन जानता था कि भारत में आर्यों के आगमन के पहले एक विकसित सभ्यता--सिन्धु-सभ्यता--का अस्तित्व रहा है ? उसी प्रकार, पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध तक किसी को भी यह अंदाजा नहीं था कि १६००-१४०० ई.पू. के बीच क्षुद्र-एशिया (एशिया माइनर) में हित्ती (या खत्ती) लोगों का एक शक्तिशाली साम्राज्य रहा है। अब यह सिद्ध हो गया है कि हित्ती लोग आर्य जाति से संबंधित थे और इनकी भाषा भारोपीय-परिवार से संबंधित है। ई.पू. दूसरी सहस्राब्दी में पश्चिम एशिया में हित्ती तथा अन्य आर्य शासकों के अस्तित्व ने आर्य जाति के मूल स्थान तथा इसके विस्तार के प्रश्न को पुनः विचारणीय बना दिया है।

प्रथम हित्ती पुरावशेष को खोज निकालने का श्रेय प्राप्त है हाजी शेख इब्राहिम को। ये हाजी साहब मुसलमान नहीं थे। इनका असली नाम था जोहान लुर्डविग बर्कहार्ड। १७८४ में स्विट्जरलैंड में बर्कहार्ड का जन्म हुआ था। यूरोप के विश्वविद्यालयों में उन्होंने वैज्ञानिक विषयों और अरबी भाषा तथा संस्कृति का अध्ययन किया था। उन्हें घुमक्कड़ी का शौक था। अरबी संस्कृति का प्रत्यक्ष अध्ययन करने और अरब देशों की यात्रा करने के लिए ही वह मुसलमान बने थे। उन्होंने मक्का, मदीना, अलेपो आदि स्थानों की यात्राएं की थीं।

१८१२ में अपनी एक यात्रा के दौरान बर्कहार्ड सीरिया के हामा (बाइबल के 'हमाथ') शहर पहुंचा। यहां के बाजार में एक मकान के कोने में उसने "एक ऐसा पत्थर देखा जिस पर छोटी-छोटी आकृतियां तथा लिपि-संकेत उत्कीर्ण थे; जो हाइरोग्लिफिक लिपि जैसे प्रतीत होते थे, किन्तु जो मिस्र की लिपि जैसे नहीं थे।" बर्कहार्ड ने अपने "सीरिया तथा पवित्र देशों की यात्रा" (लंदन, १८२२) ग्रन्थ में इस पत्थर का उल्लेख किया था, किन्तु तत्कालीन पुराविदों ने इस उल्लेख की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। उस समय यूरोप के पुराविद मिस्र की हाइरोग्लिफिक लिपि में ही खोए हुए थे। स्वयं बर्कहार्ड को भी अपनी इस खोज के महत्व का अंदाजा नहीं था। चंद पंक्तियों में इस पत्थर का उल्लेख

करके ही उसने संतोष कर लिया था।

इसी 'हामा-पत्थर' को पुनः खोज निकालने के लिए साठ साल और लगे। दो अमरीकी, आगस्टस जान्सन और डा. जेसुप, एक दिन हामा के बाजार की सैर कर रहे थे तो उन्होंने इस पत्थर को देखा। ये दो विदेशी जब पत्थर का नज़दीक से निरीक्षण करने लगे, तो उनके चहुंओर देखने वालों की एक भीड़ जमा हो गयी। स्थानीय लोगों ने उन्हें यह भी बताया कि यहां इस प्रकार का केवल यही एक पत्थर नहीं है, इस प्रकार के तीन पत्थर और हैं। परन्तु जब जान्सन और जेसुप इस पत्थर पर अंकित लेख की नकल उतारने लगे, तो भीड़ ने उन्हें रोका। इन दोनों 'काफ़िरों' को वहां से दुम दबाकर भागना पड़ा। इसके बाद ड्रेक, पामेर तथा रिचार्ड बर्टन ने इस पत्थर के लेख की नकल उतारने के कई प्रयत्न किए, किन्तु स्थानीय जनता के विरोध के कारण किसी को इसमें सफलता नहीं मिली। विदेशियों के बढ़ते कुतूहल को देखकर हामा के निवासियों ने इस पत्थर को नष्ट तक कर देने की धमकी दी थी।

ऐसी नाजुक स्थिति में किसी उच्च पदाधिकारी का प्रभाव ही काम आ सकता था। उस समय सीरिया तुर्की राज्य का एक प्रांत था। सौभाग्य से १८७२ में प्राचीन संस्कृति के प्रेमी सुबी पाशा की सीरिया के गर्वनर के रूप में नियुक्ति हुई। जब उसे हामा-पत्थर के बारे में जानकारी मिली तो इसे देखने के लिए वह हामा पहुंचा। उसने अपने साथ दमिश्क के ब्रिटिश कौन्सुल किर्बी ग्रीन तथा आइरिश-मिशनरी विलियम राइट को भी ले लिया था। पाशा जानता था कि पत्थरों को निकालते समय स्थानीय जनता विरोध करेगी, इसलिए वह अपने साथ कुछ सिपाही भी ले गया था। इन लोगों ने उपर्युक्त हामा-पत्थर के अलावा वहीं से चार और पत्थर प्राप्त किये। स्थानीय जनता ने खूब विरोध किया, किन्तु गवर्नर के सामने उनकी क्या चलती ? इनमें से एक पत्थर को स्थानीय लोग बड़ा पवित्र मानते थे। उनका विश्वास था कि गठिया से पीड़ित कोई रोगी यदि इस पत्थर पर लेटे तो उसका यह रोग दूर हो सकता है ! ऐसे 'चमत्कारी' पत्थर को उठाकर ले जाते समय स्थानीय लोगों द्वारा विरोध होना स्वाभाविक था। लेकिन गवर्नर पाशा ने इन पांचों पत्थरों को उखड़वाकर इन्हें कुस्तुन्तुनिया के संग्रहालय के लिए रवाना कर दिया।

पर इसके पहले विलियम राइट ने इन पत्थरों पर अंकित लेखों के ठप्पे उतार लिए थे। इन ठप्पों का एक सेट उसने लंदन के ब्रिटिश-संग्रहालय को भेज दिया।

इसी प्रकार का और एक पत्थर अलेपो की एक मसजिद की दीवार में भी चुना हुआ १८७१ में देखा गया था। इसे चमत्कारिक मानकर लोग इस पर अपनी आंखें रगड़ते थे। बीच में कुछ साल के लिए स्थानीय लोगों ने इस पत्थर को छिपा रखा था, किन्तु बाद में पुनः यह अपने पूर्व स्थान में लगा दिया गया।

इसी प्रकार के लिपि-संकेत इ. जे. डेविस ने इवरीज़ (टाउरस पर्वत) के पास एक चट्टान पर उकेरे देखे थे। तब डेविस ने इस लिपि को 'हामाथाइट' का नाम दिया था। जब अधिकाधिक पुराविदों का ध्यान इस नई लिपि की ओर आकर्षित हुआ तो उन्हें अन्य उल्लेखों तथा अन्य स्थानों से प्राप्त इसी प्रकार की लिपि के पुरावशेष भी याद आने लगे। अंकारा से लगभग ७५ मील पूर्व की ओर बोगाज़-कोई देहात से, मारश (उत्तरी सीरिया) तथा काराबेल से पहले के यात्रियों ने इसी प्रकार की लिपि में अंकित कई पुरावशेषों का उल्लेख किया था। १८३९ में चार्ल्स टेक्सियर ने अलजा-हुयुक की 'उत्कीर्ण चट्टानों' तथा १८४२ में विलियम हैमिल्टन ने इन्हीं का उल्लेख किया था।

इन अवशेषों के प्राप्त होने पर अब पुराविदों के सामने सबसे बड़ा सवाल था --इस लिपि के निर्माता कौन थे ?

प्रसिद्ध पुराविद आर्चिबाल्ड साइस ने उस समय तक उपलब्ध सारे पुरावशेषों तथा उल्लेखों का अध्ययन करके १८७६ में 'सोसायटी ऑफ बिब्लिकल आर्केओलाजी' के सामने एक निबन्ध पढ़कर इस लिपि तथा इन पुरावशेषों के निर्माताओं को 'हित्ती' नाम दिया। साइस आक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आचार्य थे। साइस के इस हित्ती-सिद्धान्त का शुरू में जबरदस्त विरोध हुआ, किन्तु साइस अपने सिद्धान्त पर डटा रहा और इसके प्रमाण में नए-नए तथ्य पेश करता गया। १८८० में उसने उपर्युक्त बाइबल-सोसायटी के सामने और एक निबन्ध पढ़ा और इसमें सिद्ध किया कि ये तथा अनातोलिया से प्राप्त अन्य पुरावशेष हित्ती कृतियां हैं और मेसोपोटामिया के उत्तर का सारा पर्वत-प्रदेश तथा संपूर्ण क्षुद्र-एशिया किसी समय हित्ती जाति द्वारा शासित रहा है।

अब तो पुराविद हित्ती पुरावशेषों की ओर तेजी से आकर्षित हुए। यूरोप के पुराविद बड़ी संख्या में तुर्की-प्रदेश पहुंचने लगे और नए-नए पुरावशेष प्राप्त करते गये। १८७९ में ब्रिटिश-संग्रहालय की ओर से कार्चेमिश (करगमिश) में खुदाई की गयी और वहां से हित्ती हाइरोग्लिफिक लिपि के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए।

१८८७ में मिस्र के तेल-एल-अमर्ना स्थान से अभिलेखों का एक विशाल संग्रह मिल जाने से तो हित्ती इतिहास पर एक नया ही प्रकाश पड़ा। ये अभिलेख मिट्टी के फलकों पर कीलाक्षर लिपि में और प्रमुखतः अक्कदी भाषा में लिखे हुए थे। इन अभिलेखों का विषय था--१३७०-१३४८ ई.पू. के बीच मिस्र के शासकों तथा पश्चिम एशिया के शासकों के बीच हुआ राजनैतिक पत्र-व्यवहार। इन पत्रों में पैलेस्तीन तथा सीरिया के क्षत्रपों ने हित्ती शासकों का अक्सर उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, इन पत्रों में हित्ती राजा सुप्पिलुलीउमस का फरोहा अखनातन को लिखा हुआ एक पत्र भी मिलता है। इस पत्र में सुप्पिलुलीउमस ने अखनातन के सिंहासनारूढ़ होते समय उसे अपनी बधाइयां तथा शुभकामनाएं भेजी थीं। इस तेल-एल-अमर्ना पत्रावली में दो पत्र एक अज्ञेय भाषा में थे। ये 'अरज्ञवा' देश के राजा को लिखे गये थे। १९०२ में नार्वे के भाषाशास्त्री क्नुड्टजन ने जब इन 'अरज्ञवा पत्रों' का अध्ययन किया, तो उन्होंने इन पत्रों की भाषा में और भारोपीय परिवार की भाषाओं में काफी साम्य देखा। परन्तु उस समय इस मान्यता को स्वीकार करने के लिए कोई तैयार नहीं था।

बीसवीं शताब्दी का आरंभ होते-होते अब बहुत-से पुराविदों का विश्वास हो चला था कि बोगाज़-कोई में खुदाई करने से हित्ती सभ्यता के चिह्न प्राप्त हो सकते हैं। साइस इस योजना को प्रस्तुत करनेवालों में अग्रणी थे। साइस ने लिवरपुल-विश्वविद्यालय की ओर से आयोजित एक अभियान के लिए तुर्की सरकार से बोगाज़-कोई की खुदाई के लिए अनुमति भी प्राप्त कर ली थी और गारस्टाग के नेतृत्व में ब्रिटिश अभियान-दल बोगाज़-कोई को रवाना भी हो गया था। परन्तु इसी बीच तुर्की सरकार ने ब्रिटिश पुराविदों को दी गई अनुमति वापिस ले ली और बदले में बोगाज़-कोई की खुदाई करने की अनुमति जर्मन ओरियंटल सोसायटी को दे दी। ह्यूगो विंकलर इस जर्मन अभियान के नेता थे। विंकलर के नेतृत्व में १९०६ में बोगाज़-कोई की खुदाई आरंभ हुई। इस खुदाई से जो पुरावशेष निकले उनके बारे में पहले कोई भी कल्पना नहीं कर सकता

था। बोगाज़-कोई से कीलाक्षरों में अंकित लगभग १०,००० मिट्टी के फलक प्राप्त हुए। जाहिर है कि यह हित्ती शासन का राजकीय अभिलेखागार था। इनमें से अधिकांश फलक उसी 'अरज़वा पत्रों' की भाषा में लिखे हुए थे जो तेल-एल-अर्मना से मिले थे। तब इस भाषा को कोई भी नहीं पढ़ सकता था, यद्यपि यह भाषा परिचित-सी कीलाक्षर लिपि में ही लिखी गई थी। बोगाज़-कोई के इन फलकों में बेबीलोन की अक्कदी भाषा में भी लेख अंकित थे। हम बतला चुके हैं कि अक्कदी भाषा तथा कीलाक्षर लिपि ने उस समय अन्तर्राष्ट्रीय भाषा तथा लिपि का दर्जा प्राप्त कर लिया था। इन अक्कदी फलकों के आरंभिक अध्ययन से ज्ञात हुआ कि बोगाज़-कोई हत्ती देश की राजधानी थी। यह भी पता चला कि 'अरज़वा' भाषा ही इस देश की राज्यभाषा थी। यह भी स्पष्ट हो गया कि हित्ती शासकों ने दो प्रकार की लिपियों का प्रयोग किया है—दैनन्दिन व्यवहार के लिए कीलाक्षर लिपि और स्मारकों के लिए एक प्रकार की हाइरोग्लिफिक (चित्र) लिपि।

अब पुराविदों के सामने सवाल था—ये लेख किस काल के हैं? मिस्र की हाइरोग्लिफिक लिपि का अन्वेषण हो जाने पर जब प्राचीन मिस्री अभिलेख पढ़े जाने लगे, तो पता चला कि मिस्र के १८वें राजवंश के राजाओं का 'खेता' देश से संबंध रहा है। ई. पू. १५ वीं शताब्दी में तुथमोस-तृतीय सीरिया के उत्तर तक बढ़ आया था। खेत वाले ही, अपने अनेक मददगार देशों के साथ, रामासेस-द्वितीय से कादेश स्थान पर युद्ध लड़े थे। रामासेस ने बाद में खेत के शासकों से संधि की थी और इस संधि का मसौदा मिस्र के प्रसिद्ध कारनाक मंदिर पर अंकित कर दिया गया था, जो आज भी देखा जा सकता है।

अब संयोग ऐसा कि २० अगस्त, १९०६ को विंकलर ने बोगाज़-कोई की खुदाई से ताज़े निकले फलकों में एक ऐसा फलक देखा जिसपर रामासेस-द्वितीय द्वारा हित्ती राजा हत्तुशिलिश को लिखा हुआ पत्र अंकित था। यह वही संधि-पत्र था जो मिस्री-लिपि में कारनाक के मंदिर पर उत्कीर्ण पाया गया था। अब तो बोगाज़-कोई के इन पुरावशेषों का काल निर्धारित करना काफी आसान हो गया था।

विंकलर के नेतृत्व में बोगाज़-कोई की खुदाई पहली बार १९०६-७ में हुई थी। दूसरी बार उसी के नेतृत्व में १९११–१२ में पुनः बोगाज़-कोई की खुदाई हुई। प्रथम महायुद्ध आरंभ होने से पूर्व ही बोगाज़-कोई से प्राप्त सारे पुरावशेष कुस्तुन्तुनिया तथा बर्लिन के संग्रहालयों में सुरक्षित स्थान पा चुके थे।

१९१४ में ह्यूगो विंकलर की मृत्यु के बाद और महायुद्ध आरंभ होने के पहले जर्मन ओरियंटल सोसायटी ने बोगाज़-कोई से प्राप्त अभिलेखों की प्रतियां तैयार करने के लिए दो विद्वानों—फिगुला और बेद्रिख ह्रोज्नी—को कुस्तुन्तुनिया भेजा। इनमें से ह्रोज्नी ने, केवल दो साल के भीतर, न केवल हित्ती कीलाक्षर लिपि को पढ़ पाने में सफलता प्राप्त की बल्कि यह भी सिद्ध किया कि हित्ती भाषा भारोपीय-परिवार की है। हम पहले बता ही चुके हैं कि क्नुड्टजन ने तेल-एल-अमर्ना के दो अरज़वा-पत्रों की भाषा को भारोपीय-परिवार की सिद्ध करने का प्रयत्न किया था, किन्तु उस समय इस बात को कोई पुराविद स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। वस्तुतः वे अरज़वा-पत्र हित्ती भाषा में ही लिखे गए थे।

ह्रोज्नी जानता था कि ठोस प्रमाण के बिना उसके इस सिद्धान्त को कोई स्वीकार नहीं करेगा। हित्ती लेख कीलाक्षर लिपि में लिखे गए थे। इस लिपि के भावचिह्नों को

ह्रोज्नी पढ़ सकता था, परन्तु इनसे हित्ती भाषा के स्वरूप के बारे में कोई जानकारी नहीं मिल सकती थी। उसे कुछ सहायता तो नामवाचक संज्ञाओं से मिली। इनके अलावा, हित्ती लेखों में बीच में कुछ बेबीलोनी शब्द-संकेत भी मिलते थे। एक वाक्य में इसी प्रकार के एक बेबीलोनी शब्द-संकेत पर विचार करते-करते ह्रोज्नी को अन्त में हित्ती भाषा के असली स्वरूप का ज्ञान हुआ।

यह वाक्य था :

नु **-अन ए-इज-ज-अत-ते-नी व-अ-तर-म ए-कु-उत-ते-नी**

इस वाक्य में जो कीलाक्षर संकेत है, वह सुमेरी-बेबीलोनी भावचित्र है। अक्कदी में इसका उच्चारण 'निन्दा' होता था और अर्थ 'रोटी'। इस प्रकार, उपर्युक्त वाक्य इस 'रोटी' शब्द तथा सही उच्चारण के साथ पुनः लिखा जा सकता है :

नु 'रोटी' -अन एज़्जातेनी, वासर, वासर-म एकुतेनी

यहां 'रोटी' के साथ 'अन' प्रत्यय लगा हुआ है। कुछ अन्य प्रमाणों पर विचार करने से यह सिद्ध होता था कि 'अन' कर्म-कारक के एकवचन का प्रत्यय है। जहां तक 'रोटी' शब्द का सवाल है, यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता था कि इसके साथ 'खाना' क्रिया आनी चाहिए। ह्रोज्नी ने अंदाजा लगाया कि 'एज्जातेनी' 'खाना' क्रिया ही होनी चाहिए। अचानक उसके मस्तिष्क में ग्रीक का 'एदेइन', लैटिन का 'एदेरे' तथा प्राचीन जर्मन का 'एज्जन' शब्द कौंध गये। इस प्रकार उपर्युक्त वाक्य का अर्थ हुआ : "अब तुम रोटी खाओगे।" वाक्य के शेषांश पर विचार करते समय ह्रोज्नी का ध्यान 'वासर' शब्द पर गया। इस शब्द को पढ़ने के बाद कोई भी यूरोपवासी इसमें जर्मन के 'वास्सेर', अंग्रेजी के 'वाटर' आदि 'पानी' के समानार्थी शब्दों की ध्वनि को पहचान सकता है। ह्रोज्नी ने पहचान लिया कि उपर्युक्त हित्ती वाक्य एक संयुक्त वाक्य है, और जैसे 'रोटी' के बाद 'खाना' क्रिया आई है उसी प्रकार इस 'वासर' शब्द के बाद अब 'पीना' क्रिया आनी चाहिए। इस तर्क के अनुसार 'एकुतेनी' का अर्थ 'पीना' होना चाहिए। ह्रोज्नी अपने पहले के अध्ययन से जानता था कि 'तेनी' क्रिया-प्रत्यय है, 'नु' क्रिया-विशेषण है और 'म' दो वाक्यों को जोड़नेवाला कोई शब्द है। इस प्रकार उपर्युक्त हित्ती वाक्य का अर्थ हुआ :

"अब तुम रोटी खाओगे और पानी पिओगे।"

अब तो ह्रोज्नी सप्रमाण सिद्ध कर सकता था कि हित्ती भाषा भारोपीय परिवार की है। १५ नवम्बर १९१५ को उसने बर्लिन की एक सोसायटी के सामने अपने इस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। इसके बाद उसने "हित्ती भाषा : इसका स्वरूप तथा भारोपीय भाषाओं से इसका सम्बंध" (लाइपज़िग, १९१७) ग्रन्थ लिखकर हित्ती भाषा का सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया।

ह्रोज्नी के सिद्धान्तों को आधार बनाकर जिन भाषाशास्त्रियों ने बाद में हित्ती कीलाक्षर लिपि तथा इसकी भाषा का परिष्कार किया, उनमें सोम्मेर, एहलोल्फ़, फ्रेडरिख, गोएट्ज़ तथा स्टुर्टेवान्ट के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। १९३६ में तो स्टुर्टेवान्ट ने हित्ती भाषा की एक शब्दावली प्रकाशित की, जिसमें हित्ती के ३,००० से अधिक शब्द इनके अर्थों सहित दिए गए हैं।

१९१९ में एमिल फोरेर ने प्रतिपादित किया कि बोगाज़-कोई से प्राप्त लेखों में

अठ भाषाओं का अस्तित्व मिलता है। इनमें हित्ती तथा अक्कदी भाषाओं को ही अधिक महत्व था और यहीं भाषाएं राजकाज के लिए उपयोग में लायी जाती थीं। शेष छः भाषाओं के बोगाज़-कोई से प्राप्त कीलाक्षर-लेखों में बहुत ही कम उल्लेख मिलते हैं। इनमें से कई भाषाएँ भारोपीय परिवार की भाषाएँ हैं।

वस्तुतः हित्ती कीलाक्षर लिपि शुद्ध हित्ती भाषा के लिए ही अपनाई नहीं गई थी। इस कीलाक्षर लिपि के साथ हित्तियों को सुमेरी भावचित्र तथा अक्कदी शब्द भी अपनाने पड़े थे। ह्रोज्नी को हित्ती कीलाक्षर लिपि का अन्वेषण करते समय किस प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, यह एक ही उदाहरण पर विचार करने से स्पष्ट हो जाएगा। बोगाज़-कोई से प्राप्त हित्ती कानूनी-लेखों में से एक धारा है :

"तक-कु लु. उलु-लु-अन एल. लुम क. अज. जु व-अस-म गिर-सु
कु-इस-की तु-व-अर-नी-इज-जी नु-उस-से २० गिन कुबब्बर प-अ-इ।"

अर्थात्, यदि कोई किसी स्वतंत्र व्यक्ति का हाथ या पैर तोड़ेगा तो वह उसे (बदले में) चांदी के २० सिक्के देगा।

यहां 'मनुष्य' (व्यक्ति) शब्द को सुमेरी भावचित्र 'लु-उलु-लु' से व्यक्त किया गया है और इसके साथ कर्म-कारक का हित्ती ध्वनि-अक्षर 'अन' प्रत्यय जोड़ा गया है। 'एल. लुम' (स्वतंत्र) तथा 'क. अज. जु' (उसका हाथ) ये दोनों ही शब्द अक्कदी भाषा के हैं। 'गिर-सु' (उसका पैर) शब्द में 'गिर' (पैर) शब्द तो सुमेरी भावचित्र से व्यक्त किया गया है, परन्तु इसके साथ का सम्बंध-कारक प्रत्यय '-सु' (उसका) अक्कदी का है। '२० गिन कुबब्बर' (२० चांदी के सिक्के) पूर्णतः सुमेरी शब्द-संकेत है। शेष 'तक्कु' (यदि), 'नास्म' (या), 'कुइस्की' (कोई), 'तुवरननीज्जी' (वह तोड़ता है), 'नुस्से' (अब उसे), और 'पाइ' (वह देता है) हित्ती भाषा के ध्वनि-संकेत हैं।

इस एक ही उदाहरण से पाठक समझ जाएंगे कि हित्ती कीलाक्षर लिपि में लिखी गई यह हित्ती भाषा किस प्रकार की एक मिश्र-भाषा थी। कीलाक्षर लिपि के साथ हित्तियों को सुमेरी भावचित्र तथा अक्कदी शब्द अपनाने पड़े थे। हम पहले देख चुके हैं कि सेमेटिक अक्कदियों को भी सुमेरी लिपि को अपनाते समय इसी प्रकार की कठिनाई का सामना करना पड़ा था। अब इस कीलाक्षर लिपि को एक भारोपीय-परिवार की भाषा के लिए अपनाते समय हित्तियों को पुनः इसी कठिनाई का सामना करना पड़ा। किन्तु इसी कीलाक्षर लिपि के कारण हित्ती भाषा का उद्घाटन संभव हुआ है।

अब तक हमने हित्ती कीलाक्षर लिपि पर ही विचार किया है। किन्तु हित्ती लेख एक प्रकार की हाइरोग्लिफिक (चित्रलिपि) में भी मिलते हैं। हामा से प्राप्त पत्थरों पर हित्ती हाइरोग्लिफिक लिपि के ही लेख उत्कीर्ण थे। यह लिपि अधिकतर प्रस्तर-स्मारकों पर मिलती है। इसमें लिखने का क्रम ऐसा है कि यदि इसकी एक पंक्ति बायीं ओर से आरंभ होती है, तो दूसरी पंक्ति दायीं ओर से आरंभ होगी। शुरू की पंक्ति का आरंभ सामान्यतः दाईं ओर से ही होता है। पंक्ति के आरंभ की दिशा हमेशा ही स्पष्ट रहती है, क्योंकि इस लिपि के चित्रों के चेहरे सदैव आरंभ की दिशा की ओर रहते हैं। हित्ती हाइरोग्लिफिक लिपि के संकेत पत्थरों पर दो प्रकार से उत्कीर्ण मिलते हैं। प्रारंभिक लेखों में संकेत पत्थरों से उभर आए हैं, लेकिन कालान्तरों के लेखों में ये पत्थरों में कोरे गए हैं।

१८७२ में हामा-प्रस्तरों के प्राप्त होने के बाद से ही पुरालिपिविद हित्ती-हाइरोग्लिफिक के अन्वेषण में जुट गये थे। इसके भी पहले जर्मन पुराविद मोर्ड्टमान ने १८६३ में चांदी की एक ऐसी मुद्रा का विवरण प्रकाशित किया था जिस पर हित्ती कीलाक्षर तथा हाइरोग्लिफिक दोनों लिपियों में लेख अंकित थे। मोर्ड्टमान ने इस मुद्रा के कीलाक्षर लेख को पढ़ने का भी प्रयत्न किया था। यह मुद्रा (सील) सिक्के के आकार की है—इसका व्यास ३.३ से.मी. है और ऊंचाई ०.७ सें.मी.। इस मुद्रा के केन्द्र भाग में एक योद्धा की आकृति है और इस आकृति के चहुंओर हित्ती हाइरोग्लिफिक संकेत है। इनके बाद वृत्त के बाहर कीलाक्षर लिपि के संकेत हैं।

अब १८८० में आर्चिबाल्ड साइस को अचानक याद आया कि उसने किसी जर्मन पत्रिका में चांदी की एक मुद्रा का विवरण पढ़ा था। उसने इस मुद्रा के बारे में लंदन के ब्रिटिश-संग्रहालय से पूछताछ की। वहां के अधिकारियों से मालूम हुआ कि मोर्ड्टमान का विवरण प्रकाशित होने के पहले इस प्रकार की एक मुद्रा बेचने के लिए ब्रिटिश-संग्रहालय लाई गई थी। तब संग्रहालय के अधिकारियों ने इसे जाली समझकर खरीदने से इन्कार कर दिया था; किन्तु लौटाने के पहले उन्होंने प्लास्टर में इसके ठप्पे उतार लिए थे। अब यही ठप्पे ब्रिटिश-संग्रहालय ने साइस के सामने पेश किए।

तारकुमुवा मुद्रा (सील)

इस मुद्रा के मध्यभाग में अंकित योद्धा की वेशभूषा आदि का परीक्षण करने पर साइस का पक्का विश्वास हो गया कि यह हित्ती मुद्रा है। उसने इसके कीलाक्षरों को यों पढ़ा : "तार-रिक-तिम-मे सर मत एर-मे-ए"; अर्थात्, "तारिकतिम्मे एरमे देश का राजा"। वस्तुतः इस राजा का सही नाम आज हम 'तारकुमुवा' पढ़ते हैं। इस मुद्रा में योद्धा की आकृति के चहुंओर छह हाइरोग्लिफिक संकेत हैं :

१ २ ३ ४ ५ ६

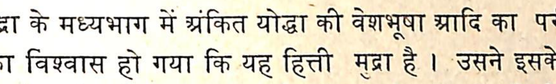

तारकु-मुवा	**'राजा' मि-रा**	**'एक देश'**
'तारकुमुवा,	**राजा मिरा**	**देश का'**

साइस को इस बात में तनिक भी संदेह नहीं रहा कि ये चित्र-संकेत हित्ती लिपि के हैं, क्योंकि इसी प्रकार के चित्र-संकेत हामा तथा कार्चेमिश से प्राप्त प्रस्तर-स्मारकों पर भी पाए गए थे। वह यह भी समझ गया कि इस मुद्रा की इन दोनों लिपियों––कीलाक्षर तथा हाइरोग्लिफिक––में एक ही बात कही गई है। अब, यदि हाइरोग्लिफिक लेख कीलाक्षर लेख के समान है, तो उपर्युक्त चित्र-संकेतों में नं० ३ तथा नं० ६ के संकेत क्रमशः 'राजा' और 'देश' शब्दों के ही द्योतक होने चाहिये।

इस प्रकार, इस लिपि––हित्ती हाइरोग्लिफिक––पर आर्चिबाल्ड साइस ने पहली बार कुछ प्रकाश डाला। इसके बाद जर्मन पुराविद पीटर जेन्सेन ने 'कारकामे' (कार्चेमिश) नाम को खोज निकाला। साइस और जेन्सेन के बाद पेईजेर, काउले, कार्ल-फ्रांक आदि पुराविदों ने हित्ती हाइरोग्लिफिक लिपि के अन्वेषण में भाग लिया, परन्तु इन्हें केवल कुछ ही चित्र-संकेतों को पहचानने में सफलता मिली। इन सबके द्वारा खोजे गए केवल निम्नलिखित संकेत ही कालान्तर में सही माने गए :

शब्द-विभाजक भावचित्र-संकेत राजा नगर भूमि या देश

वस्तुतः इस हित्ती हाइरोग्लिफिक लिपि के अन्वेषण के लिए नए दिमाग तथा नई विधियों की जरूरत थी। इस आवश्यकता की पूर्ति की, पांच देशों के पांच विभिन्न पुरालिपिविदों ने––बोस्सेर्ट (जर्मनी), मेरीग्गी (इटली), ह्रोज्नी (चेकोस्लोवाकिया), फोरेर (स्विट्जरलैण्ड) और गेल्ब (अमरीका)। इन पांचों विद्वानों ने आरंभ में स्वतंत्र रूप से अन्वेषण-कार्य आरंभ करके हित्ती हाइरोग्लिफिक संकेतों के ध्वनिमान प्राप्त किए। इनके इन ध्वनिमानों में काफी समानताएं भी थीं। अन्त में इग्नस जे. गेल्ब ने "हित्ती-हाइरोग्लिफ्ज" नाम से क्रमशः १९३१, १९३५ और १९४२ में तीन पुस्तकें प्रकाशित कीं।

गेल्ब ने भौगोलिक नामों से अपना अन्वेषण-कार्य आरंभ किया था। ऐसे नामों को आसानी से पहचाना जा सकता था, क्योंकि इसके साथ निर्धारक-संकेत (हित्ती हाइरोग्लिफिक में नगर के नामों के साथ एक पर्वत-शिखर का संकेत तथा देश के नामों के साथ दो पर्वत-शिखरों वाला संकेत) दिए रहते हैं। हम बतला चुके हैं कि जेन्सेन १८९४ में कार्चेमिश (कारकामे) नाम की खोज कर चुका था। असल में, हित्ती लेखों में इस नगर के नाम का बार-बार उल्लेख मिलता है और यह चौदह प्रकार से लिखा हुआ पाया जाता है। इनमें केवल एक प्रकार को ही हम उदाहरण के रूप में लेंगे :

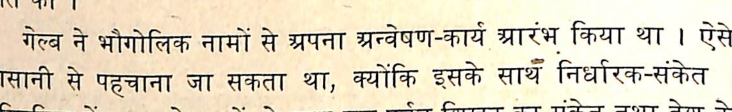

कारका (का) मे स व सी नगर

इन संकेतों का अध्ययन करते हुए गेल्ब ने देखा कि इस नाम के सभी प्रकारों में दूसरा संकेत (का) हमेशा पहले संकेत का अनुकरण करता है। उसने यह भी देखा कि इस

नगर-नाम के दो प्रकारों में यह दूसरा संकेत (का) लिखा हुआ नहीं मिलता। इससे गेल्ब इस परिणाम पर पहुंचा कि, यह दूसरा संकेत (का) पहले संकेत की एक परिपूरक ध्वनि है। इसका अर्थ यह हुआ कि पहला संकेत एक भावचित्र है। अब इस पहले भावचित्र-संकेत पर विचार करते हुए गेल्ब ने जाना कि यह संकेत हित्ती लिपि में यहां इस नगर-नाम के आरंभ में और अन्यत्र केवल एक देवता के लिए ही प्रयुक्त हुआ देखा जाता है। इससे यह परिणाम निकलता है कि नगर-देवता के नाम पर ही इस नगर का नामकरण हुआ है। कार्चेमिश के लिए असीरी लेखों में 'कारकामेस' नाम मिलता है। तुलनात्मक अध्ययन से गेल्ब ने उपर्युक्त हित्ती संकेतों के लिए हित्ती नाम प्राप्त किया : 'कारका (का)-मे-स-व-सी'।

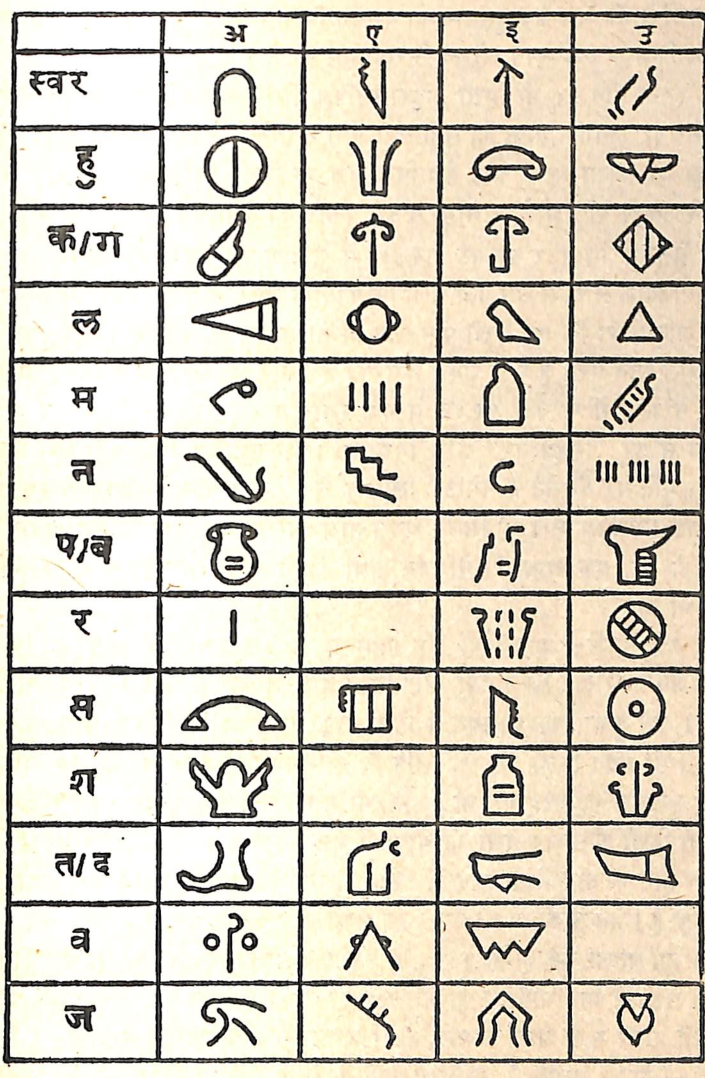

हित्ती हाइरोग्लिफिक अक्षरमाला (इग्नस जे० गेल्ब के अनुसार)

आगे अध्ययन करके गेल्ब इस परिणाम पर पहुंचा कि हित्ती हाइरोग्लिफिक लिपि में ६० से अधिक ध्वनि-संकेत नहीं हैं। किसी लिपि के वर्णमालात्मक होने के लिए इतने संकेत अधिक हैं, और अक्षरमालात्मक लिपि के लिए इतने संकेत कम हो सकते हैं। लेकिन लगभग ६० संकेतों वाली यह लिपि यदि वर्णमालात्मक नहीं है, तो इसे अवश्य ही अक्षरमालात्मक होना चाहिए। जापानी अक्षरमाला में केवल ४७ संकेत हैं। अन्त में गेल्ब इस परिणाम पर पहुंचा कि हित्ती हाइरोग्लिफिक में स्वरों से आरंभ होने वाले अक्षर हैं ही नहीं, और इसमें बंद अक्षर भी नहीं हैं। इसमें केवल स्वरान्त अक्षर हैं। बंद अक्षरों को दो स्वरान्त अक्षरों से लिखा जाता है, जैसे, राम––रा-मे।

गेल्ब ने लगभग पचास हित्ती संकेतों को ध्वनिमान प्रदान किये, जिनमें लगभग आधे ध्वनिमानों के बारे में उसका विश्वास था कि ये सही हैं। अन्य हित्ती पुरालिपिविदों के अन्वेषणों से भी गेल्ब के अनुसंधान को समर्थन मिला। अन्य चार अन्वेषकों ने भी हित्ती हाइरोग्लिफिक के ध्वनिमान खोजने में सहायता दी है।

इतना होने पर भी हित्ती हाइरोग्लिफिक लिपि के अन्वेषण को पूर्ण नहीं माना जा सकता था; क्योंकि भाषा का सही-सही ज्ञान न होने के कारण हित्ती लेखों को पूर्णतः नहीं पढ़ा जा सकता था। कोई द्वैभाषिक लेख ही हित्ती ध्वनिमानों के बारे में अंतिम फैसला दे सकता था। और, सौभाग्य से इस प्रकार का द्वैभाषिक लेख मिला भी।

हेलमुथ थियोडर बोस्सेर्ट १९४५ में दक्षिण-पूर्व टर्की की यात्रा पर था, तो कुछ खानाबदोश लोगों से उसे पता चला कि कादीरी शहर के पास एक "सिंहप्रस्तर" है। बोस्सेर्ट जानता था कि यह हित्ती पुरावशेष ही हो सकता है, क्योंकि हित्ती लोग सिंह के विशेष प्रेमी जान पड़ते हैं और उनके स्मारकों पर सिंह की आकृतियां प्रायः मिलती हैं। बोस्सेर्ट ने अन्त में फरवरी १९४६ में एक स्थानीय स्कूल-मास्टर, एकराम कुश्चु, की सहायता से यह "सिंहप्रस्तर" खोज निकाला। वस्तुतः यह सिंह नहीं था, बैल था! यहां इस मूर्ति पर बोस्सेर्ट ने सेमेटिक लिपि के लेख देखे। पास ही कारतेपे स्थान से उसे हित्ती हाइरोग्लिफिक लेख भी मिले। अगले साल बोस्सेर्ट जब कारतेपे की खुदाई के लिए लौटा, तो उसे एक साथ फिनीशियन तथा हित्ती हाइरोग्लिफिक लेख––द्वैभाषिक लेख––भी मिले!

कई सेमेटिक भाषाविदों की सहायता से इस द्वैभाषिक लेख के फिनीशियन अंश का अनुवाद तैयार किया गया और हित्ती हाइरोग्लिफिक लेख के साथ इसकी तुलना की गई। इस तुलनात्मक अध्ययन से हित्ती हाइरोग्लिफिक लेखों की भाषा के स्वरूप को जानने में तो मदद मिली ही, इस लिपि के ध्वनिमानों के बारे में भी अब अधिक संदेह के लिए गुंजाइश नहीं रह गई थी। यह भी पता चला कि हित्ती हाइरोग्लिफिक लेखों की भाषा हित्ती कीलाक्षर लेखों की भाषा से कुछ भिन्न है। असल में इस द्वैभाषिक लेख के प्राप्त होने के बाद हित्ती हाइरोग्लिफिक लिपि के अन्वेषण-कार्य को समाप्त समझा जा सकता है। अब बाकी था तो केवल इन लेखों को पढ़ने का काम।

हम बतला चुके हैं कि १९१९ में फोरेर ने प्रतिपादित किया था कि बोगाज़-कोई से प्राप्त लेखों में आठ भाषाओं का अस्तित्व देखने को मिलता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि हित्ती राज्य में ये आठों भाषाएं बोली जाती थीं। केवल दो भाषाओं––हित्ती तथा अक्कदी––का ही शासन से संबंधित कार्य के लिए उपयोग होता था। बोगाज-कोई से प्राप्त अभिलेखों में अधिकांश लेख इन्हीं दो भाषाओं में हैं। इनके अलावा, हुर्री भाषा में

भी कुछ पूर्ण लेख मिलते हैं। शेष भाषाओं के बारे में केवल खंडित उल्लेख मिलते हैं। हम इनमें से दो भाषाओं की कुछ विशेषताओं पर थोड़ा प्रकाश डालेंगे।

हित्ती : हम बतला चुके हैं कि ह्रोज्नी ने १९१५ में इस को भारोपीय-परिवार की सिद्ध किया था।

इस भाषा में केवल छः कारक हैं। इसमें लिंग केवल दो हैं—पुल्लिग तथा नपुंसक लिंग। इसमें संस्कृत की तरह द्विवचन के रूप नहीं हैं। धातु-रूप निम्न प्रकार से चलते हैं :

	एकवचन	बहुवचन
उ०पु०	या-मि	या-वेनि
म०पु०	या-सि	या-तेनि
अ०पु०	या-त्सि	या-न्त्सि

असल में, हित्ती भाषा में भारोपीय परिवार की शब्दावली बहुत कम है। ऐसे कुछ शब्दों के उदाहरण हैं : 'वासर' या 'वादर' (सं० उद), एकुजि (सं० यामि) क्विस (सं० कः), इत्यादि। इस भाषा के अधिकतर शब्द अ-भारोपीय भाषा-परिवारों के ही हैं।

आरंभ में भाषाशास्त्रियों ने इस हित्ती भाषा को भारोपीय परिवार के 'केन्तुम्' वर्ग में रखा था; किन्तु बाद के अन्वेषणों से यह सिद्ध हो गया कि इसमें कुछ ऐसे आरंभिक ध्वनितत्व विद्यमान हैं, जिससे इसे भारोपीय परिवार की एक अलग भाषा मानना ही उचित होगा।

मितानी शासकों की आर्यभाषा : बोगाज़-कोई के अभिलेखागार में ऐसे चार अंकित फलक मिले हैं, जिनकी भाषा संस्कृत से काफी मिलती-जुलती है। मितानी देश के किसी किक्कुली नामक व्यक्ति ने घोड़ों की शिक्षा के बारे में यह पुस्तक लिखी थी। यहां हम इस भाषा के संख्या-शब्दों की संस्कृत के शब्दों के साथ तुलना करके देखेंगे :

मितानी		संस्कृत
ऐक वर्तन्न	(एक घुमाव)	एक वर्तनम्
तेर वर्तन्न	(तीन घुमाव)	त्रि वर्तनम्
पन्ज वर्तन्न	(पांच घुमाव)	पंच वर्तनम्
सत्त वर्तन्न	(सात घुमाव)	सप्त वर्तनम्
नव वर्तन्न	(नौ घुमाव)	नव वर्तनम्

अन्य उल्लेखों से पता चलता है कि मितानी शासक इन्द्र, वरुण, मित्र तथा नासत्यों (अश्विनीकुमारों) जैसे वैदिक देवताओं को मानते थे। वस्तुतः मितानी राज्य में जनता तो हुर्री भाषा बोलती थी, किन्तु इनके मितानी शासक आर्य भाषी थे।

बोगाज़-कोई के अभिलेखों में अक्कदी तथा सुमेरी भाषा के भी लेख मिलते हैं। इन भाषाओं के बारे में यथास्थान हम विस्तार से बतला ही चुके हैं।

७

क्रीट द्वीप की पुरालिपियां

हमारे 'रामायण' और 'महाभारत' की तरह प्राचीन यूनान के दो महा-काव्य—'इलियड' और 'ओडेसी'—प्रसिद्ध हैं। परम्परा के अनुसार होमर को इनका रचयिता माना जाता है। १९वीं शताब्दी के अंतिम चरण तक यूरोप के पुराविद इन महाकाव्यों में वर्णित ट्रोजन-युद्ध को काल्पनिक समझते थे। परन्तु यूरोप में एक व्यक्ति ऐसा भी था जिसका इन महाकाव्यों के कथानकों में अटूट विश्वास था। उसने होमर के वर्णनों के आधार पर ही प्रसिद्ध ट्रॉय नगर को खोज निकाला। यह व्यक्ति था, हेनरिख़ श्लिमान। ट्रॉय की खुदाई के बाद श्लिमान ने यूनान के माइसिन नगर की कब्रों को भी १८७६ में खोज निकाला। माइसिन की खुदाई से, बहुत से पुरावशेषों के अलावा, ढेर सारा सोना भी प्राप्त हुआ। होमर ने सच ही कहा था : "सोने से भरा माइसिन।" लेकिन यहां हमें स्मरण रखना चाहिए कि माइसिन की खुदाई में जो पुरावशेष प्राप्त हुए थे, उनके आधार पर ई० पू० १३वीं-१२वीं शताब्दी में यहां यूनान में एक सम्पन्न सभ्यता का उद्घाटन तो हुआ था, किन्तु श्लिमान की इस प्रथम खुदाई में माइसिन से कोई लेख प्राप्त नहीं हुआ था। होमर के कुछ उल्लेखों के आधार पर बाद में श्लिमान ने क्रीट द्वीप में भी खुदाई करने की योजना बनाई थी, परन्तु जिस स्थान पर वह खुदाई करना चाहता था, वह प्राप्त न होने से और तत्कालीन तुर्की शासन की बाधाओं के कारण श्लिमान को क्रीट की खुदाई की योजना त्याग देनी पड़ी थी। अन्त में क्रीट की खुदाई करने का अवसर मिला एक अंग्रेज पुरातत्ववेत्ता आर्थर इवान्स को।

कई प्राचीन उल्लेखों से क्रीट के प्राचीन क्नोसोस नगर का स्थान ज्ञात था। १८९९ में क्रीट पर टर्की का शासन समाप्त हुआ, तो अगले साल इवान्स ने क्नोसोस की खुदाई आरंभ कर दी। खुदाई आरंभ होने के एक सप्ताह बाद ही यहां से मिट्टी के अक्षरांकित फलक मिलने लग गए। परन्तु इन पर अंकित लिपि के संकेत मुहरों जैसे नहीं थे। ये संकेत रैखिक थे, इसलिए इवान्स ने इन्हें रैखिक लिपियों का नाम दिया। इस प्रकार, इवान्स ने क्रीट में तीन प्रकार की लिपियों के पुरालेख प्राप्त किए। एक तो मुहरों पर उत्कीर्ण चित्रलिपि थी। यह क्रीट की सबसे प्राचीन लिपि थी और इसका समय लगभग २००० से १६५० ई.पू. के बीच का था। रैखिक लिपि को इवान्स ने दो भागों में विभाजित किया—रैखिक-अ (लिनियर-ए) और रैखिक-ब (लिनियर-बी)। रैखिक-अ लिपि क्रीट में लगभग १७५० से १४५० ई० पू० तक अस्तित्व में रही है। इस रैखिक-अ लिपि के अभिलेख केवल क्रीट से ही मिले हैं। मिट्टी के फलकों के अलावा, प्रस्तरों तथा कांस्य-पत्रों पर भी इस लिपि के लेख मिले हैं। रैखिक-ब के लेख पत्थरों या कांस्य-पत्रों

पर नहीं मिलते। रैखिक-अ का सबसे बड़ा संग्रह क्रीट के हागियां-त्रिएदा (प्राचीन 'फाइ-स्टोस') स्थान से मिला है। यहां इस लिपि के १५० मिट्टी के फलक मिले हैं।

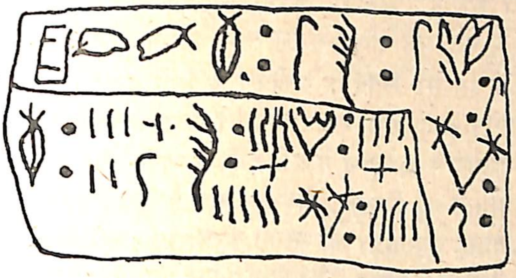

फाइस्टोस से प्राप्त फलक पर मिनोअन हाइरोग्लिफिक (चित्र) लिपि।

हागिया-त्रिएदा से प्राप्त रैखिक-अ का फलक।

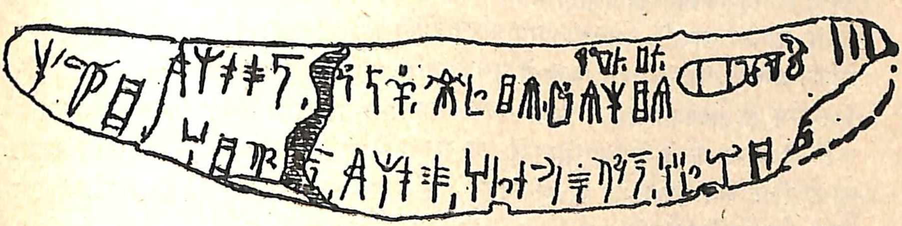

क्नोसोस से प्राप्त एक युद्धरथ फलक। रैखिक-ब लिपि।

रैखिक-ब के लेख क्रीट के केवल एक ही स्थान---क्नोसोस---से मिले हैं। ये सभी लेख १४०० ई० पू० के आसपास के हैं। क्नोसोस के राजप्रासाद की खुदाई में ही ये सारे लेख मिले हैं। पता चलता है कि १४०० ई० पू० के आसपास आग लगने से क्नोसोस का

यह राजमहल जल गया था। इस भयानक आग से इस महल के कक्षों में रखे हुए मिट्टी के अंकित फलक भुनकर पक्के हो गए। वस्तुतः इस आग के कारण ही २०वीं शताब्दी में ये फलक प्राप्त हुए हैं; अन्यथा, कच्ची मिट्टी के फलक कभी के नष्ट हो जाते। १४५० ई० पू० के आसपास रैखिक-अ का स्थान रैखिक-ब ने ले लिया था।

इवान्स ने इस नई लिपि के अन्वेषण के लिए ही क्रीट की खुदाई आरंभ की थी। परन्तु क्नोसोस के विशाल राजप्रासाद की खुदाई ज्यों-ज्यों प्रगति करती गई त्यों-त्यों इवान्स इस प्रासाद के अन्वेषण में अधिकाधिक व्यस्त होता गया। यूनानी आख्यानों के अनुसार इस प्रासाद का निर्माण 'मिनोस' नाम के एक राजा ने किया था और यह राजा, क्रीट के अलावा, यूनान पर भी शासन करता था। इसीलिए क्रीट की इस प्राचीन संस्कृति को अब 'मिनोअन संस्कृति' का नाम दिया गया है।

१९३९ में यूनान के 'पाइलोस' स्थान पर कार्ल ब्लेगेन ने खुदाई आरंभ की। यहां उसे 'ओडेसी' में उल्लिखित राजा नेस्टोर के महल के अवशेष मिले। साथ ही उसे यहां लगभग ६०० अंकित फलक भी मिले। नेस्टोर के प्रासाद से प्राप्त इन फलकों पर जो लेख अंकित थे वे रैखिक-ब लिपि में थे।

इवान्स ने जब क्नोसोस से पुरावशेष प्राप्त किए थे तो इनके अध्ययन के आधार पर उसकी दृढ़ मान्यता हो गई थी कि मिनोअन संस्कृति का बाद की यूनानी संस्कृति से कोई संबंध नहीं है। उसका विश्वास था कि क्रीट में एक शक्तिशाली साम्राज्य था और यहां से यूनान के प्रदेश पर भी मिनोअन शासक शासन करते थे। यूनान के माइसिन नगर को भी एक मिनोअन शासन-केन्द्र माना गया था। जब पाइलोस से क्रीट की रैखिक-ब लिपि के लेख मिले, तब भी किसी पुराविद की आसानी से हिम्मत नहीं होती थी कि वह इवान्स की इस गलत धारणा को चुनौती दे। विना प्रमाण के चुनौती दी भी नहीं जा सकती थी। जब तक रैखिक-ब लिपि के लेख पढ़े नहीं जाते और इनमें छिपी भाषा ज्ञात नहीं हो जाती तब तक किसी ठोस मत पर पहुंचा भी नहीं जा सकता था।

क्रीट की रैखिक-ब लिपि का सबसे पहले सही मार्ग पर अन्वेषण आरंभ किया, अमेरीका की कुमारी एलिस कोबेर ने। १९५० में केवल ४३ वर्ष की अल्पायु में उसकी मृत्यु हुई, लेकिन मृत्यु के पहले वह क्रीट की रैखिक-ब लिपि के सही अन्वेषण की आधारशिला रखकर गई। कोबेर ने डाक्टरेट की उपाधि गणित और भौतिकी में प्राप्त की थी। परन्तु वैज्ञानिक विषयों के अलावा भाषाशास्त्र में भी उसकी गहरी रुचि थी। उसने संस्कृत, हित्ती, प्राचीन फारसी तथा भारोपीय परिवार की कुछ भाषाओं का अध्ययन किया था। लेकिन अन्त में क्रीट की इस लिपि में उसकी रुचि अधिक गहरी होती गई। उसने लिपि के स्वरूप का अध्ययन आरंभ किया। उसके सरल-से सवाल थे : क्या विविध व्याकरण-रूपों को व्यक्त करने के लिए प्रत्ययों का उपयोग करनेवाली यह एक विभक्ति-प्रधान भाषा थी ? क्या इस भाषा में अनेकवचन को व्यक्त करने के लिए कोई ठोस व्यवस्था थी ? क्या इसमें लिंग-भेद था ?

कोबेर को इन प्रश्नों के आंशिक उत्तर ही मिले थे, परन्तु उसके ये प्रश्नोत्तर इस लिपि के अन्वेषण की ओर सही कदम थे। उदाहरणार्थ, कोबेर ने स्पष्ट निर्धारित किया कि फलकों के हिसाबों में जमा-जोड़ के जो परिणाम दिए गए हैं, उनमें दो भेद हैं : एक प्रकार में पुरुष तथा एक जाति के पशुओं का आभास मिलता है, तो दूसरे प्रकार में

स्त्री तथा अन्य जातियों के पशुओं का आभास मिलता है। लिंग-भेद के य स्पष्ट प्रमाण थे। लेखों में आए शब्द-संकेतों का सूक्ष्म अध्ययन करके कोबेर ने यह भी देखा कि कुछ शब्द दो रूपों में मिलते हैं--एक ही शब्द का एक रूप इसके दूसरे रूप से एक संकेत में बड़ा मिलता है। विभिन्न अंत्य-प्रत्ययोंवाले इस प्रकार के कुछ शब्दों को खोज कर कोबेर ने इनके विविध रूपों की एक तालिका भी तैयार की थी, जो आज 'कोबेर के त्रिविध' के नाम से प्रसिद्ध है।

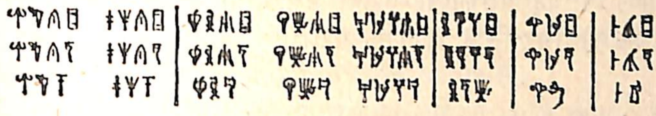

"कोबेर के त्रिविध"

कुमारी कोबेर इस लिपि के अध्ययन में सही मार्ग पर आगे बढ़ रही थी, पर उसकी अचानक मृत्य हो जाने से इस काम में रुकावट पड़ गई। कोबेर के बाद इंग्लैण्ड के माइकेल वेन्ट्रिस ने इस लिपि के अन्वेषण का काम हाथ में लिया। इसमें उन्हें चाडविक का सहयोग मिला। अन्त में वेन्ट्रिस और चाडविक ने मिलकर रैखिक-ब लिपि का पूर्ण रूप से उद्घाटन किया।

असल में, कोबेर के भी बहुत पहले वेन्ट्रिस के जीवन में क्रीट की इस लिपि के अध्ययन का बीजारोपण हो चुका था। 'ब्रिटिश स्कूल ऑफ आर्केओलॉजी' (अथेन्स) के ५० वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष में १६३६ में लंदन के बर्लिंग्टन-हाउस में एक पुरातत्व-प्रदर्शनी का आयोजन किया गया था। इस अवसर पर सर आर्थर इवान्स ने क्रीट की सभ्यता तथा लिपियों के बारे में एक भाषण दिया था। इस व्याख्यान के समय श्रोताओं में १४ वर्ष का एक विद्यार्थी भी उपस्थित था। यह विद्यार्थी था माइकेल वेन्ट्रिस। इस व्याख्यान के समय माइकेल के मस्तिष्क में जिन विचारों का बीजारोपण हुआ, वे फलित हुए सोलह साल बाद। बचपन से ही माइकेल पुरालिपियों में तथा भाषाओं के अध्ययन में गहरी दिलचस्पी रखता था। सात वर्ष की आयु में ही उसने मिस्र की हाइरोग्लिफिक लिपि पर जर्मन भाषा में लिखी हुई एक पुस्तक खरीदकर पढ़ी थी।

माइकेल का जन्म १२ जुलाई, १६२२ में इंग्लैण्ड के एक सुखी परिवार में हुआ था। उसके पिता भारत में एक सैनिक अधिकारी थे। माइकेल की आरंभिक शिक्षा जर्मन तथा फ्रेंच के माध्यम से स्विट्जरलैंड के एक स्कूल में हुई थी। उसने इसी समय स्थानीय स्विस-जर्मन बोली भी सीखी और छह साल की अल्पायु में पोलिश भाषा भी सीख ली। बाद में इंग्लैंड के एक स्कूल में दाखिल होने पर उसने ग्रीक भाषा का भी अध्ययन किया। स्कूल की पढ़ाई समाप्त करने पर माइकेल उच्च अध्ययन के लिए किसी विश्वविद्यालय में भर्ती नहीं हुआ उसने लंदन के एक वास्तुकला विद्यालय में नाम लिखा लिया। द्वितीय महायुद्ध आरंभ होने पर माइकेल को भी अपनी पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी, वह रॉयल एअर फोर्स में भर्ती हो गया। युद्ध के दौरान भी वह मिनोअन-लिपि संबंधी पुस्तकों-पत्रिकाओं को बराबर अपने साथ रखता रहा और इनका गहराई से अध्ययन करता रहा।

रैखिक-ब के संकेत-समूह (शब्द) एक छोटी-सी खड़ी लकीर द्वारा अलग किए हुए हैं। प्रत्येक समूह में दो से आठ तक संकेत मिलते हैं। इन संकेत-समूहों के साथ स्वतन्त्र रूप से भावचित्रों का भी प्रायः इस्तेमाल हुआ है। ये भावचित्र पूर्ण शब्दों के द्योतक हैं और संकेत-समूहों के संकेत अक्षरात्मक हैं। रैखिक-ब में इन अक्षर-संकेतों की संख्या ८९ है कुल संकेतों की ठीक संख्या अभी भी विवादास्पद है। स्पष्ट है कि एक भावचित्रात्मक लिपि के लिए इतने संकेत कम हैं, और किसी वर्णमालात्मक लिपि के लिए इतने संकेत अधिक हैं। अत: यह लिपि अक्षरात्मक (सिलेबिक) ही होनी चाहिए। यहां यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यह अक्षरमाला जापानी अक्षरमाला की तरह काफी सरल होनी चाहिए, न कि कीलाक्षर लिपि की तरह जटिल।

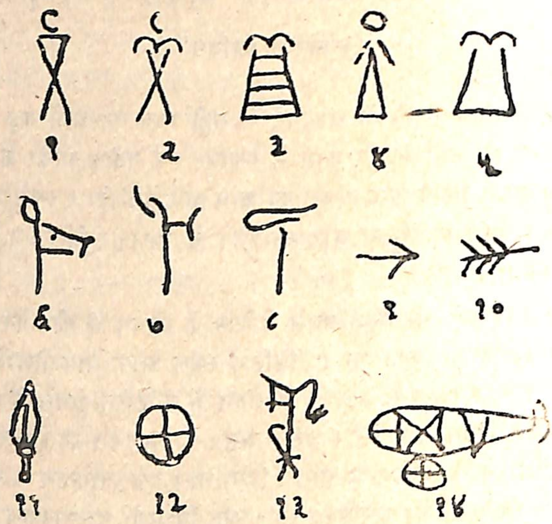

कुछ क्रीटो-माइसिनी भावचित्र: १. पुरुष, २. योद्धा, ३. कवच, ४. स्त्री, ५. वस्त्र, ६. शूकर, ७. वत्स, बछड़ा, ८. भेड़, ९. भाला, १०. तीर, ११. खड्ग, १२. चक्र, पहिया, १३. मधु : दो अक्षरात्मक संकेतों का योग, मे-री, यूनानी भाषा में 'मेली' १४. युद्धरथ।

इस लिपि के अधिकांश लेख एक प्रकार से राजप्रासाद के बहीखातों के पन्ने ही हैं। यही कारण है कि इन लेखों में अंक-संकेत बहुतायत से मिलते हैं। क्योंकि अंक-संकेतों को आसानी से पहचाना जा सकता है, इसलिए सबसे पहले इस लिपि के हिसाब तथा माप-तौल संबंधी संकेतों तथा भावचित्रों को पहचानने में सफलता मिली। इवान्स ने ही सबसे पहले इनका विवरण प्रस्तुत किया था। इन लेखों की अंक-पद्धति बहुत ही सरल है। यह दाशमिक पद्धति पर तो आधारित है, परन्तु हमारी वर्तमान अंक-पद्धति की तरह इसमें स्थानमान के लिए कोई स्थान नहीं है। इसमें शून्य के लिए कोई संकेत नहीं है। १ से ९ तक के अंक खड़ी लकीरों से व्यक्त किए गए हैं। इसी प्रकार, आड़ी लकीरें दहाई को व्यक्त करती हैं। वृत्त सैकड़े को, वृत के साथ किरणें दरशायी गईं तो हजार को और किरणोंवाले वृत्त के भीतर एक आड़ी लकीर हो तो दश-सहस्र को दरशाते हैं।

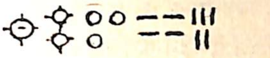 = १२३४५

अंक-संकेतों की तरह रैखिक-ब के कुछ भावचित्रों को भी आसानी से पहचाना जा सकता है। पशुओं के भावचित्रों में इवान्स ने पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग के भेद को पहचान लिया था। पशुओं के इन भावचित्रों के बीच में दो आड़ी लकीरें खींचकर इनका लिंग-भेद स्पष्ट किया गया है। कुमारी कोबेर ने 'कुल-जोड़' शब्द के दो रूपों के आधार पर इस शब्द के लिंग-भेद को पहचान लिया था। पुरुष या पुल्लिंगी वस्तुओं का और स्त्रियों या स्त्रीलिंगी वस्तुओं का, अन्त में जोड़ करने पर, जोड़ की संख्या के पहले 'कुल' शब्द रहता था। वस्तुतः संकेतों के अक्षरमान ज्ञात न होने पर भी इन लेखों का कुछ अर्थ लगाया ही जा सकता था, क्योंकि ये सभी लेख हिसाब-किताब से संबंधित हैं।

महायुद्ध के बाद वास्तुशिल्प का अध्ययन समाप्त करके वेन्ट्रिस पुनः नये सिरे से मिनोअन लिपि के अध्ययन में जुट गया। १९५० के आरंभिक दिनों में उसने इस लिपि के बारे में एक प्रश्नावली तैयार की और इसकी प्रतियां अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के एक दर्जन विद्वानों को भेज दीं। ये प्रश्न मिनोअन लिपियों की भाषा या भाषाएं, इनमें विभक्ति-प्रत्ययों का प्रमाण, रैखिक-अ, रैखिक-ब तथा साइप्रसी अक्षरमाला के बीच संबंध आदि विषयों से संबंधित थे। वेन्ट्रिस को जब दस विद्वानों से उत्तर प्राप्त हुए तो उसने इनका अंग्रेजी में अनुवाद करके इनके साथ अपनी टिप्पणियां जोड़कर अपने ही खर्च से इनका वितरण किया। इस विवरण का शीर्षक था "मिनोअन तथा माइसिनी सभ्यता की भाषाएं"। चूंकि इसमें १९५० तक के सभी प्रकार के विचारों का समावेश था, इसलिए बाद में इस विवरण को "मध्य-शताब्दी रिपोर्ट" का नाम दिया गया।

वास्तुकला का व्यवसाय ही वेन्ट्रिस का अधिकांश समय ले लेता था। परन्तु अब वह मिनोअन लिपि के अध्ययन को भी छोड़ नहीं सकता था। "रिपोर्ट" के बाद दो साल तक वह अपने बचे-खुचे समय में दत्तचित्त होकर इस लिपि का अन्वेषण करता रहा। इन दो सालों में उसने अपनी गवेषणाओं के बारे में बीस लम्बी टिप्पणियां तैयार कीं और अपने खर्च से ही इनकी प्रतियां तैयार करवाके इन्हें लगभग एक दर्जन विद्वानों के पास भेजता रहा। अब ये टिप्पणियां पुस्तकाकार प्रकाशित हो गई हैं। इनके अध्ययन से वेन्ट्रिस की गवेषणाओं का पूर्ण इतिहास ज्ञात हो जाता है। उसकी आरंभिक टिप्पणियों में कुछ गलतियां स्पष्ट दिखाई देती हैं। वह अब भी इस लिपि में एजियन या एत्रुस्कन भाषा की आशा लगाये हुए था। १९५२ के मध्य तक वह मिनोअन लिपि के लिए एत्रुस्कन भाषा की ही कल्पना करता रहा। लेकिन इस लिपि के विश्लेषण में उसकी इस मान्यता से कोई बाधा नहीं पड़ी। १९५० में बेनेट के "पाइलोस-फलकों" के प्रकाशित हो जाने से रैखिक-ब के अध्ययन के लिए अब पर्याप्त लेख उपलब्ध हो गये थे। इसी प्रकाशन में पहली बार रैखिक-ब के संकेतों की एक विश्वसनीय सूची दी गई थी। वेन्ट्रिस ने इसके बाद हर संकेत की वारंवरता—हर संकेत की संकेत-समूहों के आरंभ में, अंत में तथा अन्य स्थितियों में वारंवरता—का सूक्ष्म अध्ययन करके इन संकेतों की एक सांख्यिकीय तालिका तैयार की। इस प्रकार की तालिकाएं बेनेट तथा ग्रीक पुरातत्ववेत्ता क्रिस्टोपौलोस ने भी तैयार की थी। १९५१ में वेन्ट्रिस ने पाइलोस-फलकों से ऐसे १५६ शब्दों की एक सूची तैयार की जो स्पष्ट रूप से विभक्ति-प्रत्ययों से प्रभावित थे। इनमें से कुछ शब्द-रूपान्तर लिंग-भेद के कारण भी थे।

इस प्रकार के व्याकरणात्मक विश्लेषण से प्रत्ययों की संभावित ध्वनियों का पता लगाया जा सकता है। इन ध्वनियों को पकड़ने के लिए वेन्ट्रिस ने एक "जाल" (ग्रिड) तैयार किया। उसने पांच स्वरों को क्षैतिज रेखा में रखा और इनके नीचे बायीं ओर १५ व्यंजनों को एक खड़ी रेखा में रखा। इस प्रकार उसे ८० वर्गों का एक 'जाल' प्राप्त हो गया। इसके बाद लेखों के संकेत-समूहों में विभक्ति-प्रत्ययों का अध्ययन करके वह संभावित अक्षर-ध्वनियों को इस जाल के वर्गों में भरता गया। जैसे, 'पो' ध्वनि को उसी वर्ग में रखा जायेगा जहां 'प' व्यंजन और 'ओ' स्वर दोनों मिलते हैं। इस प्रकार, वेन्ट्रिस ने एक के बाद अनेक प्रयोगात्मक अक्षर-जाल तैयार किये। इस प्रकार के अध्ययन से भाषा के उच्चारण को जाने बिना भी इसके व्याकरण के बारे में काफी जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

क्रीट की रैखिक-ब लिपि की अक्षरमाला,
(वेन्ट्रिस और चाडविक के आधार पर)

वेन्ट्रिस की यह 'जाल-पद्धति' काफी प्रगति कर चुकी तो अन्त में उसे इसमें 'अम्निसोस', 'क्नोसोस', 'तुलिसोस', 'फाइस्टोस', 'लिक्टोस' आदि क्रीट के नगर-नामों का आभास मिलने लगा। इसके बाद उसे लेखों में 'पो-मे-नो' (गड़रिया), 'के-रा-के-मु' (कुम्भकार), 'इ-ए-रे-उ' (पुरोहित), 'ई-जे-रे-जा' (पुरोहितिका) जैसे शब्द भी प्रकट होते दिखायी देने लगे। ये शब्द यूनानी भाषा के थे, किन्तु यह यूनानी भाषा अपने आरंभिक स्वरूप की थी। शनैः-शनैः रैखिक-ब के मूक लेख बोलने लगे, यूनानी भाषा में बोलने लगे––यह यूनानी भाषा आद्य स्वरूप की थी, किन्तु थी यूनानी ही। जून १९५२ में वेन्ट्रिस को विश्वास हो गया कि उसने रैखिक-ब लिपि का उद्घाटन कर लिया है। उसकी २०वीं टिप्पणी को देखने से पता चलता है कि इन लेखों में उसने यूनानी शब्दों को खोजना आरंभ कर दिया था।

१९५२ में वेन्ट्रिस को रेडियो पर व्याख्यान देने के लिए आमंत्रण मिला। इस अवसर का लाभ उठाते हुए वेन्ट्रिस ने इस भाषण में अपनी गवेषणाओं का भी उल्लेख किया। मिनोअन लिपि की खोज तथा इसके अन्वेषण का संक्षिप्त परिचय देने के बाद, उसने अन्त में कहा :

"पिछले कुछ सप्ताहों से मैं इस निर्णय पर पहुंचा हूं कि क्नोसोस और पाइलोस के फलक यूनानी भाषा में ही लिखे होने चाहिए। यह यूनानी भाषा जटिल तथा कुछ आद्य स्वरूप की है, क्योंकि यह होमर से लगभग ५०० साल पहले की है; और यह कुछ संक्षिप्त रूप में लिखी गई है। किन्तु है यह यूनानी ही।

"इस मान्यता को स्वीकार कर लेने के बाद भाषा तथा लेखन की बहुत-सी विचित्रताएं, जो मुझे उलझन में डाले हुई थीं, अब स्पष्ट हो गयी हैं। यद्यपि अब भी बहुत-से फलकों का अर्थ लगाना कठिन है, लेकिन कुछ अन्य फलक अब बोलने लगे हैं।"

वेन्ट्रिस के इस भाषण को बहुतों ने सुना होगा; परन्तु जिस व्यक्ति पर संभवतः इसका सबसे अधिक प्रभाव पड़ा, वह था जोन चाडविक (जन्म १९२०)। १९५२ में पुरातन भाषा-विज्ञान के प्राध्यापक के रूप में चाडविक की कैम्ब्रिज-विश्वविद्यालय में नियुक्ति हुई थी। चाडविक भी स्वतन्त्र रूप से मिनोअन-लिपि का अध्ययन कर रहा था। रेडियो पर वेन्ट्रिस का भाषण सुनने पर चाडविक को उसकी मान्यताओं में सार नजर आया और वह उससे मिलने के लिए उतावला हो गया। पहले वह सर जोन माइरेस से मिला। माइरेस ने उसे वेन्ट्रिस की २०वीं टिप्पणी भी दिखाई, जिसकी उसने तत्काल नकल उतार ली। इसके बाद माइरेस ने चाडविक का वेन्ट्रिस से परिचय भी कराया। यही वेन्ट्रिस-चाडविक जोड़ी का श्रीगणेश था। इसके बाद दोनों ने मिलकर रैखिक-ब की गवेषणाओं को आगे चालू रखा। वेन्ट्रिस यूनानी भाषा तो जानता था, परन्तु वह भाषा-शास्त्र का पंडित न होने से इस भाषा की सूक्ष्म बातों को नहीं जान सकता था। अब चाडविक के रूप में उसे भाषाशास्त्र का एक पंडित-मित्र मिल गया था, इसलिए वह अपनी गवेषणाओं में निर्बाध गति से आगे बढ़ सकता था।

इसके बाद वेन्ट्रिस-चाडविक ने मिलकर अपनी गवेषणाओं के संबंध में एक विस्तृत निबंध तैयार किया। इस निबन्ध का शीर्षक था––"माइसिनी अभिलेखागारों में यूनानी बोली के प्रमाण" (एविडेंस फॉर ग्रीक डायलेक्ट इन माइसिनीयन आर्किव्ज़)। इन्होंने यह निबंध 'जर्नल ऑफ हेलेनिक स्टडीज़' में प्रकाशन के लिए भेज दिया, जिसमें

यह १९५३ में प्रकाशित हुआ । इस निबंध में वेन्ट्रिस-चाडविक ने रैखिक-ब लेखों की यूनानी भाषा के स्वरूप के बारे में जो जानकारी दी, उसकी प्रमुख बातें हैं :

(१) पांच स्वर--अ, ए, इ, ओ, उ--स्पष्ट हैं, किन्तु इनमें ह्रस्व-दीर्घ का भेद नहीं किया गया है ।

(२) कुल व्यंजन १२ हैं : य (ज), व, द, म, न, स, क (क, ख, ग,), (प-प, फ, ब), त (त, थ), र (र,ल), ज (झ), क (क्व, क्वः)

(३) ल, म, न, र तथा स अक्षर जब शब्द के अंत में या अन्य व्यंजनों के पहले आते हैं, तो छोड़ दिये जाते हैं; जैसे पो-मे=पोमेन (गड़रिया), का-को=खाल्कोस (तांबा) ।

इस निबन्ध के प्रकाशित होने पर वेन्ट्रिस की गवेषणाओं की चहुंओर चर्चा होने लगी । २४ जून १९५३ में लंदन के 'टाइम्स' पत्र में लिखे गये एक लेख में वेन्ट्रिस की इस खोज को "यूनानी पुरातत्व का एवरेस्ट" कहा गया । वेन्ट्रिस-चाडविक की इन गवेषणाओं के लिए 'प्रमाण' भी जल्दी ही मिल गया । पाइलोस की खुदाई करने वाले प्रो० ब्लेगेन ने १६ मई १९५३ में वेन्ट्रिस को एक पत्र लिखा--

"जब से यूनान लौटा हूं, मेरा अधिकांश समय पाइलोस से प्राप्त फलकों के अध्ययन तथा इनके फोटो उतारने में ही बीता है । मैंने तुम्हारी प्रयोगात्मक अक्षरमाला के आधार पर इनमें से कुछ फलकों को पढ़ने का प्रयत्न किया है ।

"तुम्हारी जानकारी के लिए इस पत्र के साथ पाइलोस फलक नं० ६४१ की एक प्रतिलिपि भेज रहा हूं, जिसे देखकर तुम्हें भी आश्चर्य हुए बिना नहीं रहेगा । यह फलक कुछ ऐसे पात्रों से संबंधित है जिनके तीन पाये या पैर हैं, या जिनकी तीन या चार मूठें हैं, कुछ बिना मूठ के भी हैं । तुम्हारी अक्षरमाला के अनुसार इस फलक का पहला शब्द 'ति-रि-पो-दे' जान पड़ता है । यह शब्द दो बार पुनः 'ति-रि-पो' (एकवचन १) के रूप में मिलता है । चार मूठों वाले पात्र के पहले 'क्वे-तो-रो-व' शब्द मिलता है और तीन मूठों वाले पात्र के पहले 'ति-रि-ओ-व' या 'ति-रि-जो व' शब्द । मूठ रहित पात्र के पहले 'ओ-नोवे-' शब्द मिलता है । क्या हम इसे संयोग मात्र ही मान सकते हैं ?"

नीचे हम इस प्रसिद्ध फलक का रेखाचित्र तथा इस पर उत्कीर्ण लेख का लिप्यन्तर एवं अनुवाद दे रहे हैं :

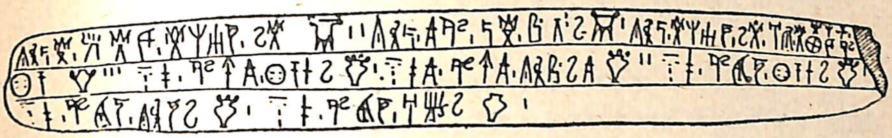

रैखिक–ब लिपि में पाइलोस-फलक नं० ६४१

पंक्ति नं०	लिप्यन्तर तथा अनुवाद	भावचित्र
१.	ति-रि-पो-दे अइ-के-उ के-रे-सि-जो वे-के	(तीन पैरों वाला पात्र)
	त्रिपाद-पात्र, अइगेउस नामक क्रीट निवासी ने बनाया इसे ।	
	ति-रि-पो ए-मे पो-दे ओ-वो-वे	
	त्रिपाद, एक पैर और एक मूठ के साथ ।	
	(पहली पंक्ति का अंतिम अंश खंडित होने से इसे छोड़ दिया जाता है ।)	
२.	दि-पा-ए मे-झो-ए क्वे-तो-रो-वे	(चार मूठोंवाला पात्र)
	कलश : कुछ बड़ा चार मूठों वाला ।	
	दि-पा-ए मे-झो-ए ति-रि-ओ-वे-ए	(तीन मूठों वाला पात्र)
	(दो) कलश : तीन मूठों के साथ कुछ बड़े ।	
	दि-पा मे-वि-जो क्वे-तो-रो-वे	(चार मूठों वाला पात्र)
	कलशः छोटा चार मूठों के साथ ।	
३.	दि-पा मे-वि-जो ति-रि-जो-वे	(तीन मूठों वाला पात्र)
	कलश : छोटा, तीन मूठों वाला	
	दि-पा मे-बि-जो आ-नो-वे	(मूठ रहित पात्र)
	कलश : छोटा, बिना मूठ का ।	

वेन्ट्रिस और चाडविक की गवेषणाओं की सचाई के लिए यह एक ठोस प्रमाण था । फिर भी, कुछ पुराविद इनकी इस अक्षरमाला को बहुत दिनों तक संदेह की दृष्टि से देखते रहे । परन्तु अब प्रायः सभी विद्वान स्वीकार करते हैं कि वेन्ट्रिस-चाडविक के हाथों क्रीट की रैखिक-ब लिपि का उद्‌घाटन पूर्ण हो गया है । १९५४ में वेन्ट्रिस और चाडविक ने इस लिपि के बारे में तीन खंडों में एक ग्रन्थ—माइसिनी-यूनानी अभिलेख ('डाक्यूमेंट्स इन माइसिनीयन ग्रीक')—की योजना बनाई थी । १९५५ के अन्त तक इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि भी तैयार हो गई थी । ६ सितम्बर १९५६ में मोटर दुर्घटना में वेन्ट्रिस की मृत्यु हो जाने पर ही यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ ।

रैखिक-ब के बाद अब हम अन्य मिनोअन लिपियों पर विचार करेंगे । रैखिक-ब के अलावा अभी तक किसी भी अन्य मिनोअन लिपि का उद्‌घाटन नहीं हो सका है । सबसे पहले रैखिक-ब का अध्ययन इसलिए आरंभ हुआ कि इस लिपि में ही सबसे अधिक लेख उपलब्ध थे । आरंभ में इवान्स को क्नोसोस से रैखिक-अ के कुछ लेख मिले

थे। बाद में एक इतालवी पुराविद ने हागिया-त्रिएदा की खुदाई में एक महल से और दक्षिण क्रीट के फाइस्टोस स्थान से रैखिक-अ के और भी लेख प्राप्त किये। क्रीट के अन्य स्थानों से भी इस लिपि के कुछ लेख मिले हैं।

यह रैखिक-अ लिपि एक ओर क्रीट की अधिक प्राचीन हाइरोग्लिफिक (चित्र) लिपि से और दूसरी ओर रैखिक-ब से संबंधित जान पड़ती है। वस्तुतः रैखिक-अ और रैखिक-ब के ४५ संकेतों में काफी साम्य है। इस रैखिक-अ के उपलब्ध लेख लगभग १६५० ई०पू० के हैं। अधिकांश पुराविदों का विश्वास है कि रैखिक-अ की भाषा अ-यूनानी है। सम्भवतः यह अज्ञेय भाषा क्रीट के आरंभिक (यूनानियों के आगमन के पहले के) निवासियों की भाषा थी। असल में इन अ-यूनानियों ने ही क्रीट की इस रैखिक-अ लिपि का आविष्कार किया था। बाद में क्रीट में आए हुए यूनानियों ने इसे रैखिक-ब का रूप देकर अपनी भाषा के लिए अपना लिया।

बहुत-से पुरालिपिविदों ने रैखिक-अ के अन्वेषण के प्रयास किये हैं। किन्तु अभी तक किसी को भी सफलता नहीं मिली है। एच० गोर्डोन ने रैखिक-अ के लिए सेमेटिक अक्कदी भाषा की कल्पना की है, परन्तु किसी ने भी गोर्डोन के इस प्रयास को महत्व नहीं दिया है। अब तो ऐसा लगता है कि कोई द्वैभाषिक लेख प्राप्त होने पर ही इस रैखिक-अ लिपि का उद्घाटन सम्भव है।

इस प्रकरण के आरंभ में हमने क्रीट की चित्रलिपि का उल्लेख किया है। सबसे पहले इवान्स ने ही क्रीट की मुहरों पर इस चित्रलिपि के संकेत प्राप्त किये थे। इस लिपि के अन्वेषण में भी अभी तक किसी को सफलता नहीं मिली है। सम्भवतः इस चित्रलिपि तथा रैखिक-अ की भाषा एक ही है——यूनानियों के आगमन के पहले की क्रीट-निवासियों की भाषा।

प्रसिद्ध 'फाइस्टोस-चकती (डिस्क)' के उल्लेख के बिना क्रीट की पुरालिपियों का यह विवेचन अधूरा ही समझा जायेगा। दक्षिण क्रीट में फाइस्टोस के मिनोअन प्रासाद की खुदाई में इतालवी पुराविदों ने १६०८ में इस डिस्क को प्राप्त किया था। पकाई मिट्टी की इस डिस्क का व्यास लगभग १७ सेंटीमीटर है। इस के दोनों ओर चित्रलिपि में लेख हैं। डिस्क के दोनों ओर के ये लेख उसकी परिधि से आरंभ होकर सर्पिल मार्ग में सारी जगह को घेरते हुए इसके केन्द्र पर समाप्त होते हैं। इन लेखों में कुल ४५ चित्र-संकेत हैं और ये दाहिनी ओर से बायीं ओर को लिखे गये हैं। परन्तु इस डिस्क के बारे में सबसे अद्भुत बात यह है कि इसका प्रत्येक चित्र-संकेत मुलायम मिट्टी पर ठप्पों (टाइपों) से अंकित किया गया है। अतः इस डिस्क को हम ठप्पा-मुद्रण का सबसे प्राचीन प्रमाण मान सकते हैं। कोई भी विश्वास नहीं करेगा कि केवल इसी एक डिस्क के लिए ४५ चित्र-संकेतों के ठप्पे तैयार किये गये थे; इन ठप्पों से और भी बहुत-से लेख तैयार किये होंगे। परन्तु कहीं से भी हमें इस डिस्क की तरह कोई दूसरी डिस्क या इस चित्रलिपि का कोई दूसरा लेख प्राप्त नहीं हुआ है।

बहुत-से विद्वान इस डिस्क को मिनोअन उत्पत्ति की मानते ही नहीं। इवान्स का भी विश्वास था कि यह डिस्क अनातोलिया से क्रीट में लाई गई है। इस डिस्क के लेख को पढ़ने के सैकड़ों प्रयत्न हुए हैं, किन्तु किसी को भी इस के उद्घाटन में सफलता नहीं मिली है। इस डिस्क को प्राप्त हुए साठ साल हो चुके हैं, परन्तु आज भी पुरालिपिविदों के लिए यह एक रहस्य ही बनी हुई है।

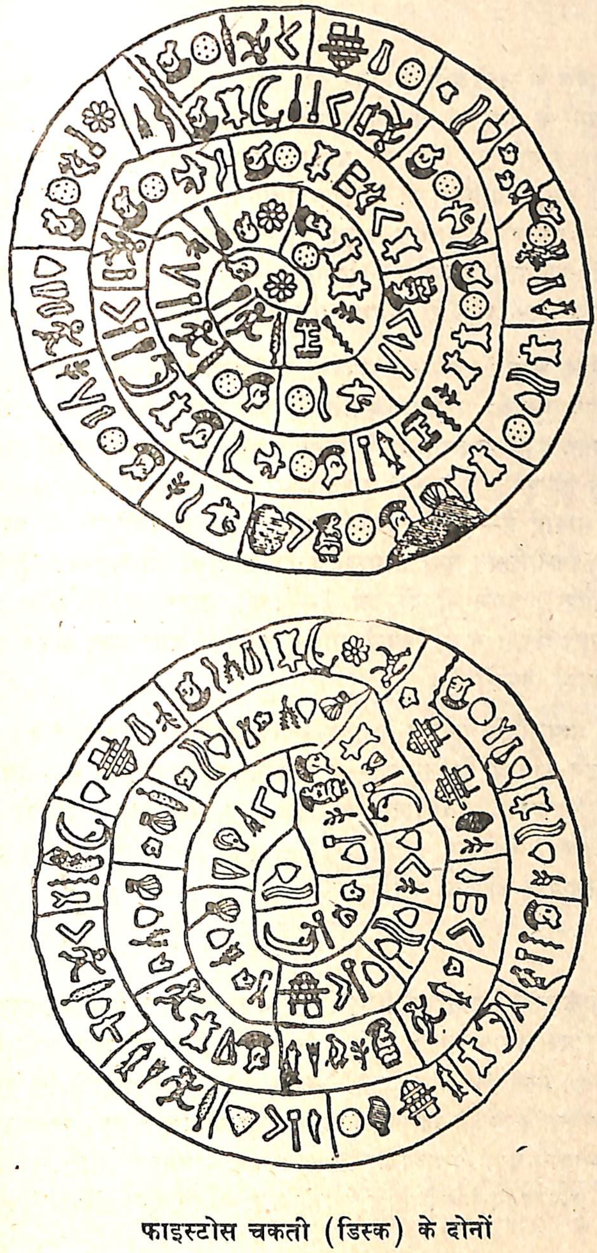

फाइस्टोस चकती (डिस्क) के दोनों ओर 'मुद्रित' लेख।

८

सेमेटिक लिपियाँ

बाइबल के उल्लेख के अनुसार नूह (नोह) के दो बेटे थे——शेम और हाम। इन्हीं दो भाइयों के नाम पर पश्चिम एशिया के दो प्रमुख भाषा-परिवारों का नामकरण हुआ है। हाम के नाम पर मिस्र की प्राचीन भाषा, लिबियन (बेर्बेर) भाषाओं एवं बोलियों तथा कुशीती बोलियों को 'हेमेटिक भाषा-परिवार' का नाम दिया गया है। शेम दक्षिण-पश्चिम एशिया के प्राचीन निवासियों के आदि-पुरुष माने जाते हैं, इसलिए इस प्रदेश में बोली जानेवाली भाषाओं को 'सेमेटिक' नाम दिया गया है। पर प्राचीन काल में सेमेटिक तथा हेमेटिक दोनों ही भाषाएं एक ही रही होंगी।

सेमेटिक भाषाओं को कई उपवर्गों में विभाजित किया गया है। (१) पूर्वी सेमेटिक : इसके अन्तर्गत अक्कदी, बेबीलोनी तथा असीरी भाषाओं का समावेश होता हैं। ये तीनों भाषाएं कीलाक्षर लिपि में लिखी गई हैं, और इनकी चर्चा विस्तार के साथ हम पहले कर ही चुके हैं। (२) पश्चिमी या उत्तर-पश्चिमी सेमेटिक : इसके अन्तर्गत दो वर्गों की भाषाएं हैं——(अ) कनानी, और (ब) आरमेई। कनानी भाषाओं के अन्तर्गत हिब्रू, फिनीशियन तथा मोआबी आदि भाषाओं का समावेश होता है। (३) दक्षिणी सेमेटिक : इसमें भी दो वर्ग हैं——(अ) उत्तरी अरबी, और (ब) दक्षिणी अरबी। दक्षिणी अरबी से ही मिनाई, साबई, इथोपिई तथा अन्य अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन भाषाएं निकली हैं।

यहां भाषाओं के विवेचन में गहरे उतरना हमारा उद्देश्य नहीं है। यहां हमें यही देखना है कि इन भाषाओं के लिए कौन-सी लिपियां प्रयुक्त हुई हैं। कुछ सेमेटिक भाषाओं के लिए, जैसे कि अक्कदी-बेबीलोनी-असीरी के लिए, कीलाक्षर लिपियों का इस्तेमाल हुआ है, और इनकी चर्चा हम कर ही चुके हैं। प्रस्तुत प्रकरण में हम शेष प्रमुख सेमेटिक भाषाओं की लिपियों की चर्चा करेंगे।

सिनाई लिपि

अब तक हमने जितनी भी लिपियों की चर्चा की है, वे सभी चित्रात्मक या भाव-चित्रात्मक या अक्षरात्मक थीं। इनमें से किसी भी लिपि को हम शुद्ध वर्णमालात्मक नहीं मान सकते। मिस्र की लिपि की चर्चा करते समय हमने देखा है कि हाइरोग्लिफिक लिपि के कुछ संकेतों ने व्यंजन-ध्वनियों का रूप प्राप्त कर लिया था। परन्तु इन तथाकथित व्यंजनों का इस्तेमाल बड़ा ही अव्यवस्थित था। इन व्यंजनों का विधिवत इस्तेमाल नहीं ही होता था। प्राचीन मिस्र के लिपिक एक ही शब्द को विभिन्न संकेतों से लिखने के लिए

स्वतन्त्र थे; इसलिए मिस्री लिपि के इन कुछ ध्वनि-संकेतों को हम शुद्ध वर्णमाला नहीं मान सकते।

चूंकि यूरोप की सारी वर्तमान लिपियां यूनानी लिपि से निर्मित और विकसित हुई हैं, और स्वयं यूनानी लिपि का निर्माण निस्संदेह उत्तरी सेमेटिक लिपि के आधार पर हुआ था, और उत्तरी सेमेटिक लिपि एक वर्णमालात्मक लिपि थी, इसलिए यूरोप के विद्वानों के लिए यह प्रश्न बहुत ही महत्वपूर्ण बन गया है कि सेमेटिक वर्णमाला का निर्माण कैसे और कब हुआ।

पश्चिम एशिया में वर्णमालात्मक लिपि के जन्म को लेकर अनेक विद्वानों ने अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। कुछ विद्वान मानते हैं कि मिस्र की प्राचीन लिपि के 'व्यंजन-संकेतों' से सेमेटिक वर्णमाला अस्तित्व में आयी। परन्तु इस मत को अब बहुत कम विद्वान स्वीकार करते हैं। आजकल तो अधिकांश विद्वानों की यही राय है कि सिनाई प्रायद्वीप से प्राप्त कुछ लेखों के अक्षरों से ही सेमेटिक अक्षरों का निर्माण हुआ है।

प्रसिद्ध मिस्री पुरातत्ववेत्ता पेट्री ने सिनाई प्रायद्वीप से १९०४-५ में कुछ ऐसे लेख प्राप्त किये थे जिन पर मिस्र की हाइरोग्लिफिक़ लिपि जैसे संकेत थे। इन सिनाई-लेखों के संकेत यद्यपि हाइरोग्लिफिक जैसे दिखाई देते हैं, परन्तु इनकी संख्या इतनी कम है कि यह लिपि वर्णमालात्मक ही हो सकती है। बाद में सिनाई से इस लिपि के और भी लेख मिले। इस समय सिनाई लिपि के लगभग २५ लेख उपलब्ध हैं।

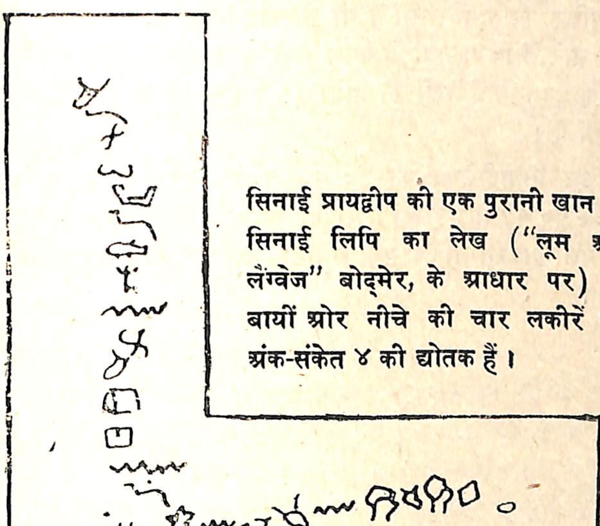

सिनाई प्रायद्वीप की एक पुरानी खान से प्राप्त सिनाई लिपि का लेख ("लूम ऑफ द लैंग्वेज" बोद्मेर, के आधार पर)। इसमें बायीं ओर नीचे की चार लकीरें संभवतः अंक-संकेत ४ की द्योतक हैं।

सबसे पहले एलान गार्डिनर ने इन लेखों को पढ़ने का प्रयत्न किया था। गार्डिनर मिस्री लिपि के विशेषज्ञ हैं और उन्होंने मिस्री व्याकरण पर एक प्रसिद्ध ग्रन्थ ('इजिप्शियन ग्रामर', ऑक्सफोर्ड) भी लिखा है। गार्डिनर ने सिनाई लिपि के बारे में अपनी गवेषणाओं को १९१६ में प्रकाशित किया था। उन्होंने देखा कि इन लेखों में चार या पांच अक्षर

हमेशा ही एक साथ आते हैं, जैसे कि चरवाहे का दण्ड, मकान, आंख, क्रॉस। इन अक्षरों को गार्डिनर ने हिब्रू अक्षरों के आधार पर पढ़ा; क्योंकि उनका विश्वास था कि हिब्रू

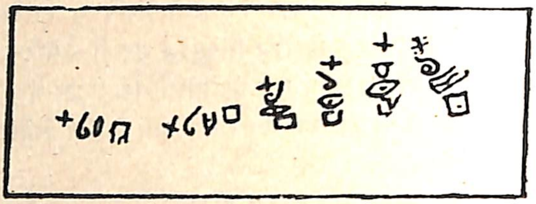

एलान गार्डिनर के अनुसार सिनाई लेखों में 'बालात' (एक देवी) शब्द के विविध रूप। यहां यह 'बालात' शब्द चार अक्षरों ('ब-अयिन-ल-त) से छह प्रकार से लिखा हुआ दिखाया गया है—चार बार ऊपर से नीचे और दो बार बायीं ओर से दायीं ओर ('अल्फाबेट', दिरिंजेर, के आधार पर)।

अक्षर इसी प्रकार के चित्र-संकेतों से अस्तित्व में आये हैं। गार्डिनर ने इन लेखों के चार अक्षरों में देवी "बालात" का नाम भी पढ़ा था। य चार अक्षर 'ब-अयिन-ल-त' थे। पता चलता है कि स्थानीय सेमेटिक लोग इस नाम की देवी की पूजा करते थे। बिब्लोस नगर में भी उस समय "बालात" की पूजा होती थी। इस बालात देवी को मिस्र वालों ने "हाथोर" नाम दिया था। इसलिए यह बहुत सम्भव जान पड़ता है, और आल्ब्राइट जैसे प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ताओं ने भी स्वीकार किया है, कि एलान गार्डिनर का सिनाई लिपि के बारे में किया गया अन्वेषण सही तथा उचित मार्ग पर है। यह जान लेना जरूरी है कि इन सिनाई-लेखों की भाषा एक कनानी बोली है, अर्थात् यह सेमेटिक परिवार की भाषा है।

गार्डिनर इन सिनाई-लेखों को ई० पू० १८वीं शताब्दी के मानते हैं; परन्तु आल्ब्राइट इन्हें ई० पू० १५वीं शताब्दी में रखना पसन्द करते हैं। गार्डिनर तथा सेथे की मान्यता है कि मिस्री हाइरोग्लिफिक तथा सेमेटिक लिपि के बीच यह सिनाई लिपि एक पुल के रूप में है।

६

कनानी लिपियां

बाइबल में पैलेस्तीन के लिए 'कनान' नाम मिलता है। जहां तक प्राचीन पैलेस्तीन की लिपियों, भाषाओं तथा संस्कृति का संबंध है, हम इस 'कनान' शब्द को 'उत्तरी-पश्चिमी सेमेटिक' का पर्यायवाची मान सकते हैं। पैलेस्तीन की उर्वर भूमि में प्रागैतिहासिक काल में दक्षिण (अरबिया) की ओर से सेमेटिक लोगों की तीन 'लहरें' आयी थीं। सबसे पहले अक्कदी लोग आये थे। फिर, ई० पू० तीसरी सहस्राब्दी के आरंभ में दूसरी लहर आयी। इस दूसरी लहर के पैलेस्तीन और सीरिया में बसे हुए लोग ही 'कनानी' कहे गये हैं। इनके बाद ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी में सेमेटिक लोगों की तीसरी लहर आयी। इस तीसरी लहर के लोग हिब्रू और आर्मियन माने जाते हैं। इन नवागत सेमेटिक लोगों ने पहले से बसे हुए सेमेटिक कनानियों को अंशतः मिटा दिया और अंशतः अपने में समेट लिया। सेमेटिक संस्कृति के प्रकांड विद्वान प्रो० विलियम फॉक्सवेल आल्ब्राइट 'कनानी' शब्द को ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से 'फिनीशियन' का पर्यायवाची मानते हैं। किन्तु सुविधा के लिए उन्होंने भी ई० पू० १२वीं शताब्दी की सीरिया तथा पैलेस्तीन की उत्तरी-पश्चिमी सेमेटिक जन-जाति तथा संस्कृति को 'कनानी' नाम दिया है; और इन्हीं लोगों को और इनकी बाद की संस्कृति को 'फिनीशियन' नाम दिया है।

जहां तक भाषा और लिपि का प्रश्न है, उत्तरी-पश्चिमी सेमेटिक के दो प्रमुख उपवर्ग हैं—कनानी और आरमेई (आरमाइक)। कनानी के अन्तर्गत हम मुख्यतः हिब्रू और फिनीशियन लिपियों पर ही विचार करेंगे।

प्राचीन कनानी लेख

१९३० के बाद पैलेस्तीन की खुदाई से मध्य ताम्रयुग (लग० १८००-१५०० ई० पू०) के कुछ खंडित छोटे-छोटे लेख मिले हैं। ये लेख पैलेस्तीन के गेझेर, शेचेम और लाचिश स्थानों से मिले हैं। सब मिलाकर इन लेखों में केवल १४ अक्षर मिलते हैं। इनमें केवल एक लेख पूरा है, बाकी सभी खंडित हैं। इसलिए, ऐसी स्थिति में इन लेखों की लिपि का पूर्ण अन्वेषण सम्भव नहीं है। इन लेखों के 'हाथ', 'सिर' और 'मकान' जैसे कुछ अक्षर सिनाई लिपि के अक्षरों से मिलते-जुलते हैं। इसके अलावा, ये दोनों लिपियां सामान्यतः ऊपर से नीचे की ओर लिखी हुई मिलती हैं।

पैलेस्तीन से इन प्राचीन कनानी लेखों के प्राप्त होने पर बहुत-से विद्वानों को लगा कि, अब उन्हें 'वर्णमालात्मक लिपि' के 'मूल स्रोत' पता चलने ही वाला है। अब

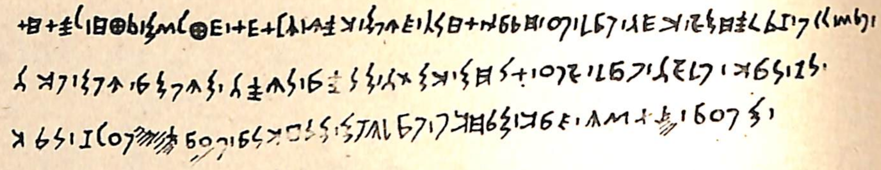

उत्तरी सेमेटिक लिपि में अहिराम लेख (ई०पू० दसवीं शताब्दी)

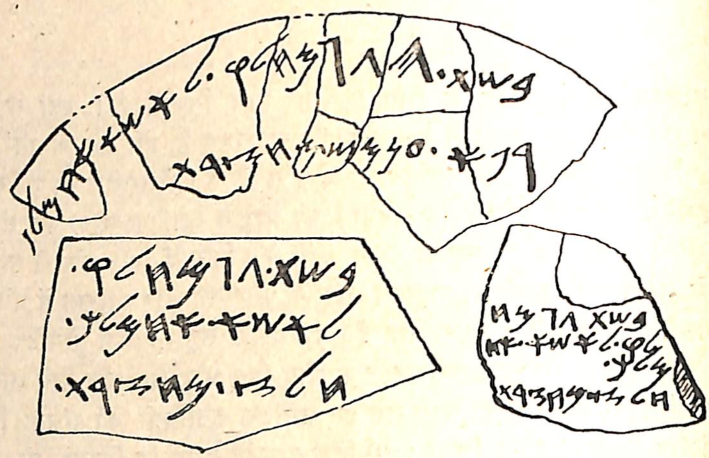

समरिया से प्राप्त मिट्टी के बर्तनों के ठीकरों ('ओस्ट्राका') पर प्राचीन हिब्रू के लेख (ई०पू० ८वीं शताब्दी, पूर्वार्ध)

जेरोबोम-द्वितीय के एक अधिकारी शेमा की मुद्रा (लग० ७७५ ई०पू०)। इस पर प्राचीन हिब्रू लिपि के अक्षर खुदे हुए हैं।

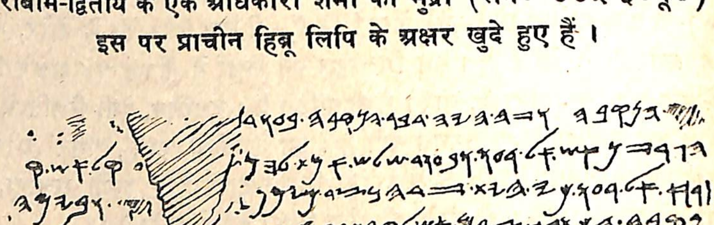

प्राचीन हिब्रू लिपि में सिलोएम लेख (लग० ७०० ई० पू०)

यह माना जाने लगा है कि सिनाई लिपि और उत्तरी सेमेटिक लिपि के बीच कनान के इन प्राचीन लेखों की लिपि का अस्तित्व रहा है। परन्तु जब तक इस प्राचीन कनानी लिपि के और लेख प्राप्त नहीं होते और जब तक इन लेखों की पूरी लिपि को पहचाना नहीं जाता, तब तक इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता।

प्राचीन हिब्रू लिपि

आल्ब्राइट के अनुसार हिब्रू लिपि का प्राचीनतम उपलब्ध लेख 'गेझेर पंचांग' है। यह 'गेझेर पंचांग' एक चूना-प्रस्तर है, जिस पर साल भर के कृषिकर्म का लेखा-जोखा अंकित है। आल्ब्राइट इस लेख को ई० पू० दसवीं शताब्दी का मानते हैं। इस लेख के अधिकतर अक्षर, एक तरफ प्राचीन उत्तरी सेमेटिक लेखों के अक्षरों से मिलते हैं, तो दूसरी तरफ कुछ बाद के प्राचीन हिब्रू अक्षरों से भी मिलते हैं।

शिला-फलक पर प्राचीन हिब्रू का अभी तक एक भी लेख नहीं मिला है। हां, मिट्टी के बर्तनों के ठीकरों ("ओस्ट्राका") पर समरिया शहर से लगभग ७० लेख मिले हैं। ये ई० पू० आठवीं शताब्दी के हैं। इसी शताब्दी के उत्तरार्ध का सिलोएम से एक लेख मिला है। प्राचीन जेरूसलम नगर के नीचे एक पहाड़ी को काटकर बनायी गयी सुरंग के मुंह के पास एक चट्टान पर यह लेख खुदा हुआ था। पुरातन हिब्रू भाषा में लिखा गया यह लेख ई० पू० सातवीं शताब्दी का है।

किन्तु प्राचीन हिब्रू भाषा के सबसे अधिक महत्वपूर्ण लेख लाचिश स्थान से १९३५ और १९३८ के बीच मिले हैं। लाचिश से कुल २१ लेख मिले हैं और ये मिट्टी के बर्तनों के टुकड़ों पर स्याही से लिखे गये हैं। इनमें से अधिकतर लेख पत्रों के रूप में हैं, इसलिए इन्हें 'लाचिश पत्रों' का नाम दिया गया है। नेबुखदनेझर की खल्दियन सेना ने ५८८ ई० पू० में लाचिश नगर को ध्वस्त किया था, इसलिए ये 'लाचिश-पत्र' इसी काल के माने गये हैं। इन 'लाचिश पत्रों' में छह पत्र बहुत स्पष्ट हैं, परन्तु शेष पत्रों के लेख इतने धुंधले पड़ गये हैं कि आधुनिक वैज्ञानिक विधियों से पहले साफ करके ही इन्हें पढ़ा जा सकता है।

इन लेखों के अलावा दक्षिण पैलेस्तीन के विभिन्न स्थानों से ऐसे सैकड़ों लेख मिले हैं जो कलशों की मूठों पर अंकित हैं। पैलेस्तीन से लग० १५० अंकित मुहरें भी मिली हैं। माप-तौल के उपयोग में लाये गये पात्रों पर भी लघुलेख मिले हैं।

प्राचीन हिब्रू लिपि में २२ अक्षर थे। आधुनिक हिब्रू अक्षरों के जो नाम हैं, वही नाम प्राचीन उत्तरी सेमेटिक लिपियों के भी रहे होंगे। उत्तरी सेमेटिक लिपि के २२ अक्षरों के हिब्रू नाम हैं : आलेफ्, बेथ, गिमेल, दालेथ, हे, वाव, जयिन्, हेथ, थेत्, योध, काफ़, लामेध, मेम, नून, सामेख, अयिन्, पे, सादे, कॉफ, रेश, शिन् और ताव। यूनानी अक्षरों के नाम भी इन्हीं नामों से बने हैं। अंतर केवल इतना है कि, जहां प्रायः सभी हिब्रू नामों के अन्त में व्यंजन हैं, वहां यूनानी नामों (अल्फा, बिटा, गामा, इत्यादि) के अन्त में स्वर हैं। सेमेटिक लिपि के ये हिब्रू नाम चिर-परिचित वस्तुओं के नाम हैं; जैसे, बेथ=मकान, दालेथ=द्वार, काफ=हस्त, अयिन्=आंख, पे=मुख, गिमेल=ऊंट, आलेफ्=बैल, कॉफ=बंदर, इत्यादि।

प्राचीन हिब्रू लिपि के अक्षरों की विशेषताओं को पृष्ठ ८८ पर दी गयी तालिका से जाना जा सकता है। प्राचीन हिब्रू लिपि का काल ई० पू० १००० से ई० पू० ५०० तक

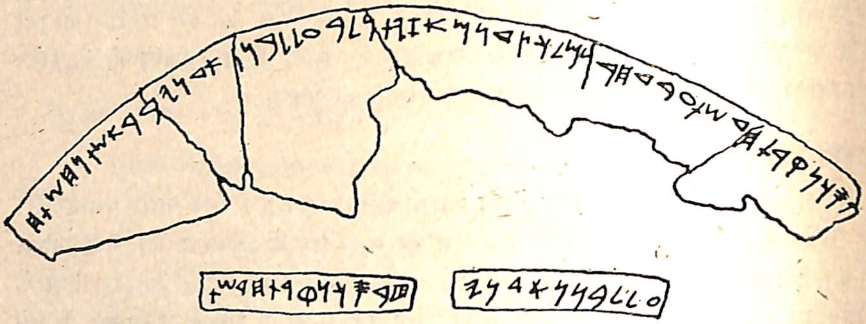

साइप्रो-फिनीशियन लेख (लग० ७०० ई० पू०)

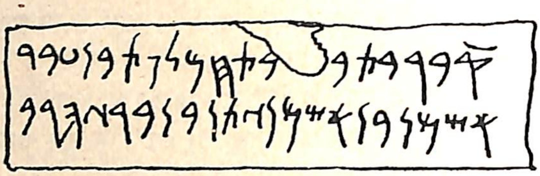

उत्तरी अफ्रीका से प्राप्त प्यूनिक लेख

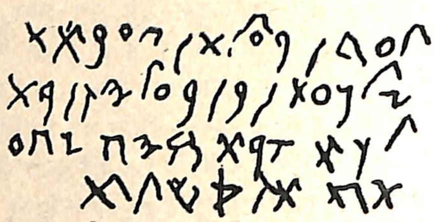

नव-प्यूनिक लेख

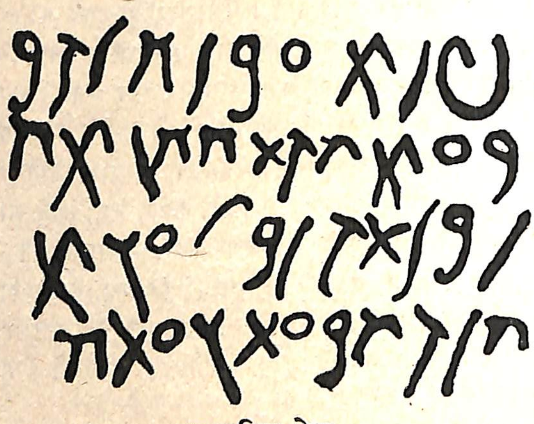

नव-प्यूनिक लेख

फिनीशियन लेख

माना जा सकता है। कालांतर में अस्तित्व में आई चौखुटे अक्षरों वाली हिब्रू लिपि का विवरण हम आगे देंगे।

प्राचीन हिब्रू लिपि से ही समारीती लिपि और यहूदी सिक्कों की लिपि निकली थीं। समारीती लिपि का प्रयोग एक संप्रदाय विशेष के कुछ लोग हमारे समय तक करते रहे हैं। ई० पू० दूसरी शताब्दी से दूसरी शताब्दी ई० तक के कुछ मक्काबी सिक्कों पर जो अक्षर-संकेत मिलते हैं, वे सीधे प्राचीन हिब्रू अक्षरों से ही निर्मित हैं।

मोआबी लिपि

मोआबी, आम्मोनी और एदोमी लोग इजराइलियों के कुछ पूर्व में बसे हुए थे। इनकी बोलियां भी उत्तरी सेमेटिक परिवार की ही थीं और हिब्रू के काफी निकट की थीं। प्राचीन हिब्रू लिपि में और इन लिपियों में बहुत अधिक अंतर भी नहीं है।

मोआबी लिपि का सबसे प्रसिद्ध लेख है, मोआबी या मेशा शिला-फलक। मृत-सागर के लगभग पचीस मील पूर्व की ओर स्थित दिबोन स्थान में १८६८ में इस शिला-फलक की खोज हुई थी। स्थानीय खानाबदोश लोगों का विश्वास था कि इस शिला के भीतर खजाना छिपा हुआ है, इसलिए उन्होंने इसे तोड़ने की भी कोशिश की थी। अन्त में बड़ी चतुराई से यह शिला-फलक वहां से लाया गया, और आज यह फ्रांस के प्रसिद्ध लौरे संग्रहालय में सुरक्षित है। ३४ पंक्तियों का यह लेख बहुत ही सुंदरता से लिखा गया है। इसमें मोआब के राजा मेशा की इजराइलियों पर हुई विजय का विवरण अंकित है। इस लेख का समय लगभग ८३५ ई०पू० है। १९२३ में अहिराम लेख के प्राप्त होने तक, उत्तरी सेमेटिक वर्णमाला का यही प्राचीनतम लेख माना जाता था। इस प्रसिद्ध मेशा-लेख के अलावा मोआबी लिपि की दो मुद्राएं भी मिली हैं।

फिनीशियन लिपि

कुछ उत्तरी सेमेटिक लेखों की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। उन्हें हम फिनीशियन लिपि के आरंभिक लेख मान सकते हैं। वस्तुतः फिनीशिया से बहुत ही कम लेख प्राप्त हुए हैं, और जो लगभग एक दर्जन लेख मिले हैं, व भी संक्षिप्त हैं। फिनीशियन लोगों ने भूमध्य-सागर के अनेक तटवर्ती नगरों में और द्वीपों में अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। इन्हीं उपनिवेशों से अधिकतर फिनीशियन लेख मिले हैं। साइप्रस द्वीप, यूनान, उत्तरी अफ्रीका, माल्टा, सार्डिनिया, सिसिली, मार्सेल तथा स्पेन से अनेक फिनीशियन अभिलेख मिले हैं। १९४६ में सिलिसिया (टर्की) के अयरिकतपेसी (कारतेपे) स्थान से ई० पू० ८वीं शताब्दी का एक महत्वपूर्ण लेख मिला है।

पुरालिपिविद फिनीशियन लेखों को प्रमुखतः दो भागों में विभाजित करते हैं: (१) फिनीशिया में मिले हुए लेख, और (२) फिनीशियन उपनिवेशों में मिले हुए लेख। फिनीशिया से जो लेख मिले हैं, उनका काल ई० पू० की संपूर्ण प्रथम सहस्राब्दी है। उपनिवेशों से प्राप्त लेखों को तीन उपवर्गों में बांटा गया है: (अ) साइप्रो-फिनीशियन लेख—इनका काल दसवीं शताब्दी ई० पू० से दूसरी शताब्दी ई० पू० तक है। इनमें प्राचीनतम लेख संभवतः ९०० ई०पू० का है। (ब) सार्डिनिया के लेख—यहां से प्राप्त नोरा प्रस्तर-लेख और दो अन्य खंडित लेख ९वीं शताब्दी ई०पू० के माने गये हैं। (क) कार्थेजी लेख—कार्थेज उत्तरी आफ्रीका में फिनीशियन लोगों का एक महत्वपूर्ण उपनिवेश था।

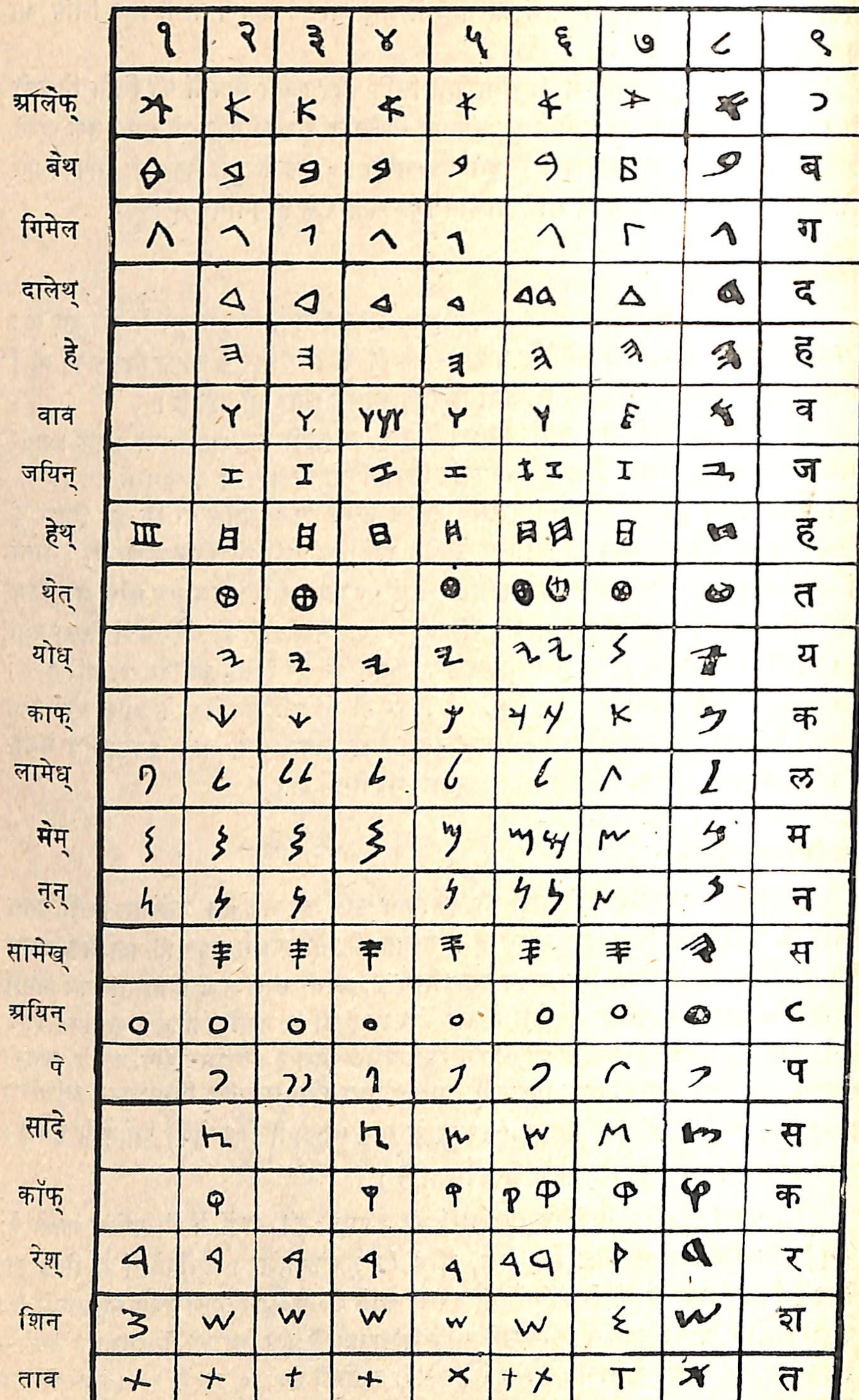

उत्तरी सेमेटिक लिपियां

ई० पू० तीसरी-दूसरी शताब्दी में इसी कार्थेज के साथ रोमनों के तीन युद्ध हुए थे, जो इतिहास में 'प्यूनिक युद्धों' के नाम से प्रसिद्ध हैं। कार्थेज (उत्तरी अफ्रीका) से जो फिनीशियन लेख मिले हैं, उनकी लिपि को 'कार्थेजी' या 'प्यूनिक लिपि' का भी नाम दिया जाता है। इस प्यूनिक लिपि में जो अधिक घसीटी और कालान्तर की है, उसे 'नव-प्यूनिक लिपि' का नाम दिया जाता है। प्यूनिक लिपि का सबसे बाद का लेख तीसरी शताब्दी ई० का है। इसलिए पता चलता है कि फिनीशियन लोगों के लगभग पांच सौ वर्षों बाद भी प्यूनिक लिपि का अस्तित्व रहा है।

ऊपर फिनीशियन लिपि की जितनी शैलियों का हमने उल्लेख किया है, उन सबका विकास प्राचीन हिब्रू लिपि के समान ही हुआ है। अक्षरों के आंतरिक स्वरूप में कोई बदल नहीं हुआ है; बाह्य-स्वरूप में कुछ विकास जरूर देखने को मिलता है। अक्षरों की संख्या और उनके ध्वनिमान स्थायी बने रहे। सारे फिनीशियन लेख दायीं ओर से बायीं ओर को लिखे गये हैं। प्राचीन हिब्रू लिपि और फिनीशियन लिपि के अक्षरों में स्पष्ट भेद यही है कि जहां हिब्रू अक्षर शनैः-शनैः छोटे और चौड़ी रेखाओं वाले होते गये, वहां फिनीशियन अक्षर बड़े और बारीक रेखाओं वाले बनते गये।

१. कनानी लिपि, ई० पू० १३वीं शताब्दी
२. कनानी लिपि, लग० १००० ई० पू०
३. अहिराम लेख की लिपि, ई० पू० दसवीं शताब्दी
४. गेझेर पंचांग के अक्षर, ई० पू० दसवीं शताब्दी
५. मेशा (मोआब) लेख के अक्षर, लग० ८३५ ई० पू०
६. फिनीशियन लिपि, ई० पू० ८वीं शताब्दी
७. प्राचीन यूनानी लिपि, ई० पू० ८वीं शताब्दी
८. घसीटी हिब्रू लिपि, ई० पू० छठी शताब्दी
९. ध्वनिमान

१०

दक्षिणी सेमेटिक लिपियां

ई० पू० पहली सहस्राब्दी में दक्षिण अरबिया में कई महत्वपूर्ण राज्यों का अस्तित्व रहा है। इनमें मिनी, साबी, कतबनी और हद्रमौती राज्य विशेष रूप से प्रसिद्ध थे। पुरानी बाइबल में प्रसिद्ध राजा सोलोमन और शिबा की रानी के उल्लेखों के साथ-साथ इन अरबी राज्यों के भी उल्लेख मिलते हैं। इन राज्यों के पूर्व और पश्चिम के देशों के साथ जो संबंध रहे हैं उनका इतिहास में विशेष महत्व है। एक तरफ इनका संबंध रोम से था, तो दूसरी तरफ भारत से। दक्षिण अरबिया के विभिन्न स्थानों की खुदाई से मिस्र, भारत, मेसोपोटामिया, यूनान तथा रोमन उत्पत्ति के अनेक पुरावशेष मिले हैं। यह जान लेना जरूरी है कि उस समय आज की तरह दक्षिण अरबिया में बंजर जमीन और रेगिस्तान नहीं थे, बल्कि उर्वर जमीन पर्याप्त थी और यह प्रदेश भी कृषिकर्म के लिए प्रसिद्ध था। तब यहां सोना भी काफी मिलता था और व्यापार के लिए तो यह प्रदेश मशहूर था ही। पूर्व और पश्चिम के देशों के माल की खरीदी और बिक्री उस समय इस प्रदेश में अधिक होती थी। भारत की वस्तुएं पहले यहीं पहुंचती थीं और यहां से बाद में उनका भूमध्य-सागर के देशों में वितरण होता था। इस्लाम के उदय तक दक्षिण अरबिया एक सम्पन्न प्रदेश था। परंतु इस्लाम के उदय के बाद उत्तरी अरबिया का महत्व बढ़ा और दक्षिण अरबिया पिछड़ता चला गया; इसकी उर्वर भूमि शनैः-शनैः मरुभूमि बनती गई।

दक्षिण अरबिया की प्राचीन संस्कृतियों के बारे में हमें बहुत ही कम जानकारी मिलती है। थोड़ी जानकारी बाइबल के उल्लेखों में मिलती है। किंतु अधिकतर जानकारी अभिलेखों से मिलती है। पिछली और वर्तमान शताब्दी में अरबिया से बहुत-से अभिलेख मिले हैं। अधिकांश लेखों पर तिथि न होने से इनके काल के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। संवत्सरांकित सबसे प्राचीन लेख हखामनी सम्राट कंबुशिय द्वारा ५२५ ई० पू० में मिस्र पर किये आक्रमण के समय का है। कुछ लेख ई० पू० आठवीं और ई० पू० दसवीं शताब्दी के भी हो सकते हैं। ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी के अंत काल में भी दक्षिणी सेमेटिक लिपि का अस्तित्व रहा है; इसके बारे में प्रमाण भी मिलते हैं। पुरातत्ववेत्ता ग्लुएक ने अकाब की खाड़ी के उत्तर में तेल एल्-खेलैफ़ (प्राचीन एज़िओन-गेबेर) स्थान से १९३८ में किसी बर्तन का एक ऐसा बड़ा टुकड़ा प्राप्त किया, जिसपर, इसे पकाने के बाद, प्राचीन दक्षिणी सेमेटिक लिपि के दो अक्षर अंकित कर दिये गये थे। खुदाई के जिस स्तर से यह अवशेष मिला है, उसका काल ई० पू० आठवीं शताब्दी माना गया है। इससे पता चलता है कि ई० पू० आठवीं शताब्दी में दक्षिण अरबिया और एजिओन-गेबेर के व्यापारी संबंध थे। यदि ई० पू० आठवीं शताब्दी में दक्षिण अरबिया की लिपि उत्तर

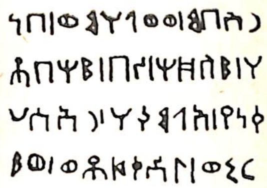

साबी लेख

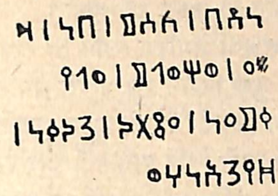

हिम्यरिती लेख

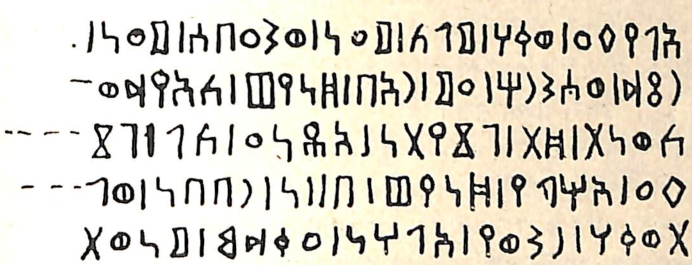

मिनी लेख

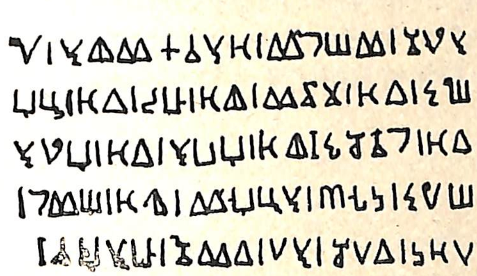

प्राचीन इथोपिई लेख

दक्षिणी सेमेटिक लिपियों के लेख

अरबिया में पहुंच सकती है, तो हम सहज ही मान सकते हैं कि यह और दो-तीन सौ साल प्राचीन तो जरूर रही होगी।

दक्षिणी सेमेटिक लिपि की उत्पत्ति के बारे में विद्वानों ने अनेक सिद्धांत प्रस्तुत किये हैं। कुछ विद्वान इसे उत्तरी सेमेटिक लिपि की ही एक शाखा मानते हैं, तो कुछ इसे प्राचीन सिनाई लिपि से व्युत्पन्न मानते हैं। इतना तो निश्चित है कि दक्षिणी सेमेटिक लिपियों में साबी लिपि प्राचीन है और इसी से कालान्तर की सभी दक्षिणी अरबी लिपियां निकली हैं। यदि साबी अक्षरों की उत्तरी सेमेटिक लिपि के अक्षरों से तुलना की जाय तो केवल कुछ ही अक्षर समान मिलते हैं। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि प्रागैतिहासिक काल में एक 'दक्षिणी सेमेटिक लिपि' का स्वतंत्र अस्तित्व रहा है, और इसी से बाद की दक्षिणी सेमेटिक लिपियों का और उत्तरी सेमेटिक लिपियों का विकास हुआ। अधिक संभव यही जान पड़ता है कि उत्तरी सेमेटिक और दक्षिणी सेमेटिक दोनों ही लिपियों का विकास सिनाई प्रायद्वीप की प्राचीन लिपि से हुआ है। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता और सेमेटिक संस्कृति के प्रकांड पंडित आल्ब्राइट का भी लगभग यही मत है।

चूंकि, दक्षिणी सेमेटिक लिपियों के लेख उत्तर अरबिया और दक्षिण अरबिया दोनों ही प्रदेशों से मिले हैं, इसलिए इन्हें दो वर्गों में बांटा गया है--(१) दक्षिणी अरबी लेख और (२) उत्तरी अरबी लेख।

दक्षिणी अरबी लेखों में लगभग २५०० लेख प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें १००० से ऊपर साबी लेख हैं। इन लेखों को सुविधा के लिए मिनी, साबी, हिम्यरिती, क़तबनी और हध्रमौती वर्गों में बांटा जाता है। किन्तु सामान्यतः इन सारे लेखों की लिपि को 'दक्षिणी अरबी' या 'साबी लिपि' का नाम दिया जाता है। इस लिपि में लिखे गये लेख बहुत सुंदर हैं। इनकी तुलना हम अशोक के स्तंभलेखों की लिपि से कर सकते हैं। साबी लिपि में कुल २९ अक्षर हैं। अधिकतर लेख दायीं ओर से बायीं ओर को लिखे गये हैं, किंतु कुछ लेख 'मुक्तिका-विधि' में भी लिखे हुए मिलते हैं। इन लेखों में हमें अरबी बोली का आद्य रूप देखने को मिलता है। हिब्रू, फिनीशियन और आरमेई भाषाएं उत्तर-पश्चिमी सेमेटिक भाषा-परिवार की थीं। बेबीलोनी और असीरी (अक्कदी) भाषाएं पूर्वी सेमेटिक परिवार की थीं। किन्तु अरबी और कालान्तर की अबीसिनिया की इथोपिई भाषा दक्षिणी सेमेटिक परिवार की मानी जाती हैं। कालान्तर में दक्षिणी सेमेटिक भाषा और लिपि का अबीसिनिया में भी प्रवेश हुआ था।

११

आरमेई लिपियां

बाइबल और असीरी कीलाक्षर लेखों में 'आरम' शब्द मिलता है, इसलिए इस परवर्ती सेमेटिक संस्कृति--इसकी भाषा और लिपि--को हम 'आरमी' या 'आरमेई' (आरमाइक) नाम दे सकते हैं। आरमेई लोगों के मूल निवास के बारे में कोई ठोस जानकारी नहीं मिलती, किंतु विद्वानों का मत है कि सेमेटिक जाति की 'तीसरी लहर' के ये आरमेई लोग भी दक्षिण-पश्चिमी अरबिया से आये थे। इनकी एक शाखा सीरिया पहुंची थी और दूसरी मेसोपोटामिया। ई० पू० १३वीं शताब्दी में पश्चिमी एशिया में जब हित्ती और मितानी आर्य शासकों की शक्ति क्षीण हो गई, तो मेसोपोटामिया के उत्तर-पश्चिम-दक्षिण में आरमेई राज्यों का उदय हुआ। इन छोटे-छोटे आरमेई राज्यों में दमिश्क का राज्य सबसे महत्वपूर्ण था। इन आरमेई राज्यों में आपस में हमेशा युद्ध होते रहते थे। अंत में ई० पू० ८वीं शताब्दी में ये राज्य शक्तिशाली असीरी राज्य में मिल गये।

आरमेई लोगों का शासन तो समाप्त हुआ, किंतु उनकी संस्कृति--विशेषतः उनकी भाषा और लिपि--बाद में शताब्दियों तक जीवित रही। इतना ही नहीं, ई० पू० सातवीं शताब्दी के अंत समय से आरमेई भाषा और लिपि पश्चिम एशिया की अंतर्राष्ट्रीय भाषा और अंतर्राष्ट्रीय लिपि बन गई। ईरान के ह़ख़ामनी शासन के समय यह राज-काज की प्रमुख भाषा बन गई और पश्चिमोत्तर भारत से लेकर क्षुद्र-एशिया और मिस्र तक व्यापारियों की यही प्रमुख भाषा थी। इस्लाम के उदय तक सारे पश्चिमी एशिया में आरमेई भाषा का साम्राज्य रहा है। इजराइल में लगभग एक हजार साल तक यही जनभाषा थी। यहूदी लोग अपनी हिब्रू भाषा के साथ-साथ आरमेई भाषा का भी अपने धार्मिक कृत्यों में उपयोग करते थे। पुरानी बाइबल की अनेक पुस्तकें इसी आरमेई भाषा में लिखी गयी हैं।

आरमेई लिपि का विकास उत्तरी सेमेटिक लिपि से हुआ। पहले हम बतला चुके हैं कि उत्तरी सेमेटिक लिपि के दो वर्ग हैं: कनानी लिपि और आरमेई लिपि। प्रो० आल्ब्राइट के अनुसार, आरमेई भाषा के लिए उत्तरी सेमेटिक लिपि का प्रयोग ई० पू० दसवीं शताब्दी के बाद से आरंभ होता है। आरमेई भाषा का प्राचीनतम लेख दमिश्क के आरमेई राजा बेन हदाद का फलक है। आल्ब्राइट इसे ई० पू० ८५० का मानते हैं। आरमेई का दूसरा प्राचीन लेख हमाथ तथा लुआश के राजा ज़ाकिर का फलक है (लगभग ७७५ ई० पू०), जो एफिस (अलेप्पो) से १९०८ में प्राप्त हुआ था। इनके अलावा, सीरिया से और भी कुछ प्राचीन लेख मिले हैं।

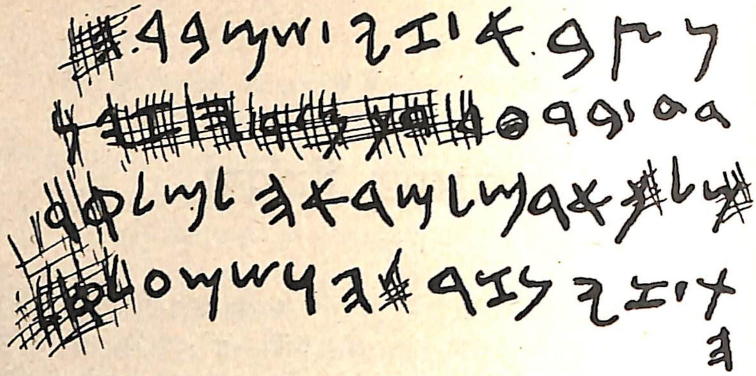

दमिश्क के आरमेई राजा बेन हदाद का लेख (लग० ८५० ई० पू०)

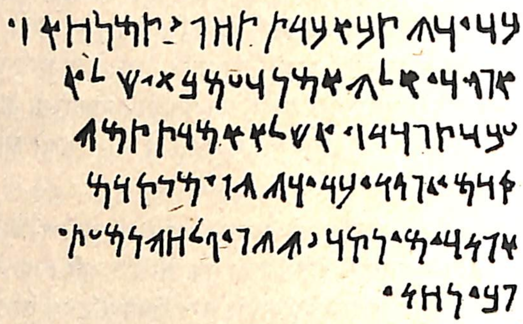

हखामनी काल का आरमेई लेख

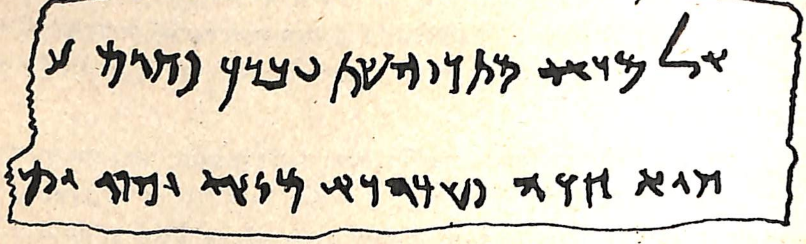

पेपीरस पर लिखा हुआ आरमेई लेख

आरमेई लिपि के लेख

अन्य महत्वपूर्ण आरमेई अभिलेख हैं : मिस्र से कुछ आरमेई पेपीरस मिले हैं, जिनमें 'एलिफेंटाइन पेपीरी' विशेष रूप से प्रसिद्ध है। द्वैभाषिक नेराब-फलक (ई० पू० छठी शताब्दी); तैमा-लेख, उत्तरी अरबिया से (ई० पू० पांचवीं शताब्दी); प्राचीन पूर्वी गंधारदेश की राजधानी तक्षशिला से भी ई०पू०तीसरी शताब्दी का एक आरमेई लेख मिला है। आरमेई लिपि और भाषा का पश्चिमोत्तर भारत में अस्तित्व बहुतों के लिए आश्चर्य-जनक हो सकता है। किंतु हम पहले बता ही चुके हैं कि, हख़ामनी शासन-काल में आरमेई भाषा और लिपि का संपूर्ण पश्चिमी एशिया में प्रचार था। हख़ामनी शासकों की अपनी भाषा ईरानी आर्यभाषा थी, किंतु उन्होंने अपने विस्तृत साम्राज्य के राज-काज के लिए उस समय की अधिक प्रचलित आरमेई भाषा और लिपि को अपनाया था। दारयवुश के हख़ामनी साम्राज्य के २४ प्रान्तों में गंधारदेश भी था। इसलिए गंधारदेश में आरमेई का लेख मिलना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। खरोष्ठी लिपि आरमेई लिपि से ही बनी है।

दूसरे महायुद्ध की समाप्ति तक आरमेई लिपि के लेख सीरिया और पैलेस्तीन से बहुत कम मिले थे। किंतु १९४७ के बाद मृत-सागर के पास की कुमरान स्थान की गुफाओं में हिब्रू-आरमेई की सैकड़ों हस्तलिपियां प्राप्त हुई हैं। इनका वर्णन हम आगे करेंगे।

उत्तरी सेमेटिक लिपियों के बारे में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इन्होंने फिनीशियन लिपि के माध्यम से पश्चिम की ओर यूनानी, एत्रुस्कन, लैटिन आदि लिपियों को जन्म दिया तो, आरमेई लिपि के माध्यम से पूर्व की ओर भी दर्जनों लिपियों को जन्म दिया है। हख़ामनी साम्राज्य के जीवित रहने तक आरमेई लिपि प्रायः एक ही प्रकार की रही, किंतु तदनंतर इसकी विभिन्न शाखा-प्रशाखाएं निकलीं। सेमेटिक लिपि ने यूरोप पहुंचकर भारोपीय परिवार की भाषाओं को अपनाया। इधर भी आरमेई लिपि केवल सेमेटिक भाषाओं तक सीमित नहीं रही। इसने सेमेटिक तथा अ-सेमेटिक दोनों वर्गों की भाषाओं की सेवा की है। अतएव, आरमेई लिपि को प्रमुखतः दो वर्गों में बाँटा जाता है: (१) सेमेटिक भाषाओं के लिए प्रयुक्त आरमेई लिपियां, और (२) अ-सेमेटिक भाषाओं के लिए अपनाई गयीं आरमेई लिपियां। सेमेटिक भाषाओं की आरमेई लिपियों में प्रमुख हैं: १. हिब्रू, २. नबाती-सिनाई-अरबी, ३. पामीरीनी, ४. सीरियाई-नेस्तोरी, ५. मांदी, और ६. मानीख़ी।

यहां पहले हम सेमेटिक भाषाओं की आरमेई लिपियों की चर्चा करेंगे। अ-सेमेटिक भाषाओं की आरमेई लिपियों की चर्चा बाद में अलग से करेंगे।

हिब्रू लिपि

प्राचीन हिब्रू लिपि की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। यहां हमें उस हिब्रू लिपि की चर्चा करनी है, जो ई० पू० दूसरी शताब्दी में आरमेई लिपि से विकसित हुई और जिसके अक्षर 'कतब महराब' (वर्गाकार अक्षर) कहे जाते हैं। इस लिपि पर प्राचीन हिब्रू लिपि का भी गहरा प्रभाव दिखाई देता है। इन्हीं अक्षरों से बाद में आधुनिक हिब्रू लिपि बनी।

१९४७ के पहले आरमेई-हिब्रू में लिखे गये बहुत कम अभिलेख उपलब्ध थे। अराक अल्-अमीर (ट्रान्सजोर्डान) की कब्रों पर उत्कीर्ण संक्षिप्त लेख हिब्रू लिपि के प्राचीनतम

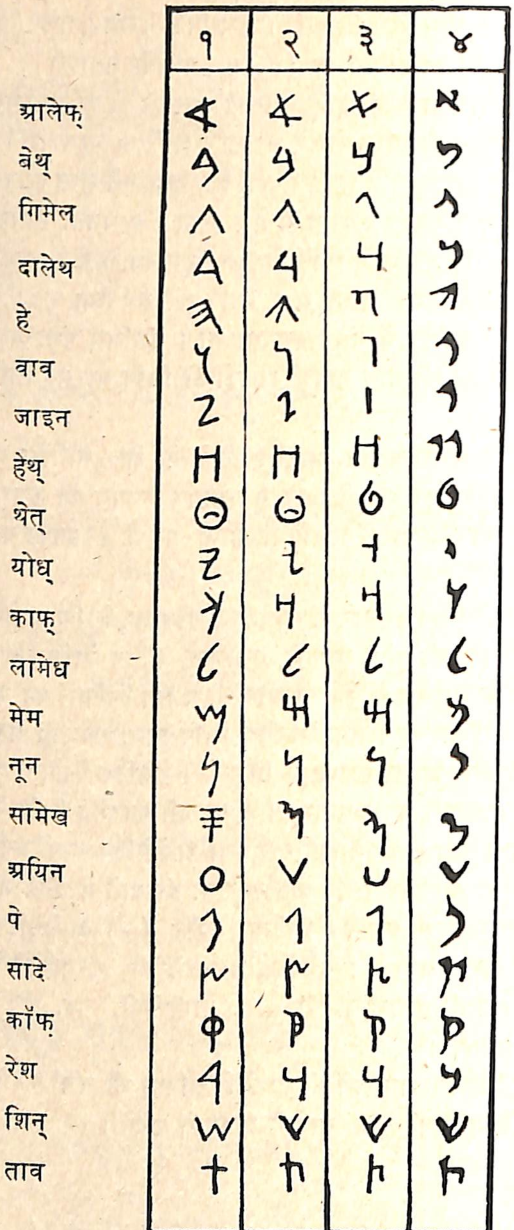

आरमेई लिपि का विकास

१. प्राचीन हिब्रू-फिनीशियन काल के आरमेई अक्षर
२. असीरी काल के आरमेई अक्षर
३. हखामनी (पारसी) काल के अक्षर
४. मिस्र की आरमेई लिपि के अक्षर

लेख माने जाते थे। इन लेखों के अक्षरों में प्राचीन हिब्रू और वर्गाकार हिब्रू अक्षरों के बीच के संधिकाल को देखा जा सकता है। ये लेख ई० पू० तीसरी-चौथी शताब्दी के हो सकते हैं।

१९४७ तक पुरानी बाइबल से सम्बंधित हिब्रू हस्तलिपियां बहुत कम मिली थीं। जो मिली थीं, वे अधिक प्राचीन नहीं थीं। सबसे प्राचीन हस्तलिपि 'नश-पेपीरस' मानी गई थी। आल्ब्राइट ने इसे ई० पू० दूसरी शताब्दी का माना था। परन्तु अन्य हस्तलिपियां दसवीं शताब्दी के पहले की नहीं थीं। हां, कुछ खंडित हस्तलेख ई० पू० सातवीं-आठवीं शताब्दी के माने गये थे। ऐसे लेखों में काहिरा से मिले हुए हजारों खंडित लेख हैं। ९१६ ई० की सम्वत्सरांकित एक हिब्रू हस्तलिपि लेनिनग्राद-संग्रहालय में है। इसी समय के आसपास की कुछ अन्य हस्तलिपियां ब्रिटिश-संग्रहालय में हैं।

१. 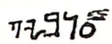

२ 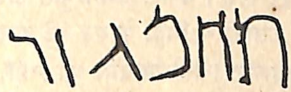

३ 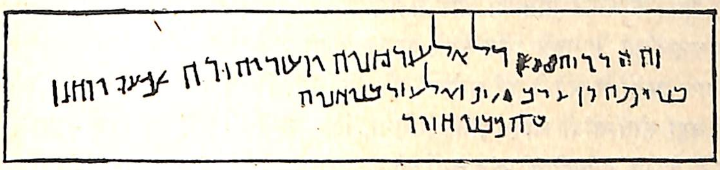

वर्गाकार हिब्रू लिपि के लेख

१. और २. अराक अल्-अमीर की प्राचीन कब्रों के लेख

३. कब्र पर लिखा हुआ एक हिब्रू लेख

किंतु १९४७ से सारा नक्शा ही बदल गया। उत्तर-पश्चिमी मृत-सागर के पास की गुफाओं में हिब्रू-आरमेई की सैकड़ों हस्तलिपियां मिली हैं। चर्मपटों पर लिखी गईं इन हस्तलिपियों को 'डेड-सी स्क्रोल' नाम दिया गया है। ये मृत-सागर के पास की गुफाओं से मिली हैं। आरंभ में १९४७ में जो कुछ हस्तलिपियां प्रकाश में आई थीं, उन्हीं को देखकर सेमेटिक भाषा तथा संस्कृति के प्रकांड पंडित प्रो० विलियम काक्सवेल आल्-ब्राइट ने इनके बारे में कहा था कि "आधुनिक युग में हस्तलिपियों की यह एक महान खोज है।" १९४७ के बाद तो और भी बहुत-सी हस्तलिपियां प्राप्त हुई हैं। पाठक आरंभ में ही यह जान लें तो अच्छा होगा कि ये अधिकांश मृत-सागर कुंडलियां ई० पू० दूसरी-पहली शताब्दी की हैं। अधिकांश कुंडलियां पुरानी बाइबल की पुस्तकों से सम्बंधित हैं और हिब्रू-आरमेई में लिखी गई हैं। इन कुंडलियों की खोज का किस्सा बड़ा ही दिलचस्प है।

मृत-सागर कुंडलियां

मृत-सागर के उत्तर-पश्चिमी तट के पास खिर्बेत-कुमरान नामक एक स्थान है। यह स्थान जेरूसलम के पूर्व में और जेरिको के दक्षिण में है। इसके दक्षिण-पश्चिम में बेथलहेम भी पास ही है। बाइबल का यह जुडिया प्रदेश हिब्रू और ईसाई संस्कृतियों

के अध्ययन के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। प्राचीन काल का बेथलहेम-मोआब रास्ता कुमरान के पास से ही जाता था। किंतु पिछली कुछ शताब्दियों से यह प्रदेश बहुत पिछड़ गया है। यहां बद्दू कबीले के खानाबदोश लोग रहते हैं।

१९४७ के फरवरी या मार्च की घटना है। १५ साल का एक बद्दू लड़का कुमरान के पास की चट्टानों पर अपनी भेड़-बकरियां चरा रहा था। इस लड़के का नाम मुहम्मद अल्-दीब (या अध्-दीब) था। मुहम्मद की एक भेड़ भटक गई। भेड़ की खोज में वह ऊपर चढ़ने लगा। चढ़ते-चढ़ते थक गया, तो एक चट्टान की छाया में थोड़ा आराम करने के लिए बैठ गया। वह चट्टान को देखने लगा तो उसकी नजर एक छेद पर पड़ी। मुहम्मद ने एक पत्थर उठाया और उस छेद में फेंका। भीतर से ऐसी आवाज आई कि जैसे पत्थर किसी मिट्टी के बर्तन से जाकर लगा हो। इससे उसका कुतूहल जागा और उसने कई बार पत्थर फेंके। फिर, उसने कुछ ऊपर चढ़कर छेद से भीतर झांका। भीतर उसने देखा कि कतारों में मिट्टी के बड़े-बड़े कलश या घड़े रखे हुए हैं। लड़का अब डर गया। उसने सोचा यह किसी आदमी की नहीं, राक्षस की जगह है। वह भागा वहां से। अपनी बस्ती में पहुंचकर उसने अपने एक जिगरी दोस्त को सारा किस्सा कह सुनाया। दूसरे दिन दोनों उस गुफा के पास आये और उसके भीतर उतरे। जैसा कि बाद में बताया गया, गुफा के भीतर सात या आठ कलश थे। उन्होंने इन कलशों को खोलकर देखना शुरू कर दिया। पहले और दूसरे कलश में तो कुछ नहीं मिला, किंतु तीसरे कलश में सड़े-गले वस्त्रों में लपेटी हुईं चर्मपटों की कुंडलियां मिलीं। उन लड़कों ने सोचा था कि उन्हें यहां सोने-चांदी का खजाना मिलेगा, किंतु उन्हें निराश ही होना पड़ा। फिर भी, वहां से वे उन चर्मपटों की कुंडलियों को उठा लाये।

बद्दू लोगों का कोई स्थायी निवास नहीं होता था। भेड़-बकरियां चराना और मौका मिलने पर चोरी करना या डकैती डालना ही उनका पेशा रहा है। सप्ताह में एक बार, बाजार के दिन, ये लोग बेथलहेम पहुंचते थे और चीजों की खरीदी-बिक्री करते थे। आरम्भ में उन बद्दू लड़कों को जो तीन कुंडलियां मिली थीं, उनका उन लोगों को महत्व ज्ञात नहीं था। वे लोग तो पढ़ना-लिखना भी नहीं जानते थे। इसलिए, अगली बार जब वे बेथलहेम आये, तो अपने साथ चर्मपटों की कुंडलियां भी लेकर आये। यहां बेथलहेम में खलील इस्कंदर नाम का एक असीरी ईसाई था, जो 'कंदो' के नाम से बेथलहेम में मशहूर था। कंदो की एक दुकान थी और वह इस दुकान के माध्यम से बद्दू लोगों से गैरकानूनी चीजें खरीदता था। कंदो की चमड़े की चीजें बनाने की भी एक दुकान थी। उसने उन बद्दू लोगों से मामूली दाम पर वे चर्मपट इसलिए खरीद लिये कि उसकी चमड़े की दुकान में ये किसी काम आयेंगे। बाद में उसे पता चला कि इन चर्मपटों पर कुछ लिखा हुआ है। कंदो स्वयं उन अक्षरों को पढ़ नहीं सकता था, इसलिए वह अगली बार जब जेरूसलम गया तो उसने इन्हें वहां के प्रसिद्ध सीरियाई मठ सेंट मार्क के साधुओं को दिखाया।

इसके बाद इन मृत-सागर कुंडलियों के बारे में जितना भी विवरण मिलता है, उसमें सत्य कितना है और झूठ कितना है, यह जानना मुश्किल है। धीरे-धीरे कुंडलियों के बारे में अफवाहें फैलती गयीं। यूरोप और अमरीका के रईसों को जब पता चला कि इन कुंडलियों में पुरानी बाइबल की पुस्तकों के पाठ हैं, तो उन्होंने इन्हें प्राप्त करने के लिए पानी की तरह पैसा बहाया। लेकिन आरंभ में केवल बद्दू लोग ही जानते थे कि ये कुंडलियां किस स्थान पर मिल सकती हैं। इसलिए बद्दू और कंदो जैसे लोगों के माध्यम

से ही ये कुंडलियां प्राप्त हो सकती थीं। एक समय ऐसा भी आया कि, ये चर्मपट प्रति वर्ग-सेंटीमीटर के लिए एक पौंड के दाम से खरीदे जाने लग गये थे। यहूदी लोगों के लिए भी इन चर्मपटों का महत्व था और ईसाई लोगों के लिए भी। इसी बीच २५ नवम्बर १९४७ को पैलेस्तीन का विभाजन हुआ और इजराइल के रूप में एक स्वतंत्र राज्य अस्तित्व में आया। प्रसिद्ध जेरूसलम शहर के दो हिस्से हो गये। पूर्वी हिस्सा मुसलमानों के हाथ में गया, तो पश्चिमी हिस्सा यहूदियों के हाथ में। इस विभाजन से इन कुंडलियों को प्राप्त करना और भी कठिन हो गया। यूरोप के पुराविदों ने उन स्थानों को जानने की बहुत कोशिश की, जहां से ये कुंडलियां मिल रही थीं। परंतु बद्दू लोग भी अब समझ गये थे कि इन कुंडलियों से बहुत-सा धन कमाया जा सकता है। इसलिए वे उन गुफाओं का पता क्यों बताते? आरंभ में बहुत सारी कुंडलियां बद्दू लोगों के एजेंटों से, भारी रकम देकर, प्राप्त करनी पड़ी थीं। बाद में कुमरान के पास के उस स्थान का भी पता चला, जहां ये गुफाएं थीं।

बाद में जब पुरातत्ववेत्ताओं ने इस क्षेत्र की विधिवत खोज की तो उन्हें और भी गुफाएं मिलीं और इनमें सैकड़ों कुंडलियां या उनके हजारों खंडित टुकड़े मिले। कुमरान के पास ही ई० पू० पहली शताब्दी के एक सीरियाई संप्रदाय के मठ के खंडहर मिले हैं। ई० पू० ६८ में रोमन सेना ने कुमरान पर चढ़ाई की थी, तब यहां के मठवालों ने, रोमन सेना के आगमन का पता चलने पर, इन हस्तलिपियों को पास की गुफाओं में छिपा दिया था। उन लोगों ने सोचा होगा कि जब रोमन सेना चली जायेगी तो वे अपनी पुस्तकों को पुनः ले आयेंगे, किंतु रोमनों ने इस मठ को ऐसा तबाह किया कि फिर उन पुस्तकों को लौटा लाने का सवाल ही नहीं रहा। लगभग दो हजार साल का दीर्घ काल बीत जाने पर ही उन कुंडलियों को पुनः खोजा जा सका है।

मृत-सागर की कुंडलियों का पश्चिमी देशों के लोगों के लिए बड़ा महत्व है। इन कुंडलियों में से अधिकांश बाइबल से संबंधित हैं। इनके प्राप्त होने से अब प्राचीन बाइबल के बारे में प्रामाणिक और मौलिक जानकारी मिली है। पश्चिमी देशों में ईसाइयत का बोलबाला होने से इन कुंडलियों के लिए पानी की तरह पैसा बहाया गया है। यहूदी लोगों के लिए भी ये कुंडलियां बड़े महत्व की हैं। बाद में इजराइल की सरकार ने अमरीका में पहुंची हुई बहुत-सी कुंडलियां खरीद लीं। अब अधिकांश कुंडलियां जेरूसलम विश्वविद्यालय के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। वहां से इनका संपादन हो रहा है।

ये कुंडलियां हिब्रू-आरमेई में लिखी हुई हैं। इनकी लिपि प्रसिद्ध नश-पेपीरस की लिपि से काफी मिलती-जुलती है।

हिब्रू लिपि के विकास में तीन शैलियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ईसा की आरंभिक शताब्दियों में जो वर्गाकार हिब्रू लिपि थी, उसी से आधुनिक हिब्रू लिपि के मुद्रणवाले सुंदर अक्षर बने हैं। मध्ययुग में यहूदी रब्बी या पुरोहितों ने जिस हिब्रू लिपि में अपने ग्रंथ लिखे हैं, उसे 'रब्बी लिपि' का नाम दिया गया है। इनके अलावा, यूरोप के विभिन्न देशों में बसे हुए यहूदी लोगों की घसीटी लिपि की जो विविध शैलियां प्रचलित थीं, उन्हीं से आधुनिक घसीटी हिब्रू लिपि बनी है।

आज मुद्रण में जिस हिब्रू लिपि का इस्तेमाल होता है, वह प्राचीन वर्गाकार हिब्रू से बनी है। इस आधुनिक हिब्रू लिपि में भी २२ अक्षर हैं और अब भी यह दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी जाती है। इन्हीं अक्षरों का संख्या-संकेतों के लिए भी इस्तेमाल

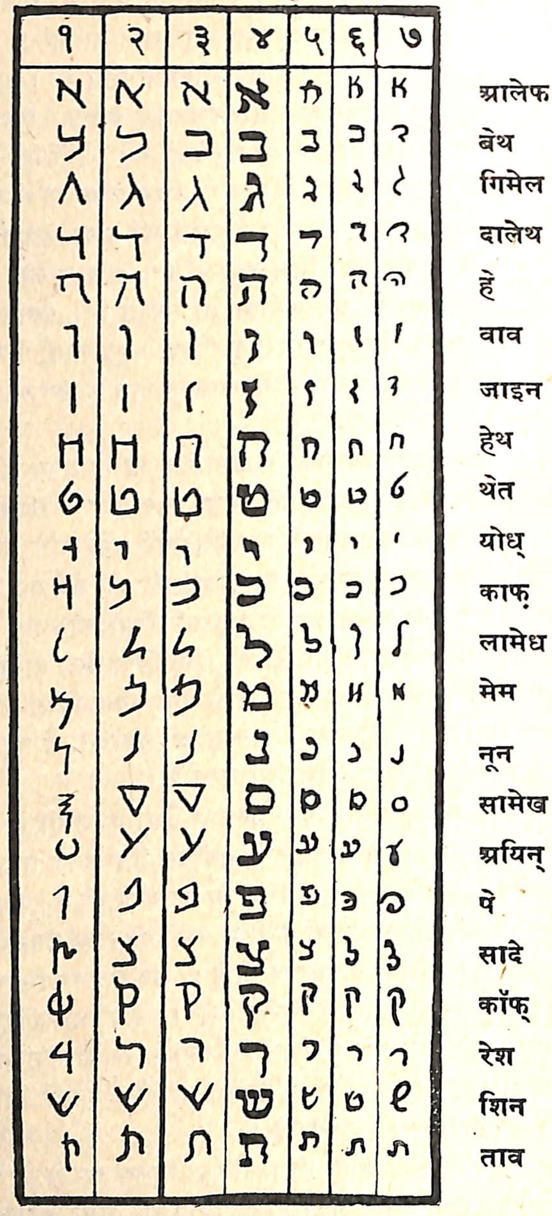

हिब्रू लिपि का विकास

१. आरमेई अक्षर
२. वर्गाकार हिब्रू लिपि
३. हिब्रू लिपि, दसवीं शताब्दी ई०
४. आधुनिक मुद्रण के हिब्रू अक्षर
५. ६. रब्बी लिपि
७. आधुनिक हस्तलिपि के हिब्रू अक्षर

होता है। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, सेमेटिक लिपियों में केवल व्यंजन संकेत ही होते हैं। हिब्रू लिपि के ग्रक्षर भी व्यंजनात्मक हैं। हां, इसमें चार ग्रक्षरों—ग्रालेफ, हे, वाव, ग्रौर योध—का दीर्घ स्वरों के रूप में भी उपयोग होता है।

हिब्रू लिपि का इस्तेमाल कुछ ग्रन्य भाषाग्रों के लिए भी हुग्रा है; जैसे, ग्ररबी, तुर्की, जर्मन, स्पेनिश इत्यादि के लिए।

नबाती लिपि

नबाती घुमंतू कबीलों के लोग थे ग्रौर ग्ररबी भाषा बोलते थे। वे उत्तरी ग्ररबिया, ट्रांसजोर्डान ग्रौर सिनाई प्रदेश में रहते थे। इन प्रदेशों में ईसा के पहले की दो शताब्दियों में ग्रौर दो शताब्दियां बाद में उनका एक शक्तिशाली राज्य था, जिसकी राजधानी सेला (लैटिन 'पेट्रा') थी। १०६ ई० के बाद नबातियों ने रोमनों के हाथों ग्रपनी स्वतंत्रता खोई ग्रौर उनका राज्य रोमनों का "ग्ररबिया प्रान्त" हो गया। नबातियों के बहुत-से सिक्के मिले हैं, लेख भी मिले हैं। यद्यपि नबातियों की ग्रपनी भाषा ग्ररबी थी, किंतु ग्रपने ग्रभिलेखों के लिए उन्होंने ग्रारमेई भाषा का ही इस्तेमाल किया है। हां, इन ग्रारमेई लेखों की भाषा में ग्ररबी का पुट भी दिखाई देता है।

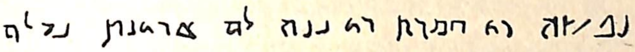

नबाती लेख

नबाती लिपि ई० पू० दूसरी शताब्दी की ग्रारमेई लिपि से ही बनी थी। ईसवी-सन् के ग्रारंभ में नबाती लिपि ने ग्रपनी स्वतंत्र स्थिति बना ली थी। ग्रागे हम देखेंगे कि इस लिपि ने ग्ररबी लिपि के जन्म में भी सहयोग दिया है।

नव-सिनाई लिपि

इसी प्रदेश में नबाती लिपि के बाद उसीसे निर्मित एक घसीटी लिपि ग्रस्तित्व में ग्रायी, जिसे, पहले की "सिनाई लिपि" से स्पष्ट करने के लिए, 'नव-सिनाई लिपि' का नाम दिया गया है। सिनाई प्रायद्वीप से इस लिपि में कुछ लघु शिलालेख मिले हैं। ईसा की पहली शताब्दी में नबाती लिपि से यह घसीटी नव-सिनाई लिपि ग्रस्तित्व में ग्राई थी। इस लिपि में जो लेख मिले हैं, वे दूसरी, तीसरी ग्रौर चौथी शताब्दी के हैं। पुरालिपिविदों की मान्यता है कि यह नव-सिनाई लिपि एक ग्रोर नबाती लिपि से सम्बंधित है, तो दूसरी ग्रोर ग्ररबी लिपि से भी जुड़ी जान पड़ती है। किन्तु नबाती लिपि में ग्रौर ग्ररबी लिपि में प्रत्यक्षतः इतना ग्रधिक ग्रंतर दिखाई देता है कि, सहज विश्वास नहीं किया जा सकता कि नबाती ग्रौर नव-सिनाई लिपियों से ही ग्ररबी लिपि का विकास हुग्रा है। वस्तुतः इन लिपियों के ग्रक्षरों के स्वरूपों में बहुत तेजी से परिवर्तन होता गया। कुछ शताब्दियों के भीतर ही ग्रक्षरों में ग्रामूल परिवर्तन हुग्रा दिखाई देता है।

पालमीरी लिपि

सीरिया ग्रौर मेसोपोटामिया के व्यापारी मार्ग पर पालमीरा (प्राचीन तदमोर) सीरिया की मरुभूमि में ईसा की पहली दो शताब्दियों में एक नगर था। उस समय इसके पश्चिम में रोम का साम्राज्य था, तो पूर्व की ग्रोर पार्थवों का (पार्थियन) साम्राज्य।

इन दोनों से ही पालमीरा ने अपने को स्वतंत्र बनाये रखा था। २२६ ई० में जब पार्थवों का अंत हुआ और सासानी साम्राज्य का उदय हुआ, तो पालमीरा राज्य ने इस बदलती राजनैतिक स्थिति से लाभ उठाकर पश्चिम एशिया के कई प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। २६५ ई० और २६७ ई० के बीच पालमीरा के सर्दार ओदैनथ ने सीरिया और मिस्र पर भी अधिकार कर लिया था। परन्तु अन्त में २७२ ई० में रोमनों ने पालमीरा को कुचल दिया।

पालमीरा में ई० पू० दूसरी-पहली शताब्दी में जिस घसीटी लिपि का प्रयोग देखने को मिलता है, वह सीरिया में प्रयुक्त आरमेई लिपि से ही बनी थी। वस्तुतः पालमीरा में दो शैलियों की लिपियों का प्रयोग देखने को मिलता है—एक घसीटी लिपि और दूसरी स्मारक-लेखों की लिपि। प्रो० आल्ब्राइट का मत है कि, पालमीरी घसीटी लिपि आरमेई लिपि से २५० ई० पू० और १०० ई० पू० के बीच अस्तित्व में आयी थी। इसी घसीटी लिपि से ई० पू० पहली शताब्दी में स्मारकों वाली पालमीरी लिपि बनी।

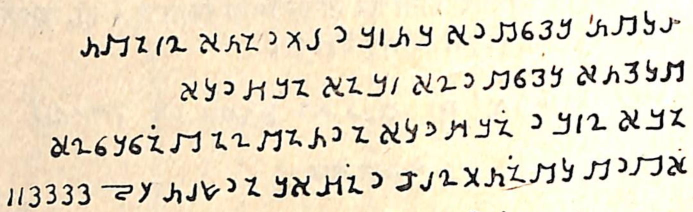

पालमीरी लेख (२७१ ई०)

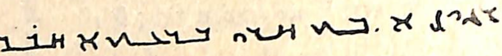

इंग्लैण्ड के एक रोमन कैम्प से प्राप्त लैटिन-पालमीरी द्वैभाषिक लेख का पालमीरी अंश

पालमीरी लेख पालमीरा, दुरा-यूरोपा, पैलेस्तीन, मिस्र, हंगरी, इटली और इंग्लैंड से मिले हैं। इंग्लैंड से जो पालमीरी लेख मिला है, वह असल में लैटिन-पालमीरी द्वैभाषिक लेख है और यह साउथ-शिल्ड के एक पुराने रोमन कैम्प से मिला था। सबसे प्राचीन जो पालमीरी लेख मिला है, वह ४४ ई० पू० का है। दुरा-यूरोपा से ३३ ई० पू० का एक लेख मिला है। सबसे बाद का पालमीरी घसीटी लिपि में जो लेख मिला है, वह २७४ ई० का है। परंतु सबसे प्रसिद्ध पालमीरी लेख है "पालमीरी शुल्क-संहिता"। यह लेख १३७ ई० का है और पालमीरी तथा यूनानी दोनों ही भाषाओं में है। इस लेख का विषय है, शुल्क या कर के बारे में बनाये गये नियम। इस द्वैभाषिक लेख के पालमीरी पाठ में १६२ पंक्तियां हैं। इसे उत्तरी सेमेटिक का सबसे लंबा लेख माना जाता है।

सीरियाई लिपियां

सम्भवतः हिब्रू के 'आरम' शब्द से ही 'सीरिया' शब्द बना है। प्राचीन सीरियाई लिपि आरमेई लिपि से विकसित हुई थी। कुछ विद्वानों के अनुसार, इस लिपि पर घसीटी पालमीरी लिपि का अधिक प्रभाव है, तो कुछ विद्वान सीरियाई तथा पालमीरी लिपि

दोनों को आरमेई लिपि से स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में आई हुई मानते हैं। वैसे, घसीटी पालमीरी लिपि में और प्राचीन सीरियाई लिपि में काफ़ी समानता है। सीरियाई लिपि के ईसा की सातवीं शताब्दी के पहले के बहुत कम लेख मिले हैं। इस लिपि के प्राचीनतम लेख ईसा की पहली और दूसरी शताब्दियों के हैं। सीरियाई लिपि का सबसे प्राचीन संवत्सरांकित लेख एक कब्र से मिला है, और यह ७३ ई० का है। दुरा-यूरोपा से चर्मपट पर लिखा हुआ २४३ ई० का लेख का मिला है। सबसे प्राचीन जो सीरियाई हस्तलिपि मिली है, वह ४११ ई० की है।

आरंभिक सीरियाई साहित्य मुख्यतः ईसाई धर्म से ही सम्बंधित है। प्राचीन काल में सीरिया का अन्तिओख नगर ईसाई धर्म का एक प्रमुख केन्द्र था। इस्लाम के उदय तक इस नगर ने ईसाई धर्म को पूर्व के देशों में फैलाने का बहुत काम किया। पश्चिम एशिया में ईसाई धर्म का दूसरा प्रमुख केंद्र था, मेसोपोटामिया के उत्तर-पश्चिम में एदेस्सा नगर। एदेस्सा (सीरियाई भाषा में "उर्-हई" और आधुनिक "उर्फा") फरात नदी के पूर्व में एक छोटा-सा राज्य था। २१६ ई० में इस राज्य को रोमनों ने हथिया लिया था। एदेस्सा में सीरियाई भाषा और लिपि का व्यवहार होता था। दूसरी शताब्दी ई० में यह नगर ईसाई धर्म का केंद्र बन गया था और बाद में यहां से ईसाइयत का ईरान तक प्रचार हुआ था। एदेस्सा की सीरियाई भाषा पूर्वी ईसाई चर्च की भाषा बन गई। तीसरी शताब्दी में यहां आरमेई या सीरियाई भाषा में ईसाई धर्मग्रंथों का अनुवाद-कार्य आरंभ हुआ। परंतु इस्लाम के उदय के बाद सातवीं शताब्दी में एदेस्सा से सीरियाई भाषा लुप्तप्राय: हो गयी और इसका स्थान अरबी ने ले लिया। फिर भी, यहां ईसाई धर्म थोड़ा-बहुत सांस लेता रहा। अंत में १३वीं-१४वीं शताब्दी के मंगोल आक्रमणों ने यहां बचे-खुचे नस्तोरी ईसाइयों को भी समाप्त कर दिया।

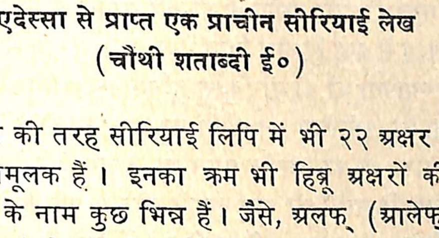

एदेस्सा से प्राप्त एक प्राचीन सीरियाई लेख
(चौथी शताब्दी ई०)

आरमेई लिपि की तरह सीरियाई लिपि में भी २२ अक्षर देखने को मिलते हैं। ये सभी अक्षर व्यंजनमूलक हैं। इनका क्रम भी हिब्रू अक्षरों की तरह ही है; परंतु कुछ सीरियाई अक्षरों के नाम कुछ भिन्न हैं। जैसे, अलफ् (आलेफ्), गमल (गिमेल), दलथ (दलेथ) लमध (लमेध), मिम् (मेम्), संकथ (सामेख) और अये (अयिन)। कुछ अक्षरों का दो ध्वनियों के लिए इस्तेमाल देखने को मिलता है; जैसे, ब (व), ग (घ), द (ध या थ), क (ख), ट (थ)।

जैसा कि अन्य सेमेटिक लिपियों में देखने को मिलता है, सीरियाई लिपि में भी 'आलेफ', 'व' और 'य' व्यंजनों का स्वरों के लिए इस्तेमाल देखने को मिलता है। यूनानी नामों के लिए सीरियाई लिपि में कुछ विशेषक-चिह्नों का भी इस्तेमाल देखने को मिलता

है। अन्य सेमेटिक लिपियों की तरह सीरियाई लिपि भी दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थी। कुछ लेखों में कुछ पंक्तियां ऊपर से नीचे की ओर भी लिखी हुई मिलती हैं। जबाद से यूनानी, अरबी और सीरियाई भाषाओं का जो त्रैभाषिक लेख मिला है, उसमें सीरियाई अंश ऊपर से नीचे की ओर लिखा गया है।

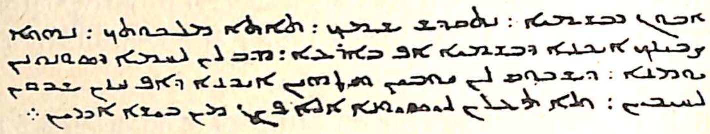

एस्ट्रांगलो लिपि का लेख

सीरियाई लिपियों में "एस्ट्रांगलो" शैली की लिपि सबसे अधिक प्रसिद्ध है। ईसा की पांचवीं शताब्दी के अंत समय तक अधिकतर इसी लिपि का प्रयोग देखने को मिलता है। एस्ट्रांगलो भी दो प्रकार की है: एक तो घसीटी सुंदर लिपि, जो आरंभिक सीरियाई हस्तलिपियों में देखने को मिलती है, और दूसरी स्मारकों की लिपि, जिसके नमूने एदेस्सा के प्राचीन लेखों में देखने को मिलते हैं।

ईसाई धर्म के इतिहास में पांचवीं शताब्दी के दो ईसाई धर्म-सम्मेलन—एफेसुस कौंसिल और कल्सिदोन कौंसिल—विशेष रूप से महत्व के हैं। ४३१ ई० की एफेसुस कौंसिल ने नस्तोरियों को बहिष्कृत किया, तो ४५१ ई० की कल्सिदोन कौंसिल ने 'मोनो-फिजिशियों' को। "लिपि धर्म का अनुकरण करती है", यह तो एक सत्य है ही। ईसाई धर्म में नये संप्रदायों के अस्तित्व में आने से नई लिपि-शैलियों का अस्तित्व में आना भी स्वाभाविक था।

नस्तोरी लिपि

एशिया के धार्मिक इतिहास में इन ईसाई नस्तोरियों का विशेष महत्व है। वैसे, नस्तोरिउ नाम के एक यूनानी ईसाई के नाम पर यह 'नस्तोरी' शब्द अस्तित्व में आया है; किंतु नस्तोरियों का अस्तित्व नस्तोरिउ के पहले भी रहा है। नस्तोरिउ यूनान में पैदा हुआ था, अन्तिओक में उसने विद्याध्ययन किया था और ४२८ ई०में वह कुस्तुन्तुनिया में धर्मगुरु बना था। नस्तोरी ईसा मसीह के दो रूप मानते थे—साकार और निराकार। इसीलिए रोमन साम्राज्य से इन्हें निकाल दिया गया था। ईरान में इन शरणार्थी ईसाईयों ने पूर्वी ईसाई चर्च की स्थापना की थी और कुस्तुन्तुनिया का धर्मगुरु नस्तोरिउ इन निर्वासित ईसायों की मदद करता था, इसीलिए इन लोगों का यह "नस्तोरी" नाम पड़ा। बैज़न्तिन चर्च से, जिसे रोमन साम्राज्य का समर्थन प्राप्त था, अलग होने पर इन नस्तोरी ईसाइयों ने पूर्वी एशिया के व्यापारी मार्गों की राह पकड़ी और ये पूर्व के देशों में आगे बढ़ते चले गये। १३वीं शताब्दी के प्रसिद्ध इतालवी यात्री मार्कोपोलो के विवरण से पता चलता है कि उस समय बगदाद से पेकिंग के व्यापारी मार्ग पर अनेक नस्तोरी गिरजाघर थे। नस्तोरी लोग हमारे देश में केरल के तटवर्ती प्रदेश में भी आकर बसे थे। इनमें से बचे हुए नस्तोरी आज भी अपने धर्म-कर्म में सीरियाई भाषा का इस्तेमाल करते हैं। नस्तोरी लोग मध्य एशिया (तुर्किस्तान) में भी बस गये थे। उस समय चीनी-तुर्किस्तान तो जैसे अनेक धर्मों की एक प्रयोगशाला ही था। एक नस्तोरी मिशन ६३५ ई० में चीन में पहुंच गया था।

वहां से ७८१ ई० का एक चीनी-नस्तोरी द्वैभाषिक लेख भी मिला है। इसमें ७० सीरियाई शब्द और लगभग १९०० चीनी संकेत हैं। जापानी विद्वान साएकी का मत है कि, नस्तोरी परिवारों के पहले-पहल ५७८ ई० में चीन में पहुंचने के प्रमाण मिलते हैं।

अब तो यत्र-तत्र ही नस्तोरियों के थोड़े-से अवशेष देखने को मिलते हैं। मुसलमानों और मंगोलों ने ही इनका सफ़ाया किया है।

जकोबी

पांचवीं शताब्दी के मध्यकाल में ईसाइयों का जकोबी सम्प्रदाय अस्तित्व में आया था। जहां नस्तोरी ईसा मसीह के उभय रूप को स्वीकार करते थे, वहां ये जकोबी उसके केवल एक ही प्रकृति-रूप ('मोनो-फिजिस') का होना मानते थे। रोमनों ने नस्तोरियों को तो अपने साम्राज्य से आसानी से खदेड़ दिया था, परंतु वैसा इन जकोबियों के लिए करना संभव नहीं था। कालान्तर में इन जकोबियों के मिस्र, सीरिया व अबीसिनिया में चर्च स्थापित हो गय थे। इन जकोबियों और नस्तोरियों को रोमन शासकों ने बहुत ही कष्ट दिये थे, इसलिए इन्होंने अरबों के आक्रमणों का स्वागत किया था। यही कारण है कि अरबों को सीरिया और मिस्र में अपने पैर जमाने में आसानी हुई।

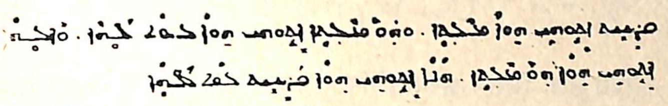

जकोबी लिपि का लेख

नस्तोरियों और जकोबियों के अगल होने के बाद पुरातन ईसाई धर्म को मानने वाले और बैज़न्तिन के रोमन सम्राट की अधीनता स्वीकार करने वाले ईसाई पश्चिम एशिया में बहुत कम रह गये थे। इन बचे-खुचे पुरानपंथी ईसाइयों को जकोबियों ने "मेलिकी" नाम दिया था। सीरियाई "मल्क" अरबी के "मलिक" और हिब्रू "मलेक" शब्दों से व्युत्पन्न होने के कारण इस 'मेलिकी' शब्द का अर्थ होगा "राजा के आदमी"। इन मेलिकियों ने अपने कर्मकांड में अधिकतर यूनानी भाषा का ही प्रयोग किया है।

ईसाइयों के इन परस्पर-विरोधी सम्प्रदायों के अस्तित्व में आने के बाद इन्होंने सीरियाई लिपि की विभिन्न शैलियों का विकास किया। नस्तोरी लिपि की अपेक्षा जकोबी लिपि एस्ट्रांगलो से कुछ दूर हट गई है। नस्तोरी लिपि में 'व' और 'य' तथा अक्षरों के ऊपर और नीचे बिंदु रखकर स्वरों का काम लिया गया है। जकोबी लिपि में अक्षरों के ऊपर और नीचे छोटे यूनानी अक्षरों को रखने की व्यवस्था की गई थी।

१२

अरबी लिपि

अरबी लिपि या इससे बनी हुई लिपियों का आज संसार के कई देशों में व्यवहार होता है। अरबी लिपि का इतिहास लैटिन या ब्राह्मी लिपि जितना प्राचीन नहीं है। इस्लाम के उदय और विस्तार के साथ ही अरबी भाषा और लिपि का विकास तथा विस्तार हुआ है। और उसके धर्मग्रंथ क़ुरान ने अरबी भाषा और लिपि को संसार की एक प्रमुख भाषा और लिपि बना दिया है। आज स्पेन से लेकर इंदोनेशिया तक अरबी लिपि का प्रचार है।

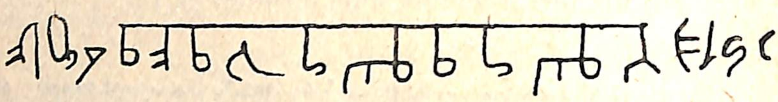

नबाती लेख, जिसमें अरबी लिपि का आद्य रूप देखने को मिलता है

भाषा से भी लिपि का प्रभाव अधिक स्थायी होता है। लिपि दूसरी भाषाओं के लिए भी अपनाई जा सकती है। अरबी भाषा सेमेटिक परिवार की है। किंतु अरबी लिपि कई देशों में अ-सेमेटिक भाषाओं के लिए भी अपनाई गई है। इसे फारसी भाषा के लिए अपनाया गया। स्पेन में अरबों (मूरों) के आगमन के बाद वहां अरबी लिपि और भाषा का प्रचार हुआ था। अरबी लिपि स्पेनी भाषा के लिए भी अपनाई गई थी। इसे तुर्की और हिब्रू भाषाओं के लिए भी अपनाया गया था। अब तो तुर्की भाषा रोमन लिपि में लिखी जाती है और हिब्रू की अपनी लिपि है। इसे उत्तरी अफ्रीका की कुछ भाषाओं के लिए भी अपनाया गया है; जैसे, बेर्बेर, सुदानी और स्वाहिली। भारत की उर्दू, कश्मीरी तथा सिंधी भाषाएं अरबी-फारसी की लिपि के आधार पर बनी हुई लिपि में लिखी जाती हैं। अरबों के आगमन के पहले मिस्र में कॉप्टिक लिपि का व्यवहार होता था। अब वहां अरबी भाषा और लिपि जनभाषा और जनलिपि बन गई है। अरबों के पहले मिस्र, सीरिया और अनातोलिया में यूनानी लिपि का अस्तित्व रहा है। किंतु अरबी ने इन्हें हटाकर अपना स्थान बना लिया है। दक्षिण-पूर्वी रूस की स्लाव भाषाओं के लिए भी यह लिपि अपनाई गई है। पश्तो ईरानी परिवार की आर्यभाषा है, किंतु यह भी अरबी लिपि में लिखी जाती है। हां, इन विविध भाषाओं के लिए अरबी लिपि को अपनाते समय कुछ विशेष ध्वनियों के नये अक्षर गढ़े गये और कुछ में थोड़ा बदल कर दिया गया है।

अरबी भाषा की अनेक बोलियों का अस्तित्व रहा है। किंतु जिसे पुरातन (क्लासिकल) अरबी कहते हैं, उसके स्वरूप में कोई विशेष अंतर नहीं आया है। अरबी शब्द-समूह की दृष्टि से बड़ी धनी भाषा है।

जहां तक अरबी साहित्य का प्रश्न है, क़ुरान अरबी भाषा का सबसे प्राचीन ग्रंथ है। किंतु अरबी भाषा और लिपि इस्लाम के उदय के पहले ही अस्तित्व में आ चुकी थीं। अरबी लिपि का विकास नबाती और नव-सिनाई लिपि से हुआ है। चौथी और पांचवीं शताब्दी के कुछ नबाती लेखों में हमें अरबी लिपि की शुरुआत दिखाई देती है। दमिश्क के दक्षिण-पूर्व के एन्-निमराह् स्थान से ३२८ ई० का एक लेख मिला है, जिसकी भाषा पुरातन अरबी है और इसमें अरबी लिपि का आद्य रूप देखने को मिलता है। परंतु अरबी लिपि के प्राचीनतम लेख अलेप्पो और दमिश्क के पास से मिले हैं। अलेप्पो के पास के ज़बाद स्थान से १८७९ में एक त्रैभाषिक लेख मिला है। यह ५१२ ई० का है और यूनानी, सीरियाई और अरबी भाषाओं में है। लगभग इसी समय का एक लेख दमिश्क के पास से मिला है, जो यूनानी और अरबी भाषाओं में है। इन द्वैभाषिक और त्रैभाषिक लेखों को हम निश्चित रूप से अरबी के प्राचीनतम लेख मान सकते हैं।

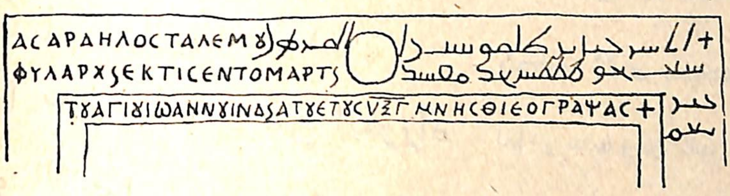

एक द्वैभाषिक लेख (छठी शताब्दी पूर्वार्ध), जो यूनानी और अरबी भाषा तथा लिपियों में है।

अरबी परंपरा तो यह बतलाती है कि अरबी लिपि का निर्माण पैगंबर मुहम्मद के परिवार के किसी एक व्यक्ति ने किया था। परंतु हम जानते हैं कि, इस परंपरा में कोई सत्य नहीं है, क्योंकि मुहम्मद और इस्लाम के पहले ही अरबी लिपि अस्तित्व में आ चुकी थी। ठीक किस लिपि से अरबी लिपि अस्तित्व में आई, इसके बारे में निश्चित रूप से तो कुछ नहीं कहा जा सकता; किंतु पुराविदों का मत है कि नबाती, नव-सिनाई और पालमीरी लिपियों के प्रभाव के अंतर्गत ही अरबी लिपि अस्तित्व में आई है। अरबी लिपि की दो प्रमुख शैलियां हैं––नस्खी और कुफी। विद्वानों का मत है कि इन दोनों शैलियों की अरबी लिपि का विकास नबाती और नव-सिनाई लिपियों से हुआ है। नस्खी लिपि का विकास उत्तरी हज़ाज में हुआ और बाद में मक्का व मदीना में इसका प्रचार हुआ। कुफ़ी लिपि का विकास मेसोपोटामिया के प्रसिद्ध विद्याकेंद्र कुफा और बसरा में हुआ। बहुत से विद्वानों का मत है कि अरबी लिपि का जन्म मेसोपोटामिया के अल-हिरा स्थान में ही हुआ था। जो भी हो, इतना निश्चित है कि अरबी लिपि के आरंभिक विकास में मक्का, मदीना, कुफ़ा, बसरा और दमिश्क जैसे नगरों के विद्याकेंद्रों का प्रमुख हाथ रहा है। इन्हीं नगरों में अरबी लिपि की विभिन्न शैलियों का विकास हुआ।

सामान्यतः हम कह सकते हैं कि इस्लाम के उदय के बाद खलीफाओं के शासन-काल में अरबी की दो प्रमुख शैलियां अस्तित्व में आ चुकी थीं। मेसोपोटामिया के कुफ़ा नगर के नाम पर एक शैली की अरबी लिपि को 'कुफ़ी' नाम दिया गया है। कुफ़ा और बसरा में इस लिपि ने जन्म लिया था। दूसरी अरबी लिपि नस्ख कहलाई। नस्ख का अर्थ है, नकल उतारना।

कुफ़ी लिपि सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अस्तित्व में आई थी । मुख्यतः स्मारकों पर अंकित किये जाने वाले लेखों में ही कुफ़ी लिपि का इस्तेमाल होता था । भारत में अरबी लिपि की प्रायः सभी शैलियों के लेख मिलते हैं । कुफ़ी लिपि का सुंदर नमूना गुलाम-शासक इल्तुतमिश (१२११-३६ ई०) के दिल्ली के कुतुब मीनार के पास के मकबरे में देखा जा सकता है । कुफ़ी लिपि में क़ुरान की बहुत-सी हस्तलिपियां मिलती हैं । इसी खूबसूरत कुफ़ी लिपि से 'मगरिबी' लिपियां अस्तित्व में आई हैं । इन मगरिबी या पश्चिमी अरबी लिपियों का प्रयोग उत्तरी अफ़्रीका के देशों में, स्पेन तथा उत्तरी अरबिया में होता रहा है ।

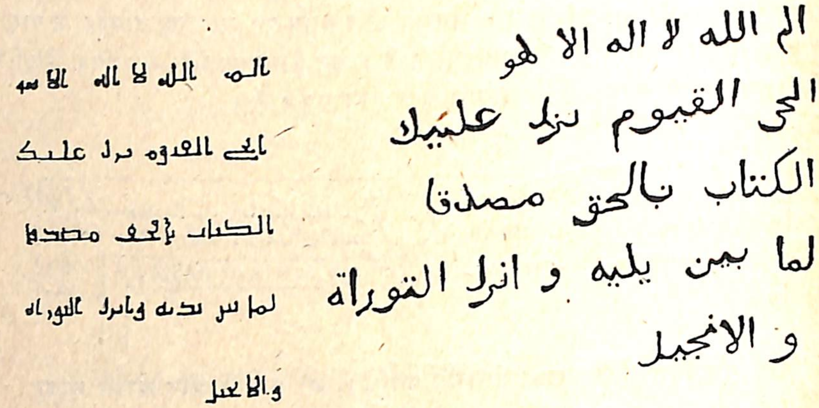

कुरान का एक अंश : दायीं ओर नस्खी लिपि में और बायीं ओर कुफी लिपि में

यह सही है कि कुफ़ी लिपि बहुत कलात्मक थी, परंतु इसमें खामियां भी काफ़ी थीं । यह लिपि अरबी भाषा की सारी ध्वनियों को व्यक्त करने में समर्थ नहीं थी । क़ुरान का शुद्ध लिखा और पढ़ा जाना बहुत ज़रूरी था । इसलिए नस्ख़ी लिपि अस्तित्व में आई । इसे 'मक्का-मदीना की लिपि' भी कहते हैं । नस्ख़ी लिपि के अक्षरों में नुक्तें जोड़कर इसे अरबी की ध्वनियों के अनुरूप बनाने की कोशिश की गई थी । १३वीं शताब्दी में जब अरब-जगत में चित्रकला का चरम विकास हुआ तो अरबी सुलेखकों ने अनुभव किया कि नस्खी लिपि के अक्षर सुलेखन के लिए सुविधाजनक नहीं हैं । इसलिए अरबी लिपि की एक नई शैली—नस्तालिक़—अस्तित्व में आई । ईरान और भारत में इसी नस्तालिक लिपि को अपनाया गया था । इसी नस्तालिक लिपि से इसका एक सामान्य रूप अस्तितव में आया, जिसे शिकस्ता (घसीटी) लिपि कहते हैं । भारत में नस्तालिक और शिकस्ता का ज्ञान आवश्यक समझा जाता है ।

अन्य सेमेटिक लिपियों की तरह अरबी लिपि भी दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी जाती है । हमने पहले देखा है कि सेमेटिक लिपियों में कुल २२ अक्षर हैं । परंतु अरबी में आज २८ अक्षर हैं । इनमें २२ अक्षर तो पहले की सेमेटिक लिपियों के हैं, किंतु अरबी में ६ अक्षर और बनाये गये हैं । जब यह अरबी लिपि फारसी के लिए अपनाई गई तो इसमें अरबी की २८ ध्वनियों के अतिरिक्त 'प', 'च' 'ज्ह' तथा 'ग' के लिए चार नये चिह्न बनाये गये । इस प्रकार फारसी लिपि में अब ३२ चिह्न हैं । फारसी में अरबी

अक्षरों की जो वृद्धि हुई थी उसे उर्दू के लिए तो अपनाया ही गया, उनके अतिरिक्त भारतीय 'ट', 'ड', 'ड़' ध्वनियों के लिए तीन चिह्न और बढ़ा दिये गये और इस प्रकार उर्दू लिपि में ३५ अक्षर हो गये । अरबी तथा उससे निकली हुई सभी लिपियां व्यंजन प्रधान हैं। स्वरों के लिए 'ज़ेर', 'जबर', 'पेश' तथा 'मद' आदि अक्षरों का सहारा लिया जाता है। परंतु यह वैज्ञानिक तरीका नहीं है, इसलिए इस लिपि में सुधार की आवश्यकता है।

१३

अ-सेमेटिक भाषाओं की आरमेई लिपियां

अब तक हमने उन्हीं आरमेई लिपियों की चर्चा की हैं जिनकी भाषाएं सेमेटिक परिवार की थीं। किंतु आरमेई लिपि ने सेमेटिक भाषाओं की सीमाओं को लांघकर कुछ अ-सेमेटिक भाषाओं की भी सेवा की है। इसने भारत-ईरानी, तुर्की तथा मंगोल भाषाओं की भी सेवा की है। खरोष्ठी लिपि, जिसकी भाषा पालि-प्राकृत थी, आरमेई लिपि से ही निकली है। खरोष्ठी लिपि का विवरण हमने भारतीय लिपियों के अध्याय में दिया है। प्राचीन ईरान की पहलवी लिपि आरमेई से बनी थी।

ईरानी लिपियां

सिकंदर की मृत्यु (३२३ ई०पू०) के बाद उसके एक सेनापति सेलेउक ने पश्चिम एशिया के विजित प्रदेश में सेलेउकिद साम्राज्य की स्थापना की थी (३०१ ई०पू०)। लगभग पचास वर्षों का समय बीतते-बीतते ही यह साम्राज्य टूटने लग गया था। परिणामतः इस साम्राज्य के पूर्वी भाग में दो स्वतंत्र राज्यों का उदय हुआ। एक तो बल्ख के यूनानियों ने अपने को अलग करके बाख्त्री राज्य की स्थापना की; दूसरे, पार्थवों ने ईरान में अपना राज्य स्थापित किया। ये पार्थव लोग ईरान के उत्तरी पहाड़ी हिस्से (खुरासान) में रहते थे। मूलतः ये शकों के भाई-बंद थे और घुमंतू जीवन बिताते थे। ये लोग उत्तरी ईरानी बोली बोलते थे। २४८ ई०पू० में पार्थवों के एक नेता अरसक ने ईरान में पार्थव राजवंश की स्थापना की थी। इसके बाद पार्थवों ने ईरान पर लगभग ४५० साल तक राज्य किया। इनके प्रसिद्ध राजा मिथ्रिदेत-प्रथम (लग०१७०-१३८ ई०पू०) ने रोमनों से अनेक युद्ध लड़े थे। तब मीडिया और बेबीलोन पर भी पार्थवों का अधिकार था।

२२० ई० के आसपास पार्थव राजवंश का अंत हुआ। इसका स्थान तब सासानियों ने लिया। ये सासानी अपने को शुद्ध ईरानी और प्राचीन हख़ामनी साम्राटों के उत्तराधिकारी समझते थे और उसी प्राचीन गौरव को पुनः वापस लाने में प्रयत्नशील थे।

पहलवी लिपि

कीलाक्षर लिपि के अध्याय में हमने बताया है कि हख़ामनी शासन-काल में ईरान में आरमेई भाषा और लिपि का प्रचार था। हमने यह भी देखा है कि हख़ामनी शासकों ने अपनी आर्यभाषा के लिए लगभग ५० कीलाक्षरों की एक नई लिपि का निर्माण किया था। उस समय की यह ईरानी आर्यभाषा आरमेई लिपि में भी लिखी गई थी या नहीं, इसके बारे में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती। ईरानी आर्यभाषा के जितने भी लेख मिले हैं (उदा० दारयवुश का बेहिस्तुन चट्टान-लेख) वे सभी पारसी कीलाक्षर लिपि

में हैं। परंतु हम जानते है कि हख़ामनी शासन-काल में ईरान में आरमेई लिपि और भाषा का भी खूब प्रचार था। आरमेई भाषा और लिपि का प्रचार दिनोंदिन बढ़ता ही गया। पार्थवों ने भी इनका इस्तेमाल किया।

हख़ामनी काल की ईरानी आर्यभाषा को 'प्राचीन पारसी' भाषा का नाम दिया जाता है। पार्थवों और सासानियों के शासन-कालों की ईरानी भाषा को 'मध्य पारसी' या 'पहलवी' का नाम दिया गया है और इस्लाम के बाद की ईरानी भाषा को 'नव-पारसी' या 'फारसी' का नाम दिया जाता है।

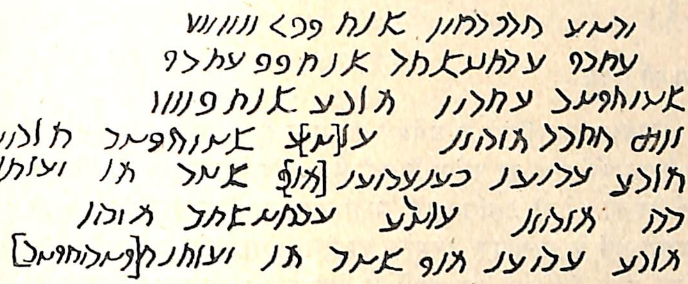

पहलवी-पार्थव लेख

ई० पू० तीसरी शताब्दी के अन्त में पार्थवों ने पहलवी भाषा के लिए आरमेई लिपि के आधार पर एक नई लिपि बनाई थी। यह 'पहलवी' शब्द 'पार्थव' शब्द से ही बना है। पार्थव शब्द दारयवुश के बेहिस्तुन लेख में भी मिलता है। पहलवी लिपि, जो कि उस समय ईरान में प्रचलित घसीटी आरमेई लिपि से बनी थी, तीन वर्गों में बांटी गई है। (१) उत्तरी-पश्चिमी पहलवी लिपि पार्थवों की लिपि थी। इसे हम पहलवी-पार्थवी लिपि का भी नाम दे सकते हैं। यह लिपि पार्थवों के सिक्कों के अक्षरों में मिलती है। इस लिपि के कुछ लेख भी मिलते हैं। (२) दक्षिण-पश्चिमी पहलवी: यह सासानी शासकों की लिपि थी, इसलिए इसे हम सासानी-पहलवी का नाम दे सकते हैं। इस लिपि की दो शैलियां हैं—घसीटी और स्मारकीय। (३) पूर्वी पहलवी: इसकी घसीटी शैली के ही नमूने देखने को मिलते हैं।

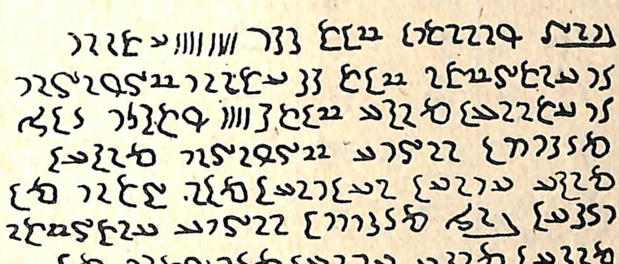

पहलवी-सासानी लेख

आरमेई मूलतः सेमेटिक भाषा की लिपि थी। इसके २२ अक्षरों के आधार पर जब पहलवी लिपि बनाई गई, तो आर्य परिवार की ईरानी भाषा को इसमें लिखने के लिए लिपि के अक्षरों के ध्वनिमानों में कुछ परिवर्तन करना जरूरी था। इसमें 'आलेफ' को 'अ' के लिए, 'व' को 'उ' के लिए और 'य' को स्वर 'इ' के लिए अपनाया गया। 'ग'

का इस्तेमाल 'घ' के लिए भी होता था। इसी प्रकार, 'प' का 'फ' के लिए भी इस्तेमाल होता था। 'सामेख' 'स' के लिए अपनाया गया, तो 'शिन' 'श' के लिए। इतना होने पर भी यह लिपि ईरानी भाषा की ध्वनियों को पूर्ण रूप से व्यक्त करने के लिए पर्याप्त नहीं थी, इसलिए कुछ अक्षरों का इस्तेमाल अन्य ध्वनियों के लिए भी होता था। जैसे, 'त' का इस्तेमाल 'द', 'ध' और कभी-कभी 'थ' के लिए और 'हेथ्' का इस्तेमाल 'ह' और 'ख़' दोनों के लिए होता था।

इतना होने पर भी पहलवी लिपि में वही न्यूनताएं थीं, जो कि हम खरोष्ठी लिपि में देखते हैं।

अवेस्ता की लिपि

'अवेस्ता' पारसियों के धर्मग्रंथ का नाम है। संस्कृत में इसके लिए 'अविस्त' या 'अविस्तवाणी' शब्द का प्रयोग मिलता है। बाद में इस ग्रंथ की "ज़िन्द" नामक एक टीका तैयार की गई थी, इसलिए इसे 'जेन्दावस्ता' या 'जिंदावेस्ता' भी कहते हैं। अवेस्ता ग्रंथ पारसी धर्म के संस्थापक ज़रथुस्त्र का रचा हुआ माना जाता है। यह ग्रंथ यस्न, विस्पारद, यश्त, वेन्दीदाद इन भागों में विभक्त है। सामान्यतः यस्न की गाथाओं को प्राचीनतम माना जाता रहा है, किंतु आधुनिक अध्ययनों से अब भाषाविद इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि यश्त में ही ईरान की अधिक प्राचीन संस्कृति की झलक मिलती है। अवेस्ता की भाषा का वैज्ञानिक तथा तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ है कि इसकी गाथाएं १००० ई० पू० के आसपास रची गई थीं। अवेस्ता की भाषा वैदिक संस्कृत से बहुत मिलती-जुलती है और इसके बहुत-से वाक्य तो थोड़े परिवर्तन से ही वैदिक भाषा-से बन जाते हैं।

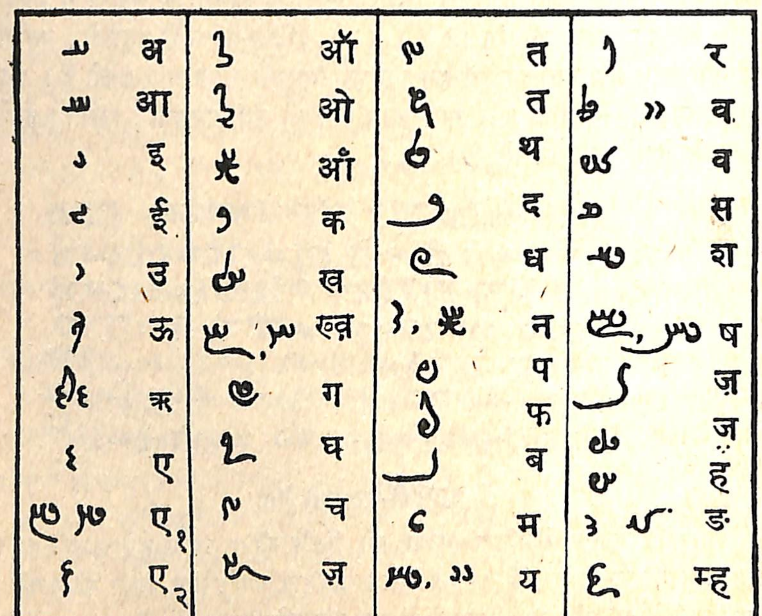

अवेस्ता की लिपि; इसमें सभी व्यंजन हलन्त हैं

अवेस्ता के लिए एक विशेष लिपि का निर्माण किया गया था। अवेस्ता की इस लिपि को कभी-कभी 'पांजद लिपि' भी कहते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि इस लिपि में ५० अक्षर हैं। परंतु कावसजी एदलजी कांगा के 'अवेस्ता ग्रामर' (१८९१) के अनुसार अवेस्ता की लिपि में कुल ४७ वर्ण हैं—१३ स्वर और ३४ व्यंजन। मैंने कांगा के आधार पर ही यहां अवेस्ता लिपि के अक्षर दिये हैं। अवेस्ता लिपि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें व्यंजनों के साथ स्वर निहित नहीं रहते, ये हलंत अर्थात् स्वर-रहित रहते हैं। अवेस्ता की इस लिपि की उत्पत्ति के बारे में कोई ठोस जानकारी नहीं मिलती। डिरिंजेर का मत है कि पहलवी लिपि के आधार पर ही इस लिपि का निर्माण हुआ था। इस लिपि के कुछ अक्षर यूनानी लिपि से भी मिलते हैं, इसलिए यह माना गया है कि इस लिपि का निर्माता यूनानी लिपि से भी परिचित रहा होगा।

सोग्दी लिपि

सोग्द (सुग्ध) पश्चिमी मध्य-एशिया की ज़रफशाँ नदी का प्राचीन नाम था। प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर समरकंद और बुखारा इस नदी के किनारे बसे हुए हैं। सुग्ध-उपत्यका का यह प्रदेश हख़ामनी साम्राज्य का एक प्रांत था। प्राचीन पारसी में इसके लिए 'सुघुद' और अवेस्ता में 'सुघ्द' शब्द मिलते हैं। आज यह सोवियत रूस का उज़बेक प्रदेश है। प्राचीन काल के सोग्दी लोग ईरानी वंश की भाषा बोलते थे। किंतु यह सोग्दी भाषा संस्कृत के भी काफी निकट थी। संस्कृत के कई शब्द ईरानी में नहीं मिलते, किंतु सोग्दी में मिलते हैं।

अरबों की विजय के बाद जब ईरानी लोग मुसलमान बने, तो उत्तर-पूर्व के इन सोग्दियों को भी उनका अनुकरण करना पड़ा। धीरे-धीरे सोग्दी भाषा का स्थान खुरासान (उत्तर-पूर्वी ईरान) की भाषा ने ले लिया। सोग्दी भाषा सिमटती गई। अंत में यह पहाड़ के कुछ गांवों में ही बची रह सकी। अब तो समरकंद के पास अग्निक नदी के समीप तीन-चार गांवों में ही गलचा भाषा के रूप में इसकी स्मृति शेष है।

सोग्दी व्यापारियों के पूर्वी मध्य-एशिया से भी संबंध थे। उस समय चीनी तुर्किस्तान में सोग्दी ही नहीं, मानी के अनुयायी, नस्तोरी और बौद्ध भी बसे हुए थे। पूर्वी मध्य-एशिया में सोग्दियों के कई उपनिवेश थे, यह बात वहां से प्राप्त अनेक अभिलेखों से सिद्ध होती है। ओर्खोन नदी पर स्थित बलगसुन के पास से तुर्की, सोग्दी और चीनी भाषाओं का ९वीं शताब्दी का एक त्रैभाषिक लेख मिला है। इससे यह सिद्ध होता है कि सोग्दी उत्तर में ओर्खोन उपत्यका तक बसे हुए थे। उनकी दक्षिणी सीमा लद्दाख से ६ पंक्तियों के मिले एक सोग्दी लेख से जानी जा सकती है। तुर्फान (पूर्वी तुर्किस्तान) से कई सोग्दी हस्तलेख मिले हैं। तुन्ह्वाङ से भी सोग्दी भाषा के हस्तलेख मिले हैं। सोग्दी भाषा में अनेक बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद हुआ था। तुन्ह्वाङ के हस्तलेखों में 'वज्रच्छेदिका', 'सुवर्णप्रभास', 'वेस्सन्तर जातक', 'नीलकंठधारणी' जैसे ग्रंथों के सोग्दी अनुवादों के अंश मिले हैं। यह सारी सामग्री वर्तमान शताब्दी के आरंभ में आरेल स्टाइन जैसे पुराविद-पर्यटकों के प्रयासों से उपलब्ध हो सकी है। १९३३ में सोवियत पुरातत्ववेत्ताओं ने समरकंद के पास मुग पर्वत की खुदाई में एक सोग्दी राजा का दफ्तर ही खोज निकाला, जिसमें लगभग ७० चर्मपट हैं।

सोग्दी लिपि मध्य-एशिया में इतनी जनप्रिय हो गई थी कि मानी पंथियों ने और बौद्धों ने भी इसका इस्तेमाल किया था। सोग्दी लिपि के जो हस्तलेख मिले हैं उनमें तुन्ह्वाङ से प्राप्त कुछ हस्तलेख ईसा की दूसरी शताब्दी के हैं, परंतु अन्य अधिकांश हस्तलेख सातवीं-आठवीं शताब्दी के हैं। सोग्दी लिपि के अन्वेषण में जर्मन विद्वान एन्दिअस और म्यूलर तथा फ्रेंच विद्वान गौथिओ ने विशेष काम किया है। सोग्दियों ने अपनी लिपि का निर्माण स्थानीय घसीटी आरमेई लिपि और प्राचीन पहलवी लिपि के आधार पर किया था। सोग्दी लिपि, जिसकी कुछ शैलियों का अस्तित्व देखने को मिलता है, अन्य सेमेटिक लिपियों की तरह एक व्यंजनमूलक लिपि थी। इसमें प्रायः 'अ', 'इ' और 'उ' स्वरों को बिना लिखे ही काम चलाया जाता था। किंतु कभी-कभी इनके लिए 'आलेफ', 'य' तथा 'व' का इस्तेमाल होता था। 'आलेफ' से 'अ' और 'आ' को, 'य' से 'इ', 'ई' तथा 'ऐ' को और 'व' से 'उ', 'ऊ' और 'औ' को व्यक्त किया जाता था। कभी-कभी स्वरों के लिए एक-साथ दो अक्षरों का भी इस्तेमाल होता था; जैसे, 'आलेफ-य' या 'आलेफ-व'।

उइगुर लिपि

उइगुर लोग प्राचीन हूणों के वंशज थे। ये मंगोलिया में रहते थे और तुर्की वंश की भाषा बोलते थे। आज तो तुर्की भाषा पश्चिमी चीन से काकेशस पर्वतमाला तक के अनेक प्रदेशों में विद्यमान है; परंतु तुर्की भाषा का सबसे प्राचीन साहित्य हमें उइगुर साहित्य के रूप में ही मिलता है। सातवीं शताब्दी में उइगुर लोग पश्चिमोत्तर मंगोलिया में रहते थे। ८वीं शताब्दी में चीनी तुर्किस्तान में भी इनका राज्य स्थापित हो गया था, और तभी इन्होंने बौद्धधर्म को अपनाया था। बाद में इन्होंने मानी के धर्म को भी अपनाया। ९वीं शताब्दी में मंगोलिया का राज्य इनके हाथ से निकल गया, तो इन्होंने कानचाउ प्रांत और इली तथा तरिम उपत्यकाओं में एक विशाल उइगुर साम्राज्य खड़ा किया था। छिंगीस या चंगेज़ खान (११६२-१२२७ ई०) के समय भी इन्होंने अपने को काफ़ी हदतक स्वतंत्र बनाये रखा था, यद्यपि अब ये मंगोलों के अधीन थे। उस समय इन्हें उइगुर कहा जाता था, और चीनी इन्हें वै-उर लिखते थे।

उइगुर लिपि सोग्दी के आधार पर बनी हुई जान पड़ती है। इसमें कुल १४ अक्षर हैं। इसलिए तुर्की जैसी स्वर-प्रधान भाषा के लिए इस लिपि के प्रयोग की जो कठिनाइयां रही होंगी, उसकी कुछ कल्पना की ही जा सकती है। इसमें स्वरों को लिखा नहीं जाता था। बाद में 'आलेफ' का 'आ' या ऐ' के लिए, दो आलेफ़ों का 'अ' के लिए, 'य' का 'इ' 'ई' और 'ए' के लिए, 'व का 'उ' तथा 'ओ' के लिए इस्तेमाल होता था। उइगुर भाषा में तुखारी, शक, तिब्बती तथा चीनी भाषाओं से हुए कई बौद्धग्रन्थों के अनुवाद उपलब्ध हैं। उइगुर लिपि ऊपर से नीचे लिखी जाती थी।

जैसा कि हम आगे देखेंगे, मंगोल तथा मंचू लिपियां उइगुर लिपि से ही निकली थीं। छिंगीस खान के समय में उसका सरकारी कामकाज अधिकतर उइगुर बौद्ध-पंडितों के हाथ में था।

मंगोल लिपियां

बारहवीं शताब्दी में मध्य-एशिया के इतिहास में मंगोलों का उदय होता है। थोड़े ही समय में छिंगीस खान द्वारा स्थापित और अनुवर्धित यह मंगोल साम्राज्य चीन

से लेकर पूर्वी यूरोप के देशों तक फैल गया था। मंगोल भाषा अल्ताई भाषा-परिवार की है। इसकी तीन प्रमुख बोलियां हैं—खल्ख, कल्मक और बुर्यात। इनमें से खल्ख को प्राचीन काल में साहित्यिक भाषा का दर्जा मिला था। तिब्बत के प्रसिद्ध स-क्या विहार के लामा फग्स्-पा ने कुबीले खान के दरबार में एक शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त की थी। तब १२६० के आसपास कुबीले खान ने बौद्धधर्म को ग्रहण करके फग्स्-पा को अपना धर्म-गुरु बनाया था। शुरू में मंगोल खान सरकारी कामकाज के लिए उइगुर भाषा और लिपि का इस्तेमाल करते थे। परंतु १२७२ ई० में फग्स्-पा ने तिब्बती लिपि के आधार पर मंगोल भाषा के लिए एक लिपि बनाई थी। लेकिन यह लिपि भी अधिक दिनों तक चली नहीं। आज इस लिपि में मंगोलों के थोड़े-से ही राजकीय हस्तलेख मिलते हैं।

१३१० ई० में मंगोल भाषा के लिए एक नई लिपि बनाई गई। यह उइगुर लिपि के आधार पर बनाई गई थी, परंतु इस पर फग्स्-पा की लिपि का प्रभाव भी दिखाई देता है। इस नई लिपि को 'कलिक' (क-लिख्=क-लिपि) का नाम दिया गया। १४वीं शताब्दी में ही यह कलिक लिपि मंगोलों की राष्ट्रीय लिपि बन गई थी। यह लिपि ऊपर से नीचे स्तम्भों में लिखी जाती थी और ये स्तंभ बायीं ओर से दायीं ओर को बढ़ते जाते थे। इस लिपि में 'ग' और 'क', 'द' और 'त', 'ओ' और 'उ', 'य' और 'ज' के लिए समान अक्षर हैं। इसलिए इस लिपि में भिन्न-भिन्न अर्थ वाले शब्द प्रायः एक-से ही लिखे हुए मिलते हैं; जैसे, 'उर्तु' (=लंबा) और 'ओर्दु' (=महल, बड़ा तंबु)।

मंगोल भाषा में अनूदित बौद्ध साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। आरंभ में तिब्बती से मंगोल भाषा में अनुवाद हुए थे। बाद में मंगोल विद्यार्थी हजारों की संख्या में तिब्बती विहारों में भी पढ़ने के लिए आने लगे थे। कुछ बौद्धग्रन्थ उइगुर से भी मंगोल भाषा में अनूदित हुए थे।

मंचू लिपि

मंचू लिपि का निर्माण मंचू सम्राट चियेन्-लुङ (१७३६-९५) ने किया था। उस समय मंगोल लिपि की जो लगभग ३२ शैलियां प्रचलित थीं, उन्हीं में से एक के आधार पर मंचू लिपि बनी थी। यह लिपि मंगोल लिपि की तरह ऊपर से नीचे स्तम्भों में लिखी जाती थी। चियेन्-लुङ् ने तिब्बती बौद्धग्रंथ कन्-जुर तथा तन्-जुर का मंगोल भाषा में अनुवाद करवाया था। उसने विद्वानों से इस अनुवाद-कार्य के लिए एक बड़ा व्याकरण और तिब्बती-मंगोल कोश भी तैयार करवाये थे।

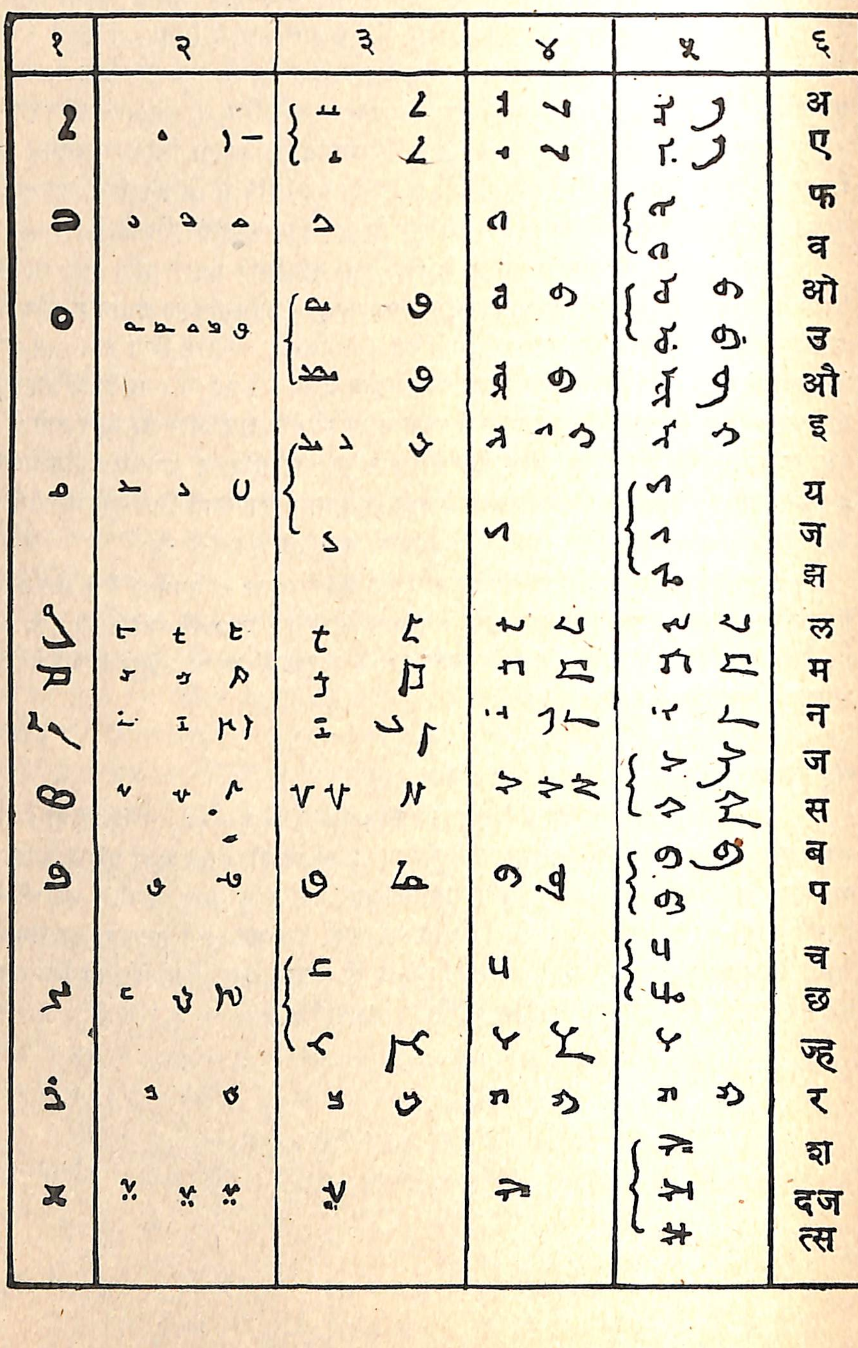
१
२
३
४
५
६
अ ए फ व ओ उ औ इ य ज झ ल म न ज स ब प च छ ज्ह र श दज त्स

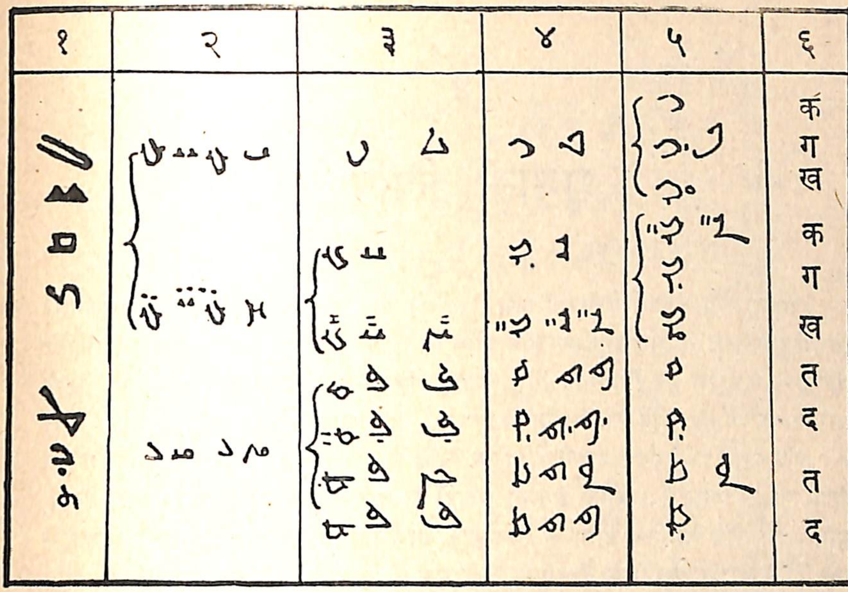

सीरियाई और उइगुर लिपियों की मंगोल लिपियों के साथ तुलना

१. नस्तोरी सीरियाई लिपि
२. उइगुर लिपि (आद्य अक्षर, मध्य अक्षर, अन्त्य अक्षर)
३. मंगोल लिपि (क्षैतिज बनाये अक्षर)।
४. मंगोल लिपि
५. मंचू लिपि
६. ध्वनिमान

१४

यूनानी लिपि

प्रायः सभी यूनानी परंपराएं इसी तथ्य की ओर इशारा करती हैं कि यूनानियों ने फिनीशियावालों से ही लिपि का ज्ञान प्राप्त किया था। और, यदि हम यूनानी लिपि का परीक्षण करें, तो यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि उन्होंने फिनीशियावालों की लिपि के आधार पर अपनी लिपि का निर्माण किया था। आरंभिक यूनानी लिपि के प्रायः सभी अक्षरों के आकार या स्वरूप उत्तरी सेमेटिक लिपि जैसे हैं। यूनानी अक्षरों का क्रम भी सेमेटिक अक्षरों जैसा है। और, यूनानी अक्षरों के नाम--अल्फा, बिटा, गामा, डेल्टा, इत्यादि--तो सीधे सेमेटिक भाषा के शब्द हैं। भारोपीय परिवार की यूनानी भाषा में यूनानी लिपि के इन अक्षरों के नामों का कोई अर्थ ही नहीं है। विपरीत, सेमेटिक भाषा में इन अक्षर-नामों के जाने-माने अर्थ हैं; जैसे, अल्फा (आलेफ्) = बैल, बिटा (बेथ) = मकान, गामा (गिमेल) = ऊंट, डेल्टा (दलेथ) = द्वार, इत्यादि। इसलिए यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि यूनानियों ने अपने अक्षरों को सेमेटिक लिपि से ही लिया था।

अब मुख्य प्रश्न है: यूनानियों ने कब सेमेटिक लिपि के आधार पर अपनी लिपि का निर्माण किया? प्राचीनतम यूनानी लेख हमें ८वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के मिलते हैं; इसलिए इतना तो निश्चित है ही कि, ८०० ई०पू० के आसपास यूनानी लिपि अस्तित्व में आ चुकी थी। परंपराओं एवं आख्यानों पर विचार करें तो हम यूनानी लिपि के आरंभ को डेढ़-दो सौ साल और पीछे सहज ही ले जा सकते हैं। परंतु कुछ विद्वान यूनानी लिपि के आरंभ को ई०पू० चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में रखना चाहते हैं। लेकिन उनकी इस मान्यता के लिए कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता। अधिक से अधिक हम यूनानी लिपि का आरंभ १००० ई०पू० के आसपास मान सकते हैं। एजियन समुद्र के थेरा द्वीप से और अथेंस से यूनानी लिपि के जो प्राचीनतम अभिलेख मिले हैं, वे ई०पू० आठवीं शताब्दी के हैं। एत्रुस्कन लिपि, जो यूनानी लिपि से बनी थी, ८वीं शताब्दी में अस्तित्व में आ चुकी थी। इसलिए हम सहज स्वीकार कर सकते हैं कि १००० ई०पू० के आसपास यूनानी लिपि अस्तित्व में आ चुकी थी।

यूनानी लिपि के प्राचीनतम लेख दाईं ओर से बाईं ओर को लिखे हुए मिलते हैं। स्पष्टतः यह दाईं ओर से बाईं ओर को लिखी जानेवाली सेमेटिक लिपियों का प्रभाव था। बाद में यूनानी लिपि 'बौस्ट्रोफेदोन' विधि से लिखी जाने लगी। 'बौस्ट्रोफेदोन' शब्द यूनानी भाषा का है, और इसका अर्थ होता है बैलों द्वारा जोताई करने का तरीका। यदि किसी लिपि की एक पंक्ति बाईं ओर से आरंभ होती है, दूसरी पंक्ति दाईं ओर से आरंभ होती है, तीसरी पंक्ति पुनः बाईं ओर से आरंभ होती है, और दाएं-बाएं का यही

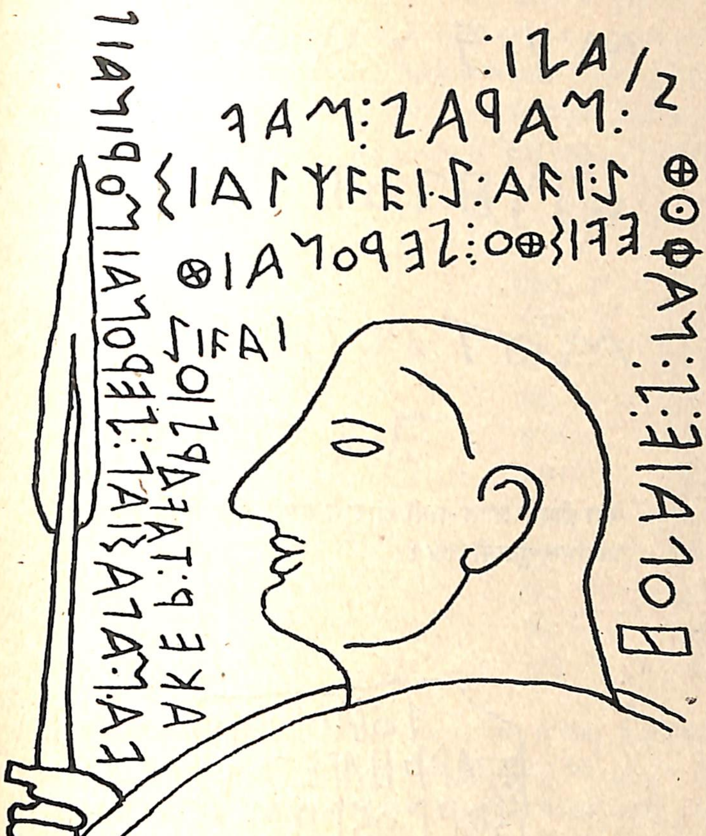

लेमनोस से प्राप्त एक शिला-फलक पर अंकित यूनानी लेख (छठी शताब्दी ई० पू०)। यह लेख बायीं ओर से दायीं ओर, दायीं ओर से बायीं ओर, ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर लिखा गया है ! इसकी भाषा एत्रुस्कन है।

सिलसिला चलता रहता है, तो ऐसे लेखन-क्रम को 'बौस्ट्रोफेदोन' कहते हैं। इस विधि में भी लिखे गये कुछ यूनानी लेख मिलते हैं। इन दोनों तरीकों से लिखे गये कुछ आरंभिक यूनानी लेख नीचे से आरंभ होकर ऊपर को बढ़ते हुए भी दिखाई देते हैं। इसी आरंभिक काल में कुछ यूनानी लेख बायीं ओर से दायीं ओर को लिखे हुए भी मिलते हैं। किंतु ५०० ई०पू० के आसपास से आगे प्रायः सभी यूनानी लेख बायीं ओर से दायीं ओर को लिखे हुए मिलते हैं।

भारत की ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति पर विचार करते समय हम देखेंगे कि बूलर जैसे प्रसिद्ध पुरालिपविदों ने दाईं ओर से बाईं ओर को लिखे गये ब्राह्मी लेखों को खोजने का बहुत प्रयत्न किया था। उद्देश्य यही था कि, यदि दाईं ओर से बाईं ओर को लिखे हुए ब्राह्मी लेख मिल जाते हैं, तो फिर यूनानी लिपि की तरह यह कहा जा सकता है कि, ब्राह्मी लिपि का निर्माण भी किसी सेमेटिक लिपि के आधार पर हुआ है। किंतु, जैसा कि पाठक आगे पढ़ेंगे, बूलर को अपने इस प्रयास में सफलता नहीं मिली।

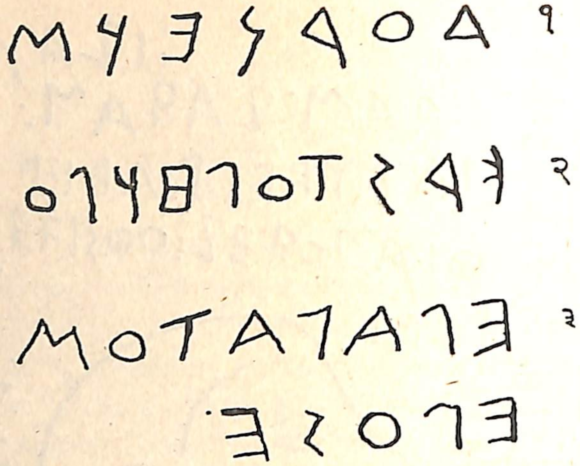

थेरा द्वीप से प्राप्त दायीं ओर से बायीं ओर लिखे हुए आरंभिक यूनानी लेख।

थेरा द्वीप से प्राप्त लेख। यहां पहली पंक्ति दायीं ओर से बायीं ओर, दूसरी पंक्ति बायीं ओर से दायीं ओर, तीसरी पंक्ति बायीं ओर से दायीं ओर और चौथी पंक्ति दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी गई हैं। अंतिम पंक्ति अन्त में बायीं ओर ऊपर उठती है।

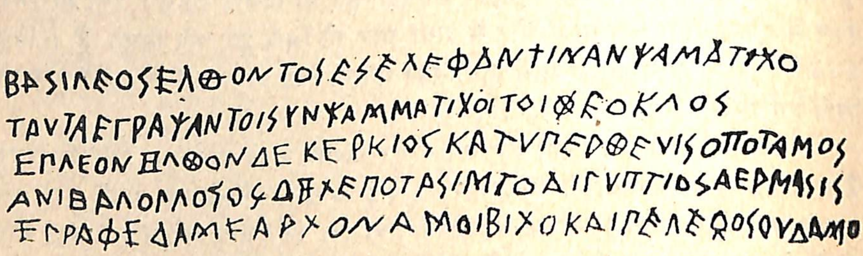

आबू-सिम्बेल (नुबिया, मिस्र) से प्राप्त बायीं ओर से दायीं ओर लिखा हुआ यूनानी लेख (लग० ५९० ई० पू०)।

यूनानी भाषा भारोपीय परिवार की है, इसलिए ग्रारंभ में यूनानियों के सामने जब ग्रपनी भाषा के लिए एक सेमेटिक भाषा की लिपि को ग्रहण करने का प्रश्न ग्राया, तो वे सेमेटिक भाषा की लिपि को ज्यों-की-त्यों नहीं ले सकते थे। उत्तरी सेमेटिक लिपि के २२ ग्रक्षरों में ११ ग्रक्षर ऐसे थे, जिन्हें यूनानी ध्वनियों के लिए सीधे ग्रपनाया जा सकता था, इसलिए इन ११ ग्रक्षरों को तो ज्यों-का-त्यों लिया गया। ये ग्रक्षर हैं :

	सेमेटिक ग्रक्षर		यूनानी ग्रक्षर	
१.	बेथ	(ब)	बिटा	(ब)
२.	गिमेल्	(ग)	गामा	(ग)
३.	दालेथ्	(द)	डेल्टा	(द)
४.	ज़ाइन्	(ज़)	ज़ेटा	(ज़)
५.	काफ्	(क़)	काप्पा	(क)
६.	लामेध्	(ल)	लाम्डा	(ल)
७.	मेम्	(म)	म्यू	(म)
८.	नून्	(न)	न्यू	(न)
९.	पे	(प)	पाइ	(प)
१०.	रेश्	(र)	ह्रो	(र)
११.	ताव्	(त)	ताउ	(त)

ये ११ ग्रक्षर तो सीधे ही ग्रपनाये गये। इनके ग्रलावा, कुछ सेमेटिक ग्रक्षर यूनानी भाषा की कुछ भिन्न ध्वनियों के लिए ग्रपनाये गये; जैसे, सेमेटिक 'वाव्' (व) यूनानी 'दिगम्मा' (उ, व) के लिए, सेमेटिक 'थेत्' (त) यूनानी में 'थिटा' (थ) के लिए ग्रौर सेमेटिक 'कोफ़्' (क़) यूनानी में 'कोप्पा' (क, क्व) के लिए ग्रपनाया गया। वस्तुतः इस 'कोप्पा' की यूनानी में विशेष जरूरत नहीं थी, क्योंकि 'काफ्' (काप्पा, क) पहले ही सीधा लिया जा चुका था। इसलिए ५वीं शताब्दी ई० पू० के ग्रासपास इस ग्रक्षर को छोड़ दिया गया था। हां, संख्या ९० के लिए इस ग्रक्षर का उपयोग होता रहा।

हम जानते हैं कि सेमेटिक लिपि में स्वराक्षरों का ग्रभाव था। विपरीत, इसमें उष्म ध्वनियों के ग्रक्षरों की बहुलता थी। यूनानियों ने ग्रपने पांच मूल स्वरों का निर्माण सेमेटिक ग्रक्षरों से इस प्रकार किया :

	सेमेटिक व्यंजन		यूनानी स्वर	
१.	ग्रालेफ		ग्रल्फा	(ग्र)
२.	हे	(ह)	एप्सिलोन	(ए)
३.	वाव्	(व)	दिगम्मा	(उ)
४.	योध्	(य)	ग्रायोटा	(इ)
५.	ग्रयिन्		ग्रोमिक्रोन	(ग्रो)

जहां तक यूनानी उष्म ध्वनियों का प्रश्न है, हम बता ही चुके हैं कि सेमेटिक 'ज़ाइन' से यूनानी 'ज़ेटा' (ज़) बनाया गया था। सेमेटिक 'सामेख् (स) से यूनानी 'क्साइ'

(क्स, क्ष) बनाया गया। सेमेटिक 'शिन्' (श) से यूनानी 'सिग्मा' (स) बना।

इनके अलावा, यूनानी भाषा की अपनी खास ध्वनियों के लिए कुछ नये अक्षर-संकेतों का निर्माण किया गया था। ऐसे अक्षर हैं : 'फाइ' (फ), 'खाई' (ख), 'प्साइ' (प्स)। इन नये अक्षरों की उत्पत्ति के बारे में दो मत हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि ये अक्षर अन्य लिपियों से—साइप्रस की अक्षरमाला या दक्षिणी सेमेटिक लिपियों से—लिये गये हैं। दूसरे मत के अनुसार अन्य यूनानी अक्षरों के आधार पर इनका निर्माण किया गया है; जैसे, थेत्-थिटा से या कोफ्-कोप्पा से 'फ', काफ्-कप्पा या थेत्-थिटा से 'ख', और फ या वाव्-उप्सिलोन् से 'प्स'।

अशोक की ब्राह्मी लिपि हमें प्रायः एक ही स्वरूप की मिलती है। किंतु आरंभिक यूनानी लिपि के बारे में यह बात नहीं ही कही जा सकती। सिकंदर के पहले यूनान कई नगर-राज्यों में बंटा हुआ था, इसलिए आरंभ में हमें यूनानी लिपि के लेखों के अक्षरों में काफी रूपांतर दिखाई देता है। आरंभिक यूनानी लिपि को मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित किया गया है—पूर्वी यूनानी लिपि और पश्चिमी यूनानी लिपि। पूर्वी यूनानी वर्णमाला का प्रयोग आयोनिया के उपनिवेशों में और समीप के द्वीपों में होता था। इसी पूर्वी वर्णमाला के एक उपवर्ग का प्रयोग थेरा, मेलोस तथा क्रीट द्वीपों में भी होता था। पश्चिमी वर्णमाला के अंतर्गत काल्सिदिया, बोयोतिया, लोक्री, थेस्साली, तथा पेलोपोन्नेसुस की वर्णमालाओं का समावेश होता था। इस वर्गीकरण से प्रश्न उठता है कि, यूनानी लिपि का निर्माण किस स्थान पर हुआ? निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। किंतु अधिकतर विद्वानों का मत है कि आयोनियन वर्णमाला ही प्राचीनतम यूनानी लिपि है। यह भी संभव है कि थेरा द्वीप की लिपि ही सबसे प्राचीन हो।

किंतु इन विभिन्न स्थानीय वर्णमालाओं की यह स्थिति अधिक दिनों तक कायम नहीं रही। शनैः-शनैः ये स्थानीय वर्णमालाएं एक-दूसरे के नजदीक आती गईं। ४०३ ई०पू० में मिलेटस नगर की आयोनियन वर्णमाला को अथेन्स ने स्वीकार कर लिया। इसके बाद अन्य नगर-राज्यों ने भी इस वर्णमाला को अपना लिया। चौथी शताब्दी ई०पू० के मध्य समय तक संपूर्ण यूनान ने आयोनिया की वर्णमाला को अपना लिया था। २४ अक्षरों की यही वर्णमाला पुरातन (क्लासिकल) यूनानी वर्णमाला कही जाती है।

इस पुरातन यूनानी वर्णमाला का हमेशा ही पत्थरों पर स्मारक-लेखों में और शब्दों के आरंभ के बड़े अक्षरों के रूप में इस्तेमाल होता रहा। इसके अलावा, चर्मपट, पेपीरस, मोम तथा अन्य मुलायम वस्तुओं पर लिखे गये अक्षर धीरे-धीरे घसीटे बनते गये।

यूनानी अभिलेख बहुत अधिक संख्या में मिले हैं। अंदाज है कि आज ७५,००० से भी अधिक यूनानी अभिलेख उपलब्ध हैं। इनके विषय भी विविध हैं—कानून, राज्यादेश, नागरिकों की सूचियां, हिसाब-किताब, मंदिरों की आय-व्यय, दान-उल्लेख, मंदिर-लेख, कलश-लेख, सिक्कों पर अंकित अक्षर एवं लेख, इत्यादि। "कार्पस् इन्स्क्रिप्शनम् ग्रेकारम", ४ जिल्दों (बर्लिन, १८२५-७७) में हजारों यूनानी लेख संगृहीत हैं। "इन्स्क्रिप्शनेस् ग्रेकाइ' (बर्लिन) की १४ जिल्दों में भौगोलिक विभाजन के साथ यूनानी अभिलेखों का संग्रह किया गया है। एच्० रोह्ल ने "इमेजिनेस् इन्क्रिप्शनम् ग्रेकारम एन्टिक्विसीमारम", (तीसरा संस्करण, बर्लिन, १९०७) में ४०३ ई०पू० तक के यूनानी लेखों का संग्रह किया है।

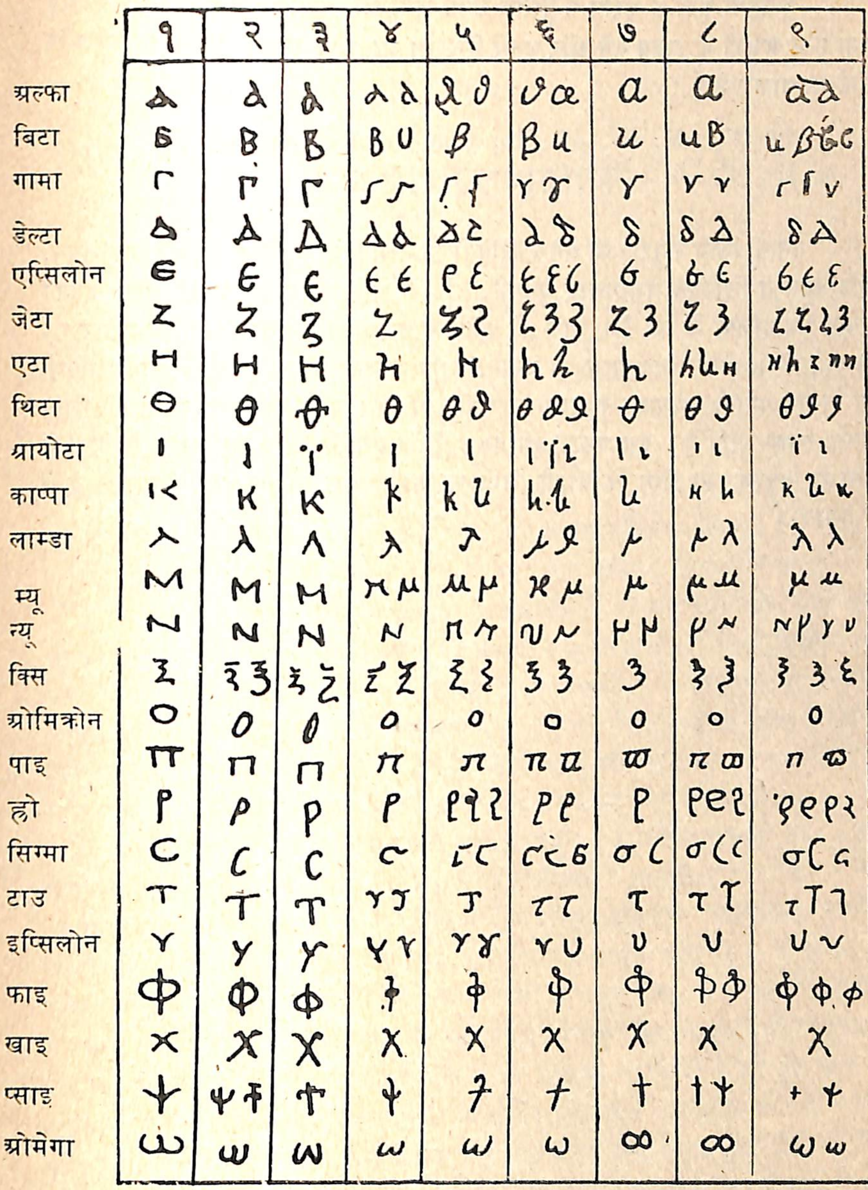

यूनानी वर्णमाला का विकास

१-३. नोकदार यूनानी अक्षर : १. ईसा की चौथी शताब्दी, २. ईसा की सातवीं शताब्दी, ३. नौवीं शताब्दी; ४-६. घसीटी यूनानी लिपि : ४. ईसा की पांचवीं शताब्दी, ५. ईसा की छठी शताब्दी, ६. ई० स० सातवीं शताब्दी; ७-९. यूनानी लघु-अक्षर : ७. नौवीं शताब्दी, ८. दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी, ९. बारहवीं-चौदहवीं शताब्दी।

पन्द्रहवीं सदी से यूरोप में पुस्तकें छपने लगी थीं, इसलिए यूनानी लिपि के बड़े तथा छोटे अक्षरों के टाइप बने और उनमें स्थिरता आ गई। यूनानी लिपि के बड़े और छोटे मुद्रणाक्षर ये हैं :

Αα, Ββ, Γγ, Δδ, Εε, Ζζ, Ηη, Θθϑ, Ιι, Κκ, Λλ, Μμ, Νν, Ξξ, Οο, Ππ, Ρρ, Σσς, Ττ, Υυ, Φφ, Χχ, Ψψ, Ωω.

यूनानी लिपि ने यूरोप की अनेक लिपियों को जन्म दिया है। ईसा पूर्व की लाइसियन, फाइजियन व लिदियन वर्णमालाएं यूनानी लिपि के आधार पर बनाई गई थीं। इनका प्रचार क्षुद्र एशिया में रहा है। मिस्र की कॉप्टिक वर्णमाला यूनानी लिपि के आधार पर ही बनी थी। गोथिक वर्णमाला भी यूनानी लिपि से बनी थी। प्राचीन स्लाव लिपियों का निर्माण यूनानी वर्णमाला के आधार पर ही हुआ था। आधुनिक रूसी भाषा की लिपि मूलतः स्लाव लिपि है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यूनानी लिपि का यूरोप के देशों में वैसा ही विकास हुआ जैसा कि ब्राह्मी लिपि का भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में हुआ है।

१५

एत्रुस्कन लिपि

रोमन लोगों के पहले इटली में एत्रुस्की लोग थे। हिरोदोतस की जानकारी के अनुसार, ये एत्रुस्की लोग ई०पू० प्रथम सहस्राब्दी के आरंभ में क्षुद्र-एशिया से इटली में आकर बसे थे। ८०० ई० पू० के आसपास इटली के उर्वर एत्रुरिया प्रदेश में इन लोगों का हम निवास देखते हैं। ६५० ई०पू० के आसपास इन लोगों ने टस्कानी प्रदेश में अपने कई किलेबंद नगरों की स्थापना की थी, और ५५० ई० पू० तक इन लोगों का इटली के अधिकतर भाग पर अधिकार हो गया था। परंतु ५०० ई० पू० से इन लोगों की शक्ति क्षीण होने लगी और इन्हें उत्तरी इटली पर अपना अधिकार छोड़ना पड़ा। अंत में इन्हें लैटिन या रोमन लोगों के सामने झुकना पड़ा और उन्हीं में मिल जाना पड़ा।

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि एत्रुस्कन लोगों की संस्कृति यूनानियों से प्रभावित थी और रोमनों से कहीं अधिक उच्च कोटि की थी। एत्रुस्कन लोग पश्चिमी एशिया से ही आये थे, इस मत को अब अधिकतर विद्वान स्वीकार करते हैं। परंतु अब भी एत्रुस्कन सभ्यता के बारे में बहुत-सी बातें रहस्यमय हैं। एत्रुस्कन लिपि यूनानी लिपि से निर्मित होने के कारण इसके अक्षरों को तो हम जानते हैं, परंतु अब भी एत्रुस्कन भाषा को नहीं जान पाये हैं, और यही प्राचीन यूरोपीय संस्कृति का सबसे बड़ा 'रहस्य' है।

अब तक लगभग ९००० एत्रुस्कन लेख प्राप्त हुए हैं। इनमें से लगभग ७००० लेख मृत्युलेख हैं, जिनमें केवल मृतकों के और उनके संबंधियों के नाम मात्र मिलते हैं। अधिकतर एत्रुस्कन लेख प्राचीन इटली के एत्रुरिया (आधुनिक टस्कानी : रोमन लोग एत्रुस्कन लोगों को 'एत्रुस्की' या 'टस्की' कहते थे, इसीलिए यह नाम) प्रदेश से ही प्राप्त हुए हैं, परंतु कुछ लेख इटली के अन्य प्रदेशों से और इटली के बाहर मिस्र तथा कार्थेज से भी मिले हैं। एत्रुस्कन भाषा और लिपि का सबसे महत्त्वपूर्ण अभिलेख मिस्र से ही मिला है। पिछली शताब्दी में एक यूरोपीयन पर्यटक को एक मिस्री स्त्री की मम्मी पर लपेटी हुई वस्त्र की पट्टियां मिलीं। इन्हें उसने यूगोस्लाविया के झाग्रेब (अग्राम) संग्रहालय को भेज दिया। १८७२ में जे० क्राल ने पता लगाया कि, इन पट्टियों पर लेख लिखा हुआ है। यह लेख एत्रुस्कन भाषा का है। आरंभ में यह वस्त्र-लेख एक कुंडली के रूप में रहा होगा। बाद में इसकी पट्टियां बनाकर इसे मिस्र की एक संभ्रान्त महिला के शव पर लपेटा गया। इन पट्टियों पर लिखा गया एत्रुस्कन भाषा का यह सबसे लंबा उपलब्ध लेख है, और यह संभवतः ई० पू० पहली शताब्दी का है।

अन्य प्रसिद्ध अभिलेख हैं : सान्ता मारिया दी कापुआ से प्राप्त मिट्टी के फलक पर अंकित लगभग ३०० शब्दों का ई०पू० पांचवीं शताब्दी का लेख (बर्लिन संग्रहालय)। "पेरुगिया किप्पुस", जिसमें लगभग २०० शब्द हैं। माग्लियानो फलक, जिसके दोनों ओर

सर्पिल आकार में अक्षर अंकित हैं, ई०पू० छठी शताब्दी का है और अब फ्लोरेंस के पुरातत्व-संग्रहालय में रखा हुआ है। किंतु एत्रुस्कन लेखों में संभवत: सबसे प्रसिद्ध तथा महत्वपूर्ण है, पियेसेंझा से प्राप्त बछड़े के यकृत के आकार में बने हुए कांस्य-प्रतिरूप पर उत्कीर्ण लेख। इस पर देवी-देवताओं के नाम अंकित हैं और एत्रुस्कन ओझा लोग भविष्य बतलाने के लिए इस यकृत-प्रतिरूप का इस्तेमाल करते थे। इस प्रकार के यकृत-प्रतिरूप हित्ती तथा बबीलोनी लोगों के पुरावशेषों में भी मिले हैं।

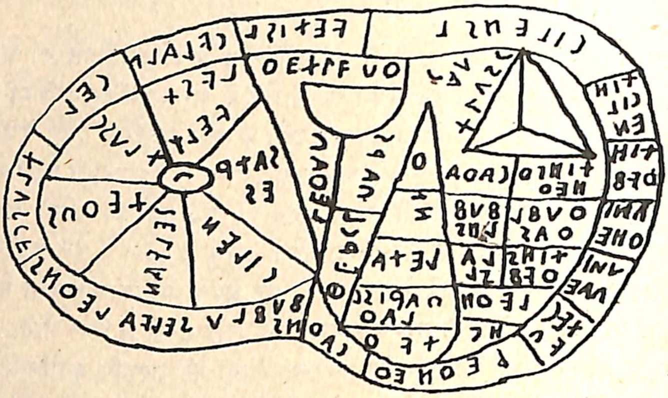

पियेसेंझा से प्राप्त बछड़े के यकृत के कांस्य-प्रतिरूप पर अंकित एत्रुस्कन देवी-देवताओं के नाम।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बहुत-से एत्रुस्कन लेख उपलब्ध हैं। फिर भी, अभी तक पुरालिपिविद तथा भाषाशास्त्री इन एत्रुस्कन लेखों को पढ़ पाने में सफल नहीं हुए हैं। कुछ छोटे-छोटे लैटिन-एत्रुस्कन द्वैभाषिक लेख भी मिले हैं, किन्तु इन संक्षिप्त लेखों से एत्रुस्कन भाषा पर प्रकाश नहीं पड़ता। इन द्वैभाषिक मृत्युलेखों में मृतक का नाम, उसके माता-पिता के नाम, तिथियां और "मरा", "मृतक" जैसे शब्द ही मिलते हैं। अभी तक कोई लंबा लैटिन-एत्रुस्कन द्वैभाषिक लेख नहीं मिला है।

सेमेटिक और आरंभिक यूनानी लिपि की तरह एत्रुस्कन लेख अधिकतर दायीं ओर से बायीं ओर को लिखे हुए मिलते हैं। कुछ एत्रुस्कन लेख बौस्त्रोफेदोन विधि में भी लिखे हुए मिलते हैं। प्राय: सभी विद्वान मानते हैं कि एत्रुस्कन लिपि यूनानी लिपि के आधार पर ही बनायी गई है। लिदियन लिपि की तरह एत्रुस्कन लिपि में भी 'फ' के लिए अंक-संकेत 8 जैसा अक्षर मिलता है; इसलिए बहुत-से विद्वान लिदियन और एत्रुस्कन में साम्य खोजते हैं। किन्तु एत्रुस्कन की तरह लिदियन भाषा भी आज हमारे लिए एक पहेली ही है। जो भी हो, इतना निश्चित है कि, ई० पू० ८वीं शताब्दी में एत्रुस्कन लोगों ने यूनानी वर्णमाला के आधार पर अपनी लिपि का निर्माण कर लिया था।

एत्रुस्कन भाषा के स्वरूप के बारे में अभी तक नहीं के बराबर जानकारी मिली है। द्वैभाषिक लेखों के आधार पर 'अविल' (वर्ष), 'तिन' (दिन), 'अल्पन' (पूजा), 'पुइया' (पत्नी), 'अति' (मां), 'लाउट्न' (परिवार), 'रिल्' (आयु) जैसे शब्दों के बारे में ही कुछ जानकारी मिली है। एक पांसे पर १ से ६ तक की संख्याओं के नाम--'मच', 'झल', 'थु', 'हुथ', 'सि' और 'स'--मिले हैं; परन्तु इनमें कौन-सा नाम ठीक किस अंक के

लिए आया है, यह जान पाना कठिन है। भाषाशास्त्रियों का अनुमान है कि एत्रुस्कन भाषा सम्भवतः काकेशियन भाषा-परिवार से संबंधित थी। किन्तु निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कोई लंबा द्वैभाषिक लेख ही इस एत्रुस्कन भाषा के उद्घाटन में अब सहायक हो सकता है; और पुराविद ऐसे लेख की खोज में प्रयत्नशील हैं।

आज तो एत्रुस्कन संस्कृति, इसकी भाषा और लिपि, सभी कुछ अतीत के गर्भ में विलीन हो गये हैं। परन्तु हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि लैटिन या रोमन लिपि, जिसने यूरोप के बौद्धिक उत्थान में महत्तम सहयोग दिया है, इसी एत्रुस्कन लिपि के आधार पर बनाई गई थी।

एत्रुस्कन भाषा का उद्घाटन

एत्रुस्कन लिपि एवं भाषा के बारे में जब मैंने उपर्युक्त विवरण लिखा था, तब एत्रुस्कन भाषा का उद्घाटन नहीं हुआ था। फिर पिछले साल, मई १९७१ में, दिल्ली के एक अंग्रेजी दैनिक पत्र में छोटा-सा समाचार पढ़ने को मिला कि एत्रुस्कन भाषा का उद्घाटन हो गया है। उस समाचार के अनुसार, बुलगारिया के एक वैज्ञानिक ब्लादीमीर जॉर्जीएव ने यूरोप की प्राचीन गोथिक भाषा की सहायता से एत्रुस्कन लेखों को पढ़ने में सफलता प्राप्त की थी।

यकीन नहीं होता था कि एत्रुस्कन लेखों में सचमुच ही गोथिक भाषा खोजी गई है। मुख्य कारण यह है कि एत्रुस्कन लेख ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी के पूर्वार्ध के हैं, जब कि गोथिक साहित्य ईसा के बाद का है। बिशप उल्फिला ने ३५० ई० के आसपास बाइबल का गोथिक में अनुवाद किया था। गोथिक यूरोप के गोथ लोगों की भाषा थी। ईसा की सातवीं सदी तक इस भाषा का अस्तित्व रहा है। उसके बाद यह भाषा मर गयी। गोथिक भाषा भारत-यूरोपीय परिवार के अन्तर्गत जर्मनिक वर्ग की थी।

उपर्युक्त छोटे-से समाचार के आधार पर मैंने अपनी जानकारी में कोई रद्दोबदल नहीं की। पुस्तक प्रेस में चली गयी। एत्रुस्कन लिपि के प्रकरण तक गैलीप्रूफ आये। देखकर लौटा भी दिये। लेकिन जिस दिन मैं प्रूफ दे आया, उसी दिन बुलगारिया से प्रकाशित होने वाली "बुल्गारिया" नामक कुछ पुरानी पत्रिका (नंबर ९, नवम्बर १९७१) देखने को मिली। संयोगवश उसमें अकादमीशियन ब्लादीमीर जॉर्जीएव द्वारा एत्रुस्कन भाषा के किये गये उद्घाटन के बारे में कुछ ठोस जानकारी मिली। उसी के आधार पर यह नई जानकारी दे रहा हूं।

ऊपर जिस छोटे समाचार की मैंने चर्चा की है, वह सचमुच ही गलत था। एत्रुस्कन लेखों में गोथिक भाषा की नहीं, बल्कि प्राचीन हित्ती भाषा से मिलती-जुलती भाषा की खोज की गई है। यह गलतफहमी हुई समाचार एजेंसियों के कारण। यूरोप के लिए इन एत्रुस्कन लेखों का विशेष महत्व है। अतः मई १९७१ में जब एत्रुस्कन भाषा के उद्घाटन की चर्चा फैली तो यूरोप में तहलका मच गया। यूरोप की कई समाचार एजेंसियों ने मनमाने ढंग से इन समाचारों का वितरण किया। ब्लादीमीर जॉर्जीएव काफी परेशान हुए।

अकादमीशियन जॉर्जीएव पिछले कई वर्षों से एत्रुस्कन लेखों के अध्ययन में जुटे हुए हैं। ऊपर हम बता चुके हैं कि एत्रुस्कन लेखों की लिपि ज्ञात थी, क्योंकि यह लिपि यूनानी लिपि के आधार पर बनायी गयी थी। परन्तु पिछले करीब दो सौ साल से,

अनेकानेक प्रयत्नों के बावजूद, एत्रुस्कन भाषा अज्ञेय थी। लिपि ज्ञात हो, लेकिन भाषा का पता न चले, यह सचमुच ही एक अद्‌भुत बात थी।

कुछ साल पहले एत्रुस्कन के कुछ अधिक प्राचीन लेख मिले। अकादमीशियन जॉर्जीएव ने इन लेखों में निहित भाषा का व्याकरण की दृष्टि से गहन अध्ययन किया। फिर उन्होंने इसमें विभक्ति-प्रत्ययों की खोज की। इस प्रकार के प्रयास से भाषा का स्वरूप ज्ञात हो जाता है। अन्त में पता चला कि एत्रुस्कन भाषा प्राचीन हित्ती भाषा से काफी मिलती-जुलती है। जॉर्जीएव ने एक हजार से अधिक एत्रुस्कन लेखों को पढ़ा है और १८०० से अधिक एत्रुस्कन शब्दों की व्याख्या की है।

ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के मध्यकाल से ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी के मध्यकाल तक क्षुद्र-एशिया में हित्तियों का शासन रहा है। हित्ती लिपियों का उद्‌घाटन हो चुका है और उनकी भाषा भी ज्ञात हो चुकी है (देखिए, "हित्ती लिपि" प्रकरण)। हित्ती भाषा के साथ एत्रुस्कन भाषा का साम्य सिद्ध हो जाने से अब इस मान्यता को पुष्टि मिली है कि एत्रुस्कन लोग क्षुद्र-एशिया से ही इटली में आकर बसे थे। यह भी स्पष्ट हो गया है कि ट्रोजन-युद्ध में एत्रुस्कन लोगों के कबीलों ने भी भाग लिया था।

इस प्रकार, पुरालिपियों में से एक और लिपि और भाषा का उदघाटन हुआ है। एत्रुस्कन भाषा का, न केवल यूरोप के लिए, बल्कि हमारे लिए भी महत्व है। अब यह सिद्ध हो चुका है कि हित्ती भाषा की तरह एत्रुस्कन भी भारत-यूरोपीय परिवार की भाषा है। इसलिए तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से एत्रुस्कन का विशेष महत्व है।

१९

लैटिन लिपि

लैटिन आरंभ में बहुत-सी इतालवी बोलियों में से केवल एक थी। शुरू में यह बोली केवल लैटिन प्रदेश तक ही सीमित थी। उत्तर इटली में उम्ब्री और दक्षिण इटली में ओस्की बोलियां बोली जाती थीं। ये सभी बोलियां भारोपीय भाषा-परिवार के अंतर्गत इतालवी वर्ग की थीं। एत्रुस्कन भाषा से इनका कोई संबंध नहीं था। परन्तु आरंभ में इटली में एत्रुस्कन तथा यूनानी भाषाएं ही सुसंस्कृत भाषाएं समझी जाती थीं। लैटिन भाषा का प्रभाव तो रोमन गणतंत्र की स्थापना के बाद बढ़ने लग गया था। किन्तु रोमन शासकों ने दूसरी बोलियों को दबाने की कभी कोशिश नहीं की। ई० पू० पहली शताब्दी में पोम्पेई नगर में ओस्की भाषा बोली जाती थी और यूनानी भाषा तो दक्षिण इटली के तटवर्ती प्रदेश में और भी काफी वर्षों तक कायम रही। यूनानी भाषा को तो रोमन लोग संस्कृत ही मानते थे। किन्तु रोमन राज्य के विस्तार के साथ-साथ लैटिन भाषा का भी विकास और प्रसार होता गया। ई० पू० सातवीं शताब्दी से प्यूनिक युद्धों (ई० पू० तीसरी शताब्दी) तक लैटिन भाषा अभी किसानों और सिपाहियों की ही भाषा थी; इसने साहित्यिक भाषा का दर्जा प्राप्त नहीं किया था।

लग० २०० ई०पू० से लैटिन भाषा को, यूनानी भाषा के प्रभाव में, साहित्यिक भाषा बनाने के प्रयत्न स्पष्ट दिखाई देते हैं। सुसंस्कृत रोमनों ने यूनानी लेखकों का अनुकरण शुरू कर दिया; उन्होंने लैटिन शब्दों के उच्चारण ही नहीं बदले, बल्कि लैटिन शब्दों के स्थान पर वे यूनानी शब्दों का भी इस्तेमाल करने लगे। सिसरो-अगस्तन काल (लगभग ८० ई०पू०-१४ ई०) में तो लैटिन भाषा पर यूनानी का बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ा। लैटिन ने यूनानी भाषा के छंदों को भी अपना लिया। साथ ही, रोमन साम्राज्य के साथ लैटिन भाषा इटली के बाहर भी फैलती गई।

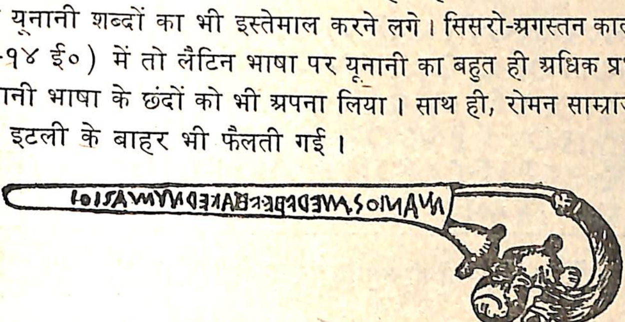

सोने के ब्रूच पर अंकित लैटिन का प्राचीनतम उपलब्ध लेख (सातवीं या छठी शताब्दी ई० पू०)। दायीं ओर से बायीं ओर यह लेख स्पष्ट रूप से पढ़ा जाता है:

MANIOS MED FHEFHAKED NUMASIOI

लैटिन : Manius me fecit Numasio

अर्थात्, मानिओ ने मुझे नुमासिओ के लिए बनाया।

लैटिन का प्राचीनतम लेख एक सोने के ब्रूच पर मिलता है। कुछ विद्वान इस लेख को पांचवीं-छठी शताब्दी ई० पू० का मानते हैं; किंतु डिरिंजेर इसे ई० पू० सातवीं शताब्दी में रखना चाहते हैं। यह लेख, आरंभिक यूनानी तथा एत्रुस्कन लेखों की तरह, दायीं ओर से बायीं ओर को लिखा गया है। केवल चार शब्दों के इस संक्षिप्त लेख में **FH** अक्षरों द्वारा 'फ' ध्वनि को व्यक्त किया गया है। आरंभ में यूनानी भाषा में यह ध्वनि नहीं थी; एत्रुस्कन में इसके लिए दो अक्षर थे। इस लेख में 'द' तथा 'ओ' के लिए भी अक्षर हैं। एत्रुस्कन में भी आरंभ में 'द' तथा 'ओ' ध्वनियों के लिए अक्षर थे। इसलिए डिरिंजेर का मत है कि बहुत आरंभ में ही, जब कि एत्रुस्कन में 'द' तथा 'ओ' के लिए अक्षर थे, एत्रुस्कन लिपि के आधार पर लैटिन लिपि बनाई गई थी।

लैटिन के कुछ अन्य आरंभिक प्रसिद्ध लेख हैं: रोमन फोरम से ई० पू० छठी शताब्दी का एक खंडित लेख मिला है। यह बौस्त्रोफेदोन विधि में लिखा गया है, और इसके केवल कुछ शब्द ही पढ़े जा सकते हैं। एक अन्य लेख रोम से १८८० ई० में प्राप्त तीन संबद्ध पात्रों पर अंकित है। इसमें दुएना नाम के व्यक्ति का उल्लेख होने के कारण यह "दुएना लेख" के नाम से प्रसिद्ध है। इस लेख को कुछ विद्वान ई० पू० छठी शताब्दी में रखना चाहते हैं, तो कुछ इसे ई० पू० चौथी शताब्दी के पहले का नहीं मानते। यह लेख भी दायीं ओर से बायीं ओर को ही लिखा गया है। यही तीन लेख लैटिन के प्राचीनतम लेख माने जाते हैं। पांचवीं और चौथी शताब्दी ई० पू० के भी कुछ लेख मिले हैं। तीसरी शताब्दी ई० पू० के लेखों में एक प्रसिद्ध लेख है, कौन्सुल कोर्नेलियू स्किपिओ की समाधि पर अंकित लेख (२५९ ई० पू०)।

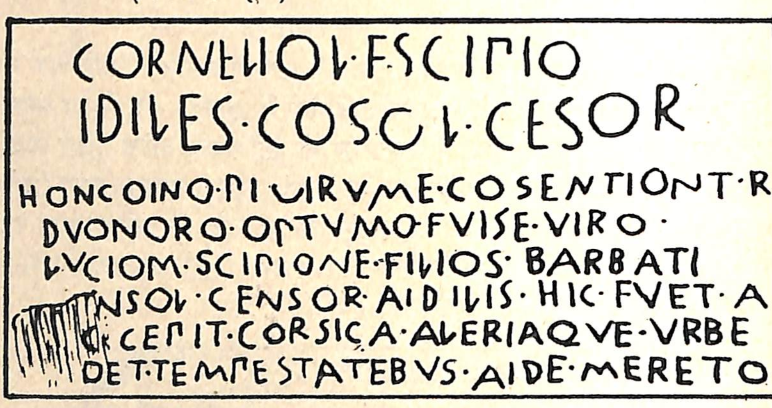

कौन्सुल कोर्नेलियू स्किपिओ की समाधि पर उत्कीर्ण लैटिन लेख (२५९ ई० पू०)

ई०पू० पहली शताब्दी से तो बहुत सारे लैटिन लेख मिलने लग जाते हैं। ई०पू० पहली शताब्दी का सबसे प्रसिद्ध लेख है "मोन्यूमेन्टम् अंकारानम्"। अगस्टस (ई०पू० ६३-१४ ई०) की समाधि पर उसकी आत्मकथा अंकित की गई थी। इस लेख की प्रतिलिपियां रोमन साम्राज्य के विभिन्न स्थानों में भी स्थापित की गई थीं। इस आत्म-कथा-लेख की प्रमुख प्रति अंकारा (टर्की) से मिली है, इसीलिए इस लेख को यह "मोन्यूमेन्टम् अंकारानम्" (अंकारा-स्मारक) का नाम दिया गया है।

इसके बाद लैटिन के इतने अधिक लेख मिलते हैं कि सबकी गिनती भी संभव नहीं

है। "कार्पस् इंन्स्क्रिप्शनम् लैटिनारम्" (बर्लिन, १८६२ से) की वृहदाकार चालीस से अधिक जिल्दों में १,५०,००० से भी अधिक लैटिन लेख मुद्रित रूप में उपलब्ध हैं। ये जिल्दें भौगोलिक क्षेत्रों के अनुसार वर्गीकृत हैं। उत्तरी अफ्रीका से प्राप्त लैटिन लेखों की ही संख्या ३०,००० से अधिक है।

सामान्यत: यही माना जाता है कि, इटली में बसे हुए यूनानी उपनिवेशिकों की यूनानी लिपि के आधार पर ही लैटिन लिपि का निर्माण हुआ है। कुछ विद्वानों का मत है कि कम्पानिया के कूमी शहर (नेपल्स के पास) में यूनानी लिपि की जिस शैली का प्रयोग

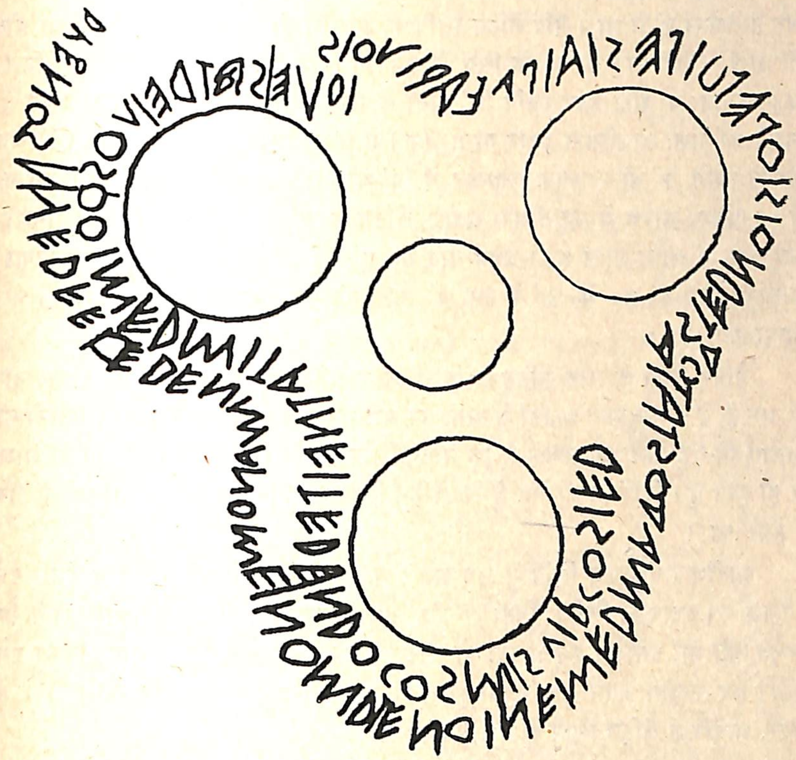

रोम से प्राप्त तीन सम्बद्ध कलशों पर अंकित प्रसिद्ध "दुएना लेख" (सम्भवत: ५वीं शताब्दी ई० पू०)। इसकी पहली पंक्ति ऊपर के बायीं ओर के वृत्त के ऊपर से आरंभ होकर बायीं ओर आगे बढ़ते हुए नीचे के वृत्त के दायीं ओर समाप्त होती है। दूसरी पंक्ति ऊपर के दायीं ओर के वृत्त के नीचे से आरंभ होकर ऊपर बढ़ती हुई बायीं ओर समाप्त होती है। तीसरी पंक्ति ऊपर बायीं ओर के कोने से आरंभ होती है और नीचे की ओर बढ़कर दायीं ओर समाप्त होती है।

लिप्यन्तर :

I. JOVEIS AT DEIVOS QOI MED MITAT NEI TEDI ENDO COSMISV IRCO SIED.
II. ASTED NOIS IO PETO ITES IAI PACARI VOIS.
III. DVENOS MED FECED EN MANON EINOM DVENOI NE MED MALO STATOD.

होता था, उसी से लैटिन लिपि बनाई गई थी। परन्तु आधुनिक गवेषणाओं से यह सिद्ध होता है कि लैटिन लिपि का निर्माण सीधे यूनानी लिपि से नहीं, बल्कि एत्रुस्कन लिपि से हुआ है।

इस सिद्धांत के समर्थन में डिरिंजेर प्रमाण प्रस्तुत करते हैं: जैसा कि पहले बताया जा चुका है, स्वर्ण-ब्रूच पर लैटिन का जो प्राचीनतम लेख उपलब्ध है, उसमें 'फ' ध्वनि को F (यूनानी 'दिगम्मा') और H से व्यक्त किया गया है। बाद में "दुएना लेख" में इस 'फ' ध्वनि के लिए केवल F (दिगम्मा) का ही प्रयोग देखने को मिलता है; H छोड़ दिया गया है। यह भी एत्रुस्कन लिपि का ही प्रभाव है। F (दिगम्मा) यूनानी लिपि में 'व' के लिए इस्तेमाल होता था। यदि लैटिन लिपि का निर्माण सीधे यूनानी लिपि से हुआ होता तो इस F (दिगम्मा) का 'व' के लिए ही उपयोग किया जाता। विपरीत, हम लैटिन में व्यंजन ध्वनि 'व' और स्वर ध्वनि 'उ' दोनों के लिए यूनानी V का प्रयोग देखते हैं। यूनानी वर्णमाला का तीसरा अक्षर गामा (ग) एत्रुस्कन वर्णमाला में Ↄ (या C) बना, जिसकी ध्वनि 'क' थी। वस्तुतः एत्रुस्कन में 'ग' और 'क' ध्वनियों में भेद नहीं किया गया था। इसलिए, आरंभ में यह तीसरा अक्षर लैटिन में 'ग' तथा 'क' दोनों ही ध्वनियों के लिए काम में लाया जाता था। बहुत बाद में, एप्पियु क्लौदियु सेन्सोर की सुधारणा के अनुसार, ३१२ ई० पू० में, 'क' से इस 'ग' ध्वनि को स्पष्ट करने के लिए C से G अक्षर बनाया गया था।

लैटिन लिपि के और लैटिन से विकसित आधुनिक यूरोपीय लिपियों के अक्षरों के जो नाम हैं, वे भी एत्रुस्कन अक्षरों के नामों पर आधारित हैं, न कि सीधे यूनानी अक्षरों पर। इसलिए भी यह माना जा सकता है कि लैटिन लिपि का निर्माण एत्रुस्कन लिपि के आधार पर ही हुआ है। डिरिंजेर का मत है कि लैटिन लिपि का निर्माण ई० पू० सातवीं शताब्दी में हुआ था।

आरंभिक एत्रुस्कन लिपि में २६ अक्षर थे। रोमनों ने अपनी लिपि के लिए इनमें से केवल २१ अक्षर ही लिये। 'थिटा', 'फाइ' तथा 'खाइ' की लैटिन की ध्वनियों के लिए जरूरत नहीं थी, इसलिए इन अक्षरों को लैटिन लिपि में तो नहीं लिया गया, किन्तु इनके आधार पर उन्होंने अपने कुछ संख्या-संकेत बनाये (देखिए, मेरी "अंक-कथा")। इस प्रकार, आरंभिक लैटिन लिपि के २१ अक्षर थे:

1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10, 11, 12, 13, 14, 15, 16, 17,
A, B, C, D, E, F, I, H, I, K, L, M, N, O, P, Q, R,
18, 19, 20, 21.
S, T, V, X.

इनमें तीसरे अक्षर C की ध्वनि 'क' थी; सातवां अक्षर यूनानी 'जेटा' था, और १७वां अक्षर P असल में R का आरंभिक रूप था। यूनानी अक्षरों में और लैटिन अक्षरों में अधिक अंतर नहीं है: यूनानी "डेल्टा" से D बना था, "सिग्मा" से S, और R तो P को एक दण्ड और जोड़ने से ही बना है। बाद में यूनानी "जेटा" त्याग दिया गया था, क्योंकि लैटिन में इसकी जरूरत नहीं थी।

हम बता चुके हैं कि ई०पू० पहली शताब्दी में लैटिन भाषा पर यूनानी भाषा का बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा। सिसरो (१०६–४३ ई०पू०) जैसे प्रख्यात रोमन लेखक एवं वक्ता ने अपने पत्रों में तथा भाषणों में यूनानी शब्दों का बहुतायत में प्रयोग किया था।

इसी समय रोमन या लैटिन लिपि में यूनानी शब्दों के साथ दो नये तत्कालीन यूनानी अक्षरों Y (य) और Z (ज़)––का आगमन हुआ। ये अक्षर लैटिन लिपि के अंत में रखे गये, और इस प्रकार लैटिन लिपि २३ अक्षरों की हो गई। इनके अलावा, कुछ विशिष्ट लैटिन ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए इन्हीं अक्षरों में से कुछ को उलट-पलट कर नये ध्वनिमान देने के प्रयास भी बीच-बीच में हुए हैं; परन्तु अन्त में यह २३ बड़े अक्षरों वाली वर्णमाला चिरस्थायी बनी रही। रोमन काल के स्मारक-लेखों में सदैव बड़े कैपिटल अक्षरों का ही प्रयोग किया गया है। और, मध्ययुग में शीर्षकों के लिए और आज मुद्रण में भी इन्हीं बड़े (कैपिटल) अक्षरों का प्रयोग होता है। मध्ययुग में तीन अक्षर––U,W, और J ––और जोड़े गये। वस्तुतः ये नये अक्षर नहीं थे; पहले से मौजूद अक्षरों के आधार पर ही ये बनाये गये थे। पहले के V से U (स्वर ध्वनि 'उ' के लिए) तथा W (व्यंजन 'व' के लिए) बनाये गये थे। I से ही व्यंजन ध्वनि के लिए J बनाया गया था।

रोमन काल में पत्थरों पर लिख गये सभी लेख बड़े रोमन अक्षरों में हैं। आज भी लगभग इसी प्रकार के बड़े अक्षरों का मुद्रण में उपयोग होता है। रोमन काल के स्मारक-लेख पत्थरों पर छेनी से खोदे जाते थे किन्तु सभी काम पत्थर से संभव नहीं हैं। यूनानियों की तरह रोमन लोगों ने भी पेपीरस, चर्मपट तथा मोम का मुलम्मा चढ़ फलकों का लिखने के लिए इस्तेमाल किया। पेपीरस और चर्मपट पर कलम से लिखा जाता था। कलम से लिखे गये अक्षर, सीधी रेखाओं वाले न रहकर, शनैः-शनैः अधिकाधिक घसीटे बनते जाते हैं। यही कारण है कि रोमन लिपि के बड़े अक्षरों में और छोटे अक्षरों में काफी अंतर पड़ गया है। अन्यथा, ये छोटे अक्षर बड़े अक्षरों से ही निर्मित हैं।

जहां तक लिखने के लिए कागज के इस्तेमाल का प्रश्न है, ११वीं शताब्दी तक यूरोप में वर्तमान पद्धति के कागज का अस्तित्व नहीं था। वैसे, ईसा की पहली शताब्दी में चीन में कागज बन चुका था। १०५ ई० में तो चीन में कागज के अस्तित्व के स्पष्ट प्रमाण ही मिलते हैं, (देखिए, "चीनी लिपि" प्रकरण)। सातवीं शताब्दी में कोरिया तथा जापान वाले चीन से कागज बनाने की विधि सीख चुके थे। ८वीं शताब्दी के आरंभ में जब अरबों ने समरकंद पर आक्रमण किया तो, वे चीन के अधिक संपर्क में आये और उन्होंने रुई तथा चीथड़ों से कागज बनाना सीखा। चीथड़ों तथा फ्लैक्स से बने हुए कागज पर लिखे गये ९वीं शताब्दी के हस्तलेख आज उपलब्ध हैं। अरबों (मूरों) का शासन जब स्पेन में स्थापित हुआ, तो पहली बार १२वीं शताब्दी में स्पेन और इटली में कागज बनने लगा। यूरोप में कागज पर लिखा हुआ जो प्राचीनतम हस्तलेख मिलता है, वह सिसिली के नार्मन राजा रोजर की पहली पत्नी काउन्टेस अदिलैदे की वसीहत है। यह लेख अरबी तथा यूनानी दोनों ही भाषाओं में लिखा गया है। यह हस्तलेख आज पालेर्मो (सिसिली) के राष्ट्रीय अभिलेखागार में रखा हुआ है। इसके बाद कागज बनाने की कला का प्रचार फ्रांस (१२४८) में, जर्मनी (१४वीं शताब्दी के शुरू) में, स्वीट्जरलैंड (१३८०) में, इंग्लैंड (१४५०) में, उसी समय नीदरलैंड में और कोलंबस के बाद अमरीका में भी हुआ। "मय सभ्यता की लिपि" पर विचार करते समय हम बतला ही चुके हैं कि कोलम्बस के आगमन के पहले मध्य अमरीका के मूल निवासी वृक्षों की छाल से कागज बनाना जानते थे। यूरोप के आरंभिक कागज के बारे में मजेदार बात यह है कि, शुरू-शुरू में यूरोप में कागज कपड़ों के चीथड़ों से ही बनाया जाता था।

लैटिन लिपि के बड़े अक्षर तो प्रायः एक-से ही बने रहे, किन्तु हस्तलेखों में प्रयुक्त लिपि में देश और काल के अनुसार बदल होता गया। यहां हम इस घसीटी रोमन लिपि के विविध प्रकारों पर विचार नहीं करेंगे। मुद्रण के आविष्कार के बाद इन घसीटे अक्षरों को भी अब स्थायी रूप मिल गया है। हम बता चुके हैं कि लिपि का प्रचार प्रायः धर्म के साथ-साथ होता रहा है। लैटिन भाषा और इसकी लिपि का पश्चिम यूरोप में इसी प्रकार प्रचार हुआ। रोमन साम्राज्य तथा रोम के ईसाई (कैथोलिक) धर्म के साथ-साथ लैटिन भाषा और लिपि भी फैलती गई। पूर्वी यूरोप की स्लाव भाषाओं के लिए यूनानी लिपि के आधार किरिल्ली तथा ग्लगोलीती लिपियां बनी थीं। पश्चिम यूरोप में स्थानीय भाषाओं का स्थान लैटिन भाषा ने लिया और इसी से यूरोप की रोमांस भाषाएं अस्तित्व में आईं, जिनमें इतालवी, स्पेनी, पोर्तुगीज, फ्रेंच तथा रोमानीयन भाषाएं प्रमुख हैं। इन सभी भाषाओं के लिए लैटिन लिपि को अपनाया गया।

लिपि केवल धर्म का ही नहीं, उपनिवेशवाद और व्यापार का भी अनुकरण करती है। अंग्रेजों और डचों के साथ रोमन लिपि का प्रचार एशिया के देशों में खूब हुआ। अफ्रीका की बहुत-सी बोलियों की अपनी कोई लिपि नहीं थी, इसलिए उन लोगों ने भी रोमन लिपि को अपनाया है। हां, अन्य भाषाओं के लिए इस रोमन लिपि को अपनाते समय स्थानीय ध्वनियों के अनुरूप इसके कुछ अक्षरों को नये ध्वनिमान देने पड़े हैं।

१७

रूनी और ओघम लिपियां

रोम के ईसाई धर्म के साथ-साथ ही यूरोप के देशों में लैटिन भाषा और लिपि का प्रचार तथा प्रसार हुआ है। लैटिन या रोमन लिपि का प्रचार होने के पहले उत्तर-पश्चिमी यूरोप के देशों में दो अद्भुत लिपियों---रून और ओघम---का अस्तित्व देखने को मिलता है। इन लिपियों की उत्पत्ति के बारे में विद्वान अभी एकमत नहीं हैं। ईसा की आरंभिक शताब्दियों से इन लिपियों में अभिलेख मिलने लगे जाते हैं। ये अभिलेख इन देशों की स्थानीय केल्टिक और जर्मनिक भाषाओं में हैं, इसलिए भाषाशास्त्र की दृष्टि से ये विशेष महत्व के हैं।

रूनी लिपि

प्राचीन ट्यूटोनिक भाषा में "रून" शब्द का अर्थ है, 'रहस्य' या 'गुप्त'। रूनी लेख धातु, प्रस्तर या काष्ठ पर मिलते हैं। प्राचीन काल में जादू-टोने से इस लिपि का संबंध रहा होगा, इसीलिए संभवतः इसके अक्षरों को यह 'रून' (रहस्य) नाम दिया गया है। रूनी लिपि में कुछ प्राचीन पंचांग भी मिलते हैं।

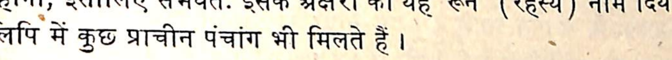

स्वर्ण-श्रृंग पर रूनी लेख (गलेहुस, श्लेसविग से)। बायीं ओर से दायीं ओर को यह पढ़ा जाता है : EK HLEWAGASTIR HOLTINGAR HORNA TAWIDO

अर्थात्, मैं लुइगस्त होल्तिङ ने बनया (यह) सिंग।

पश्चिमोत्तर यूरोप के विभिन्न देशों से रूनी लिपि के लगभग चार हजार लेख मिले हैं। इनमें से लगभग २५०० लेख स्वीडन से मिले हैं। स्वीडन से मिले लेखों में अधिकांश ११वीं-१२वीं शताब्दी के हैं; कुछ लेख इनके पहले के भी हैं। रूनी लिपि का सबसे लंबा लेख---रोएक प्रस्तर-लेख (९०० ई०)---स्वीडन से ही प्राप्त हुआ है। परन्तु रूनी लिपि के प्राचीनतम लेख डेनमार्क से मिले हैं। डेनमार्क के फीन द्वीप से मिला हुआ एक लेख, जिसे तीसरी शताब्दी ई० के मध्यकाल का माना जाता है, संभवतः रूनी लिपि का सबसे पुराना लेख है। लगभग इसी समय के दो अन्य प्रसिद्ध लेख हैं : श्लेसविग (जर्मनी) के तोर्सब्जर्ग स्थान से प्राप्त एक तलवार की मूठ पर अंकित लेख (लगभग ३०० ई०), और उत्तरी श्लेसविग के गलेहुस स्थान से प्राप्त स्वर्ण-श्रृंग लेख। यह लेख १७३४ में मिला था, परन्तु बाद में सोने के लालच में इसे गला दिया गया। नार्वे से भी कुछ रूनी लेख मिले हैं। इनमें अधिकतर लेख चौथी से आठवीं शताब्दी के बीच के हैं।

ब्रिटिश द्वीपों से भी रूनी लिपि के लगभग पचास लेख मिले हैं। ये लेख अधिकतर प्रस्तरों पर अंकित हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध लेख "फ्रांक्स मंजूषा" है। पिछली शताब्दी में फ्रांक्स नाम के एक व्यक्ति ने इसे खरीदकर ब्रिटिश संग्रहालय को भेंट किया था। ह्वेल मछली की हड्डी से बनी हुई मंजूषा पर कोरा हुआ यह सुंदर रूनी लेख आठवीं शताब्दी का है। आयरलैंड और मैन द्वीप (आइल ऑफ मैन) से भी कुछ रूनी लेख मिले हैं। आइसलैंड से भी कुछ रूनी लेख मिले हैं, परंतु ये १२०० ई० के बाद के हैं। इनके अलावा, फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, रूमानिया और काले सागर के रूसी प्रदेश से भी नमूने के लिए कुछ रूनी लेख मिले हैं।

इन सब रूनी लेखों से पता चलता है कि प्राचीनतम लेख तीसरी-पांचवीं शताब्दियों के हैं। इसलिए हम सहज ही मान सकते हैं, कि रून अक्षर ईसा की आरंभिक शताब्दियों में ही अस्तित्व में आये थे। इनका अस्तित्व ईसा के पहले नहीं हो सकता। कुछ विद्वान इन्हें लैटिन लिपि के आधार पर बना मानते हैं, तो कुछ का मत है कि इनका निर्माण एत्रुस्कन लिपि के आधार पर हुआ था। रूनी लिपि के अक्षरों में क्षैतिज रेखाओं का अभाव है, इसलिए अनुमान लगाया गया है कि आरंभ में रूनी अक्षर काष्ठ की गोलकार वस्तुओं पर ही चाकू या छुरी से उकेरे जाते होंगे। जो भी हो, रूनी लिपि की उत्पत्ति का सवाल अभी भी सुलझा नहीं ।

रूनी लिपि को तीन प्रमुख वर्गों में विभाजित किया गया है।

१. प्राचीन ट्यूटोनी : प्राचीन ट्यूटोनी या प्राचीन नॉर्स उत्तरी जर्मनिक और स्कन्देनेवी लोगों की भाषा थी। यूरोप की यह प्राचीन भाषा भारोपीय परिवार की केन्तुम् शाखा के अंतर्गत आती है। इस भाषा का प्राचीन स्वरूप हमें रूनी लेखों में देखने को मिलता है। ट्यूटोनिक रूनी लिपि में २४ अक्षर हैं। इन्हें "फूथार्क" भी कहा जाता है।

२. आंग्ल रूनी : पश्चिम जर्मनी के कुछ कबीलों के साथ जर्मनिक भाषा पांचवीं-छठी शताब्दी में ब्रिटिश द्वीपों में पहुंची थी। इन लोगों ने अपनी भाषा के लिए लगभग चार शताब्दियों तक रूनी लिपि का इस्तेमाल किया था। बाद में इसका स्थान रोमन लिपि ने ले लिया था। इस रूनी लिपि में आरंभ में २८ अक्षर थे; ९वीं शताब्दी में यह संख्या ३३ अक्षरों पर पहुंची। इस लिपि में कुछ हस्तलिपियां भी लिखी हुई मिलती हैं।

३. स्कन्देनेवी या नॉर्दिक रूनी : इस लिपि में केवल १६ अक्षर ही थे। स्पष्ट है कि इतने कम अक्षर स्कन्देनेवी भाषाओं की ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त नहीं थे, इसलिए एक ही अक्षर एक से अधिक ध्वनियों के लिए प्रयोग में लाया जाता था।

यूरोप के देशों में ईसाई धर्म के प्रचार के साथ-साथ लैटिन लिपि का प्रयोग बढ़ता गया और रूनी लिपि का प्रयोग घटता गया। फिर भी, १६वीं शताब्दी तक यूरोप में यत्र-तत्र रूनी लिपि का इस्तेमाल होता ही रहा।

ओघम लिपि

परंपराओं से ज्ञात होता है कि 'ओघम' इस लिपि के आविष्कर्त्ता का नाम था। ओघम लिपि के लेख ब्रिटिश द्वीपों में ही मिले हैं। कुल उपलब्ध ३७५ लेखों में से ३१६ आयरलैंड में मिले हैं। चालीस लेख इंग्लैंड के वेल्श प्रदेश में भी मिले हैं। ये वेल्श-लेख सामान्यतः द्वैभाषिक (लैटिन और केल्टिक) हैं और ओघम तथा रोमन लिपि में लिखे गये हैं। केवल एक लेख को छोड़कर सभी आयरिश लेख केवल ओघम में ही हैं। मैन द्वीप से लगभग दस लेख मिले हैं, और स्काटलैंड से भी कुछ लेख मिले हैं।

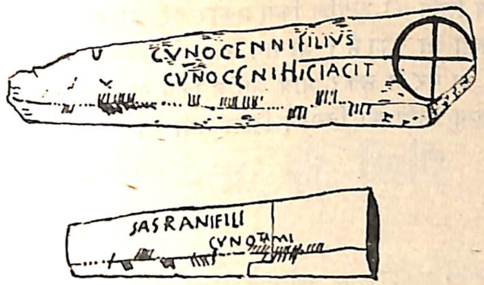

ओघम और लैटिन के द्वैभाषिक लेख

ओघम अक्षरों का इस्तेमाल संदेशों और पत्रों के लिए होता था। समाधि पर खड़े किये गये प्रस्तरों पर भी ओघम अक्षरों का इस्तेमाल हुआ है। ढालों और लकड़ी की अन्य वस्तुओं पर ओघम लेख मिलते हैं।

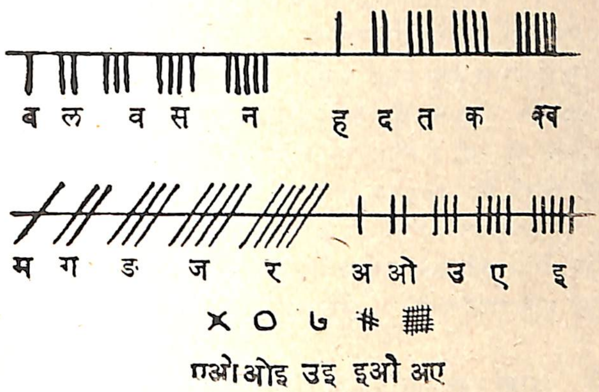

ओघम लिपि के अक्षर

ओघम लिपि बहुत सरल है। इसमें मूलत: २० ही अक्षर-रेखाएं थीं। एक खड़ी या क्षैतिज रेखा पर ये अक्षर-रेखाएं खींची जाती थीं। इनकी संख्या १ से ५ तक होती थी। ओघम अक्षर चार वर्गों में विभाजित किये गये थे। इनमें से प्रत्येक में पांच अक्षर होते थे। प्रथम वर्ग के 'ब', 'ल', 'फ' (या 'व'), 'स', 'न' अक्षर क्रमश: १ से ५ सीधी रेखाएं होती थीं और ये रेखाएं मुख्य क्षैतिज रेखा के नीचे (या मुख्य खड़ी रेखा की दायीं ओर) खींची जाती थीं। दूसरे वर्ग के 'ह' 'द', 'त', 'क', 'क्व' अक्षरों के लिए भी क्रमश: १ से ५ सीधी रेखाएं थीं और ये मुख्य क्षैतिज रेखा के ऊपर (या मुख्य खड़ी रेखा की बायीं ओर) खींची जाती थीं। तीसरे वर्ग के 'म', 'ग', 'ङ', 'ज़', 'र' अक्षर क्रमश: १ से ५ तिरछी लकीरें होती थीं और ये मुख्य क्षैतिज रेखा या मुख्य खड़ी रेखा को तिरछी काटती थीं। चौथे वर्ग के अंतर्गत 'अ', 'ओ', 'उ', 'ए' 'इ' स्वराक्षर होते थे। इनकी भी रेखाएं क्रमश: १ से ५ होती थीं। ये स्वर-रेखाएं मुख्य क्षैतिज या खड़ी रेखा को समकोण बनाती हुई काटती थीं। इन प्रमुख २० अक्षरों के अलावा, कभी-कभी 'एओ', 'ओइ' 'इओ' 'उइ' तथा 'अए' ध्वनियों के लिए विशिष्ट संकेतों का भी इस्तेमाल देखने को मिलता है।

इस ओघम लिपि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इसके बारे में अभी तक निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सका है। प्राचीन काल में संकेतों की भाषा में हाथ की पांच उंगलियों को नाक या पैर से छूकर भाव व्यक्ति किये जाते थे। सम्भवतः उन्हीं संकेतों के आधार पर ओघम लिपि का निर्माण किया गया था।

१८

मय सभ्यता की लिपि

सभी पुराविद अब स्वीकार करते हैं कि मध्य अमरीका--मेक्सिको, ग्वाटेमाला, यूकतन तथा होन्डुरस प्रदेश--की प्राचीन सभ्यता का आरंभ एवं विकास स्वतंत्र रूप से हुआ था। एशिया से इनका संबंध बहुत प्राचीन काल का है। आज से लगभग पंद्रह-बीस हजार वर्ष पहले एशिया की मंगोल जाति के कुछ जन-समूह बेरिंग की जलसंधि को पार कर अलास्का पहुंचे थे। उस समय संभवतः एशिया और उत्तरी अमरीका एक-दूसरे से जुड़े रहे होंगे या बीच में समुद्र रहा भी होगा तो बहुत उथला और कम। आज बेरिंग जलसंधि का यह अंतर केवल ५३ मील है। अलास्का से एशिया के ये लोग शनैः-शनैः अमरीका महाद्वीप में नीचे उतरते गये और अंत में न केवल मध्य-अमरीका बल्कि दक्षिण अमरीका तक इन्होंने प्रवेश किया। न्यू मैक्सिको में आज से दस हजार वर्ष पहले के मानव के जीवन से संबंधित पुरावशेष मिले हैं। इसी मानव जाति ने ईसा पूर्व पहली सहस्राब्दी में मध्य अमरीका में एक नई संस्कृति को जन्म दिया और ईसा की पहली सहस्राब्दी में इसका पूर्ण विकास हुआ। मध्य अमरीका की यह प्राचीन सभ्यता यूरोप या एशिया की किसी भी सभ्यता की ऋणी नहीं है। फिर भी, इन्होंने मिस्र जैसे भव्य पिरामिडों का निर्माण किया, शून्य युक्त एक विंशतिमान अंक-पद्धति को जन्म दिया और इनका पंचांग तो ग्रेगोरी-पंचांग से भी अधिक शुद्ध था।

अब तो यह सिद्ध हो चुका है कि यूरोप से अमरीका पहुंचनेवाला (१४९२ में) पहला व्यक्ति कोलंबस नहीं था। कोलंबस से लगभग दो सौ साल पहले नॉर्स नाविक अमरीका पहुंचे थे और उन्होंने इस भूमि को 'वाइनलैंड' नाम दिया था। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि अमरीका का आधुनिक इतिहास कोलंबस की साहसी यात्राओं से ही आरंभ होता है। अपनी चौथी और अंतिम यात्रा (१५०२ ई०) में कोलम्बस जब गुअनज द्वीप (होन्डुरस खाड़ी का एक द्वीप) पहुंचा, तो वहां भीतरी प्रदेश के कुछ व्यापारियों से उसकी भेंट हुई। कोलंबस ने जब पूछा कि वे कहां से आये हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया--'मइयम' से। इसीसे 'मय' शब्द बना और इस प्रदेश के निवासियों की प्राचीन सभ्यता को 'मय सभ्यता' का नाम दिया गया। असल में, यह इनका नाम नहीं था। कोई भी नहीं जानता कि इनका या इनकी भाषा का असली नाम क्या था। नामकरण की इस प्रकार की गड़बड़ियों के लिए यूरोप के आरंभिक 'खोजकर्त्ता' मशहूर हैं। अमरीका के मूल निवासियों के लिए 'रेड-इंडियन' शब्द अब भी चल रहा है। कोलंबस के कुछ समय बाद एक स्पेनिश नाविक यूकतन पहुंचा। वहां के भवनों को देखकर उसने वहां के निवासियों से पूछा कि इन्हें किसने बनाया है, तो उत्तर मिला--'सि-उ-थन्'। इसे प्रश्न का सही उत्तर मानकर स्पेनवासियों ने इस प्रदेश को यही नाम दिया और समय

के धक्के खाकर यह शब्द 'यूकतन' बन गया। असल में 'सि-उ-थन' का अर्थ था, 'हम तुम्हारी बोली नहीं समझते'!

स्पेन की सरकार के लिए सोने के लालच में हेरनान्डो कोर्टेज ने १५१६ ई० में मैक्सिको के अजटेक निवासियों पर चढ़ाई की और १५२४ तक उन्हें पराजित कर दिया। १५२७ में यूकतन के मय लोगों की बारी आयी और १५४६ तक यह संघर्ष चलता रहा। मय लोग आसानी से पराभव स्वीकार करनेवाले नहीं थे। मय लोगों का इट्ज़ा नामक एक कबीला तो १६६७ तक अपनी स्वतंत्रता के लिए लड़ता रहा। कई बातों में यूरोपवासियों से अधिक उन्नत होने पर भी हथियारों की दृष्टि से नवपाषाण-युग में ही पिछड़े हुए अमरीका के ये मूल निवासी यूरोप के गोला-बारूद के हथियारों के सामने अधिक दिनों तक अपनी स्वतंत्रता कायम नहीं रख सकते थे।

स्पेनिश सरकार के लुटेरे एजंटों की विजय के तुरंत बाद ही यहां ईसा के भक्त आ पहुंचे। इनके लिए अमरीका के इन मूल निवासियों के धार्मिक विश्वास जंगली थे और इनके ग्रंथ शैतान की कृतियां। इन पादरियों ने मय लोगों की प्राचीन पुस्तकों की होलियां जलाईं। इस जघन्य कृत्य का सरदार था, यूकतन का दूसरा बिशप दिएगो द लांडा (१५२४-१५७६ ई०)। लांडा ने १५६२ में सभी मय पुस्तकों को जलाने का आदेश दिया। जिनके पास पुस्तकें थीं उन्हें यातनाएं दे-देकर सारी मय पुस्तकें मानी शहर में जमा की गईं। लांडा ने स्वयं लिखा है: "हमने ढेर सारी पुस्तकें जमा कीं।.....इनमें अंधविश्वासों और शैतान के कथनों के अलावा और कुछ नहीं था। इसलिए हमने उन सबको जला दिया। पुस्तकों को जलते देखकर मय लोगों को बहुत ही पीड़ा हुई। क्योंकि उन्हें वे बहुत प्रिय थीं।" १६३३ में एक इतिहास-लेखक ने भी लिखा है, "मानी शहर में पुस्तकें जमा करवाके लांडा ने उन्हें जला डालने का आदेश दिया। उन्होंने प्राचीन यूकतन के इतिहास से संबंधित उन सारी पुस्तकों को जला दिया जिनमें उनके आरंभिक इतिहास की बातें थीं और जो बड़ी मूल्यवान थीं।"

सैकड़ों की संख्या में इन प्राचीन पुस्तकों की होली जलाकर लांडा ने स्वर्ग में अपने लिए आराम-तलबी का स्थान तो सुरक्षित कर लिया, किंतु इधर मानव की बौद्धिक-सम्पत्ति को वह इतना रिक्त कर गया कि उसकी पूर्ति पुनः कभी भी नहीं हो सकती। इस होली-दहन से बच पायीं तो केवल तीन पुस्तकें, जिनके बारे में हम आगे बतलायेंगे।

आगे के लगभग तीन सौ वर्षों तक मय सभ्यता पर पुनः अंधकार छा जाता है। मय लोगों के नगर, मंदिर और पिरामिड घने जंगलों में छिप जाते हैं। इस बीच यूरोप से अमरीका में जाकर बसे यूरोपियन लोगों में पुरातत्व के प्रति नई रुचि जागृत होती है। अमरीकी वकील जान लायड स्टिफेन्स और उसका चित्रकार-मित्र केथरवुड पुरावशेषों की खोज में १८४० में कोपन (होंडुरस) पहुंचते हैं और पहली बार सभ्य संसार के सामने मय भग्नावशेष तथा उनके लेखन का उद्घाटन करते हैं। इसके बाद ही मय सभ्यता के अन्वेषण का एक अखंड सिलसिला आरंभ होता है, जो अब भी जारी है।

इतिहास की यह एक मज़ेदार बात है कि जिस आदमी ने मय सभ्यता के स्रोतों को नष्ट किया, उसी बिशप लांडा ने १५६६ ई० में "यूकतन की वस्तुओं के बारे में" एक ग्रंथ लिखा था। यह ग्रंथ १८३६ में स्पेनिश रॉयल अकादमी के पुस्तकालय में पुनः खोजा गया। इस ग्रंथ से पुराविदों को मय सभ्यता के लुप्तप्राय: इतिहास, रीति-रिवाजों तथा लेखन-कला के बारे में बहुत-सी जानकारी मिली है। स्टिफेन्स के बाद मय पुराविदों

में अल्फ्रेड मौड्स्ले और एरिक थॉम्सन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मय इतिहास के बारे में हमें बहुत ही कम जानकारी मिलती है, और जो मिलती है, वह भी बहुत अधूरी। सम्भवतः १००० ई० पू० के आसपास मय सभ्यता का विकास आरंभ होता है। आरंभ में इसका विकास होंडुरस और ग्वाटेमाला प्रदेशों में होता है। इस समय कोपन और पालेन्क्यू इनके प्रमुख नगर-केंद्र थे। किंतु ईसा की सातवीं शताब्दी के आरंभ में ये लोग एकाएक अपने इन नगरों को छोड़कर यूकतन प्रदेश में आकर बसते हैं, जहां चिचेनइट्ज़ा इनका प्रमुख नगर बनता है। किस कारण से इन्होंने अपने पहले के नगरों को छोड़ा, इसके बारे में हमें कोई ठोस जानकारी नहीं मिलती। अधिकांश मय पुराविदों का मत है कि भूमि के अनुर्वर हो जाने के कारण ही उन्होंने अपने पूर्वजों की भूमि छोड़ दी थी। एक तरफ तो मय लोगों की अंक-पद्धति, पंचांग तथा विशाल भवनों की निर्माण-कला यूरोप की विकसित सभ्यताओं से टक्कर ले सकती थी, किंतु दूसरी तरफ तकनीक की दृष्टि से उनकी सभ्यता अभी पाषाण-युग में ही थी। वे पहिये का उपयोग नहीं जानते थे––न गाड़ी खींचने के लिए और न मिट्टी के बर्तन बनाने के लिए। वे हल का भी उपयोग नहीं जानते थे। धर्म-कर्म से संबंधित उनके थोड़े-से औजार सोने और तांबे के होते थे, अन्यथा युद्ध और कृषि से संबंधित उनके सारे औजार पत्थर के ही होते थे।

ऊपर हम बतला चुके हैं कि मय लोगों की सैंकड़ों पुस्तकें ईसाई पादरियों ने जला दी हैं। केवल तीन पुस्तकें ही किसी प्रकार बच पायीं। इन पुस्तकों को 'कोडेक्स' भी कहते हैं। इन तीन पुस्तकों में अधिक प्रसिद्ध है 'ड्रेस्डेन कोडेक्स'। १७३९ में वियेना से यह पुस्तक ड्रेस्डेन (पूर्व जर्मनी) के राजकीय संग्रहालय में लाई गई थी। यह वृक्ष की छाल या वल्क को पीटकर बनाये गये एक ही लंबे कागज पर लिखी गई है। इसकी चौड़ाई ८ इंच है और लंबाई १२६ इंच। लंबाई को स्क्रीन की तरह मोड़कर यह पुस्तक ३९ पन्नों की बनाई गई है। इस ड्रेस्डेन-कोडेक्स में जो अंतिम तिथि मिलती है, वह तो ११७८ ई० की है, किंतु मय पुराविद एरिक थॉम्सन का मत है कि यह पुस्तक किसी प्राचीन मूल पुस्तक की प्रतिलिपि है। इस पुस्तक का विषय मुख्यतः ज्योतिष है। इसी प्रकार और दो मय पुस्तकें पेरिस और माद्रिद के पुस्तकालयों में भी हैं। माद्रिद के कोडेक्स का विषय फलित-ज्योतिष है और पेरिस की पुस्तक पुजारियों के पूजा-पाठ एवं धर्म-कर्म से संबंधित है। इन पुस्तकों में मय लोगों के इतिहास के बारे में हमें कुछ भी जानकारी नहीं मिलती।

मय लोगों की इन पुस्तकों का कागज (='हुअन') पेड़ की भीतरी रेशेदार छाल को पीटकर बनाया जाता था। पहले लंबी छाल निकालकर उसे पानी में भिगोया जाता था और तदनंतर उसे पीट-पीटकर पतला बनाया जाता था। कपड़ा बुनना जानने के पहले मय लोग इसी प्रकार के कागज के वस्त्र पहनते थे। उनके पुरोहित तो बुने हुए कपड़े बनने पर भी इन्हीं वल्कलों को पहनना पसंद करते थे। मय लोग भवनों, नगरों आदि के मानचित्र भी इसी वल्क-कागज पर बनाते थे। मय लिपिक कूची की कलम से लिखते थे, जिसे वे जंगली सूअर के केशों से बनाते थे। वे काले, लाल, नीले, पीले, भूरे, हरे तथा चमकीले काले रंगों का इस्तेमाल करते थे।

मय लोगों के लेख केवल इन तीन पुस्तकों में ही नहीं हैं। ये पुस्तकें ९०० ई० के बाद की हैं। इसके पहले की बहुत सारी मय लिखित सामग्री हमें प्रस्तर-स्मारकों

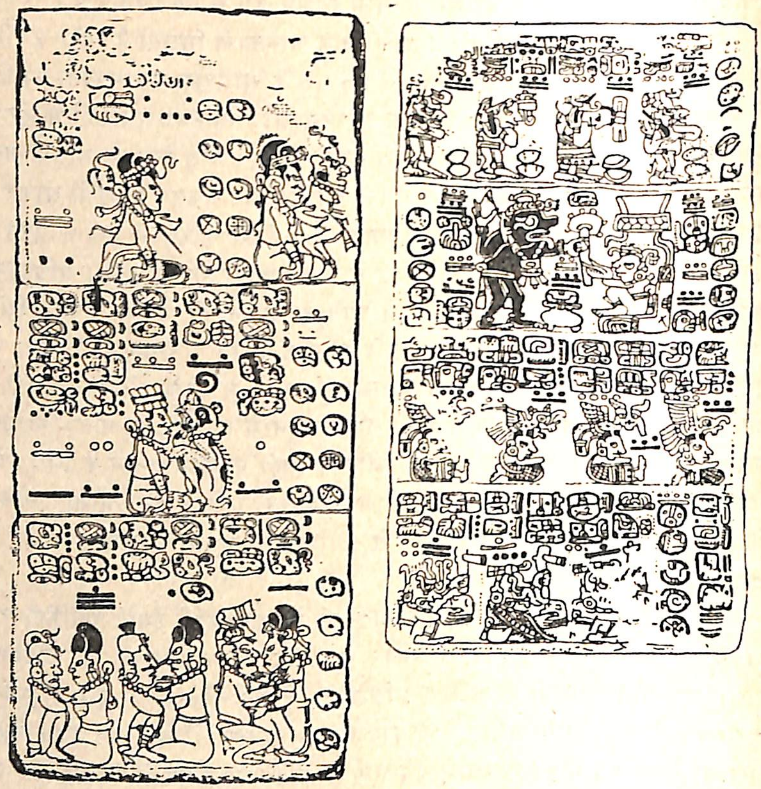

एक प्राचीन मय पुस्तक 'ड्रेस्डेन कोडेक्स' के कुछ पृष्ठ

पर उत्कीर्ण मिलती है। ऐसे अनेक शिला-स्तम्भ मिले हैं जिन पर तिथियां उत्कीर्ण हैं। ९वीं शताब्दी के अंत समय तक मय लोग इस प्रकार के प्रस्तर-स्मारक खड़े करते रहे। उसके बाद एकाएक स्मारक खड़े करने की यह प्रथा बंद हो गई और उनका स्थान पुस्तकों ने ले लिया। अंतिम शिला-स्मारक ८८९ ई० में खड़ा किया हुआ मिलता है। पुस्तकों और प्रस्तर-स्मारकों के अलवा मिट्टी के बर्तनों पर भी विविध रंगों में चित्र एवं आकृतियां चित्रित मिलती हैं।

उपर्युक्त तीन पुस्तकों और अनेक शिला-स्मारकों के अलावा मय लिपि और भाषा के अन्वेषण में 'चिलम बलम' तथा 'मोतुल' पुस्तकें भी सहायक होती हैं। 'चिलम बलम' पुस्तकों की भाषा तो मय है, किंतु लिपि रोमन है। मय लोगों की हार के बाद उनके पुरोहितों के मय भाषा के पाठों को यूरोप की लिपि में उतारने से ये पुस्तकें तैयार हुई हैं। 'मोतुल' ईसाई मिशनरियों द्वारा उस समय तैयार किया हुआ मय भाषा का कोश है। 'चिलम बलम' पुस्तकों में हमें कोई ऐतिहासिक सामग्री नहीं मिलती, फिर भी मय भाषा के अध्ययन और लिपि के अन्वेषण में ये पुस्तकें काफ़ी सहायक हुई हैं।

१९वीं शताब्दी के मध्यकाल में लांडा के ग्रंथ की खोज होने पर मय लिपि के अन्वेषण का सिलसिला आरंभ हुआ। लांडा के मतानुसार मय लिपि वर्णमालात्मक थी। उसने अपने ग्रंथ में इस वर्णमाला के २७ अक्षर-संकेत भी दिये हैं। लांडा की 'वर्णमाला' से

पुरालिपिविदों ने जब मय लेखों को पढ़ने का प्रयत्न किया तो उनमें कोई अर्थ नहीं निकला। परंतु लांडा की पुस्तक मय लिपि के अंक-संकेतों तथा काल-गणना से संबंधित संकेतों को पहचानने में बड़ी सहायक हुई है। पेटो (यूकतन) के एक सरकारी कर्मचारी जुआन पिओ पेरेज़ ने मय अंक-संकेतों की खोज की। उसी प्रकार ड्रेस्डेन ग्रंथालय के अध्यक्ष डा० अर्न्स्ट फोर्स्टेमान ने चौदह वर्षों के परिश्रम के बाद मय पंचांग से संबंधित महीने, दिन आदि के संकेतों को खोज निकाला। यही कारण है कि सबसे पहले हमें मय सभ्यता के पंचांग तथा अंक-पद्धति के बारे में ही ठोस जानकारी मिली है। मय सभ्यता की अद्भुत अंक-पद्धति तथा काल-गणना (पंचांग) का विस्तृत विवेचन मैंने अपनी "अंक-कथा" में किया है।

अंक-पद्धति और काल-गणना से संबंधित संकेतों का अन्वेषण हो जाने पर भी लिपि-अन्वेषण का कार्य अभी अधूरा था। दूसरे महायुद्ध के बाद ड्रेस्डेन-कोडेक्स रूसी पुरा-लिपिविदों के लिए सुलभ हो गया, तो उन्होंने मय लिपि के अन्वेषण का काम अपने हाथों में लिया। अकादमीशियन यूरी क्नोरोज़ोव ने १९५२-५५ के बीच अपने अनुसंधानों को प्रकाशित किया और उनका दावा था, कि उन्होंने मय लिपि का रहस्योद्घाटन कर लिया है। क्नोरोसोव ने कुछ वाक्य भी सफलता से पढ़े थे।

वस्तुतः मय लिपि को पढ़ पाना किसी भी एक आदमी के लिए संभव नहीं था। मय लिपि के संकेतों को पढ़ते समय मय संस्कृति से संबंधित इतनी अधिक बातों की जानकारी स्मरण रखनी पड़ती है कि, यह किसी एक व्यक्ति के लिए संभव है ही नहीं। इसीलिए रूसी विशेषज्ञों ने इस लिपि के अन्वेषण के लिए विद्युत गणकयंत्र से मदद लेने की योजना बनाई। येवरेइनोव, कोसारेव, सोबोलेव तथा उस्तीनोव इन चार वैज्ञानिकों ने मिलकर नोवोसिबिर्स्क की गणित-अनुसंधानशाला में विद्युत गणकयंत्र की सहायता से मय लिपि के अन्वेषण का कार्य आरंभ कर दिया। वस्तुतः गणकयंत्रों का उपयोग केवल वैज्ञानिक गवेषणाओं में ही नहीं, बल्कि ऐतिहासिक गवेषणा---पुरातत्व, मुद्राशास्त्र, लिपिशास्त्र आदि---के क्षेत्रों में भी किया जा सकता है। येवरेइनोव से जब पूछा गया कि बिना गणकयंत्र की सहायता के मय लिपि को पढ़ पाने में और कितना समय लगता, तो उनका उत्तर था : "कहना मुश्किल है। अनुसंधान के आरंभ के सौ सालों में नहीं के बराबर सफलता मिली थी। आगे के सौ सालों में भी प्रायः यही हाल रहता। हां, यह संभव है कि किसी प्रतिभावान व्यक्ति को कुछ और वाक्य पढ़ पाने में सफलता मिलती। बस इतना ही। इस लिपि के अन्वेषण में हमें नूतन गणितीय विधियों का प्रयोग करना पड़ा; साथ ही, तुलना एवं गणनाओं के लिए कई नई योजनाएं बनानी पड़ीं। और फिर, उपलब्ध मय लेख मुख्यतः पुरोहितों की पूजा-पाठ विधियों से ही संबंधित हैं। वाक्य सूत्रमय और त्रोटक हैं। बहुत-से संकेत मिट गये हैं और पुस्तक की प्रतिलिपि तैयार करते समय लिपिक ने कई गलतियां की हैं। कहीं-कहीं मय लोगों के ऐसे रीति-रिवाजों का उल्लेख मिलता है जिनके बारे में हमें बहुत ही कम जानकारी है। इसलिए मय लिपि की ग्रंथियों को खोलना बहुत ही कठिन काम हैं।"

गणकयंत्र की सहायता से किये गये अनुसंधानों से पता चला है कि मय लिपि में कुल ३४० संकेत हैं। 'चिलम बलम' के ८४,००० शब्द और 'मोतुल' के ३५,००० शब्दों का परीक्षण करने पर पता चला कि इनमें से २० प्रतिशत शब्द केवल चार ही हैं, जिनका सन्निकट उच्चारण है : 'ऊ', 'ती', 'काह्' और 'तू'। स्पष्ट है कि मय लेखों में

सबसे अधिक आनेवाले संकेत या संकेत-समूह इन्हीं चार शब्दों के द्योतक होने चाहिए। इस जानकारी के अलावा, गणकयंत्र के स्मृतिकोश के लिए उन संकेतों का भी उपयोग किया गया जिन्हें पुरालिपिविदों ने पहले ही खोज निकाला था। वस्तुतः गणकयंत्र के बिना मय लिपि को पढ़ पाना संभव ही नहीं था।

इन अनुसंधानों से अब यह सिद्ध हो गया कि मय लिपि न तो शुद्ध वर्णमालात्मक है और न यह शुद्ध भावचित्रात्मक ही है। इस लिपि के ३४० चिह्न किसी भी वर्णमालात्मक लिपि के लिए बहुत अधिक हैं। विपरीत, भावचित्रात्मक लिपि के लिए इतने संकेत बहुत कम हैं। मय लिपि शुद्ध अक्षरात्मक (सिलेबिक) भी नहीं है। अतः स्पष्ट है कि मय लिपि एक ऐसी मिश्रित योजना है जिसके संकेत वर्ण या अक्षर या पूर्ण शब्द इन तीनों में से किसी को भी व्यक्ति कर सकते हैं। गणकयंत्र की सहायता से पढ़ा गया मय लिपि का पहला वाक्य था : "कविल, मकई का देवता, सफेद मिट्टी के बर्तनों को भूनता है।"

भारतीय लिपियां

१६

सिन्धु लिपि

सिन्धु सभ्यता का उदघाटन १६२० ई० के बाद हुआ। हमारे पुरातत्ववेत्ता अधिक सचेत होते तो सिंधु सभ्यता की खोज पिछली शताब्दी में ही हो जाती। मेसोन ने १८२० में पहली बार हड़प्पा के टीलों को पहचाना था। १८५६ में ब्रंटन-बंधुओं—जोन और विलियम—को लाहौर से कराची तक की रेल-लाइन बनाने का ठेका मिला हुआ था। विलियम ने मुलतान-लाहौर लाइन का निर्माण किया और इस लाइन की गिट्टी के लिए उसने हड़प्पा की ईंटों का वेशुमार इस्तेमाल किया। "आज रेलगाड़ियां सौ मील तक ऐसी पटरियों पर से गुजरती हैं, जो ई० पू० तीसरी सहस्राब्दी की बनी हुई ईंटों पर मजबूती से आधारित हैं। ईंटों की इस लूट के समय कई प्रकार के पुरावशेष प्राप्त हुए। इनमें से अधिक आकर्षक पुरावशेषों को मजदूरों और इंजीनियरों ने रख लिया" (स्टुआर्ट पिगॉट, 'प्रिहिस्टॉरिक इंडिया', पृष्ठ १४)।

जनरल कनिंघम (१८१४-६३) ने १८५६ में हड़प्पा की यात्रा करके वहां से कुछ मुहरें प्राप्त की थीं। इन मुहरों पर सिंधु-लिपि के संकेत उत्कीर्ण थे। कनिंघम इन पुरावशेषों के महत्व को तो समझ गये थे, किंतु वह हड़प्पा के अन्वेषण को आगे नहीं बढ़ा सके। उन्होंने १८७५ में इन मुहरों में से कुछ को प्रकाशित करके ही संतोष कर लिया।

सिंधु-सभ्यता के दो प्रमुख स्थलों—मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा—के आरंभिक अन्वेषण का श्रेय प्राप्त है दो भारतीय पुरातत्ववेत्ताओं को। जनवरी १६२१ में दयाराम साहनी ने हड़प्पा में खुदाई आरंभ की, और १६२२ में राखलदास बनर्जी ने मोहेंजोदड़ो में। बाद में पुरातत्व-विभाग के डायरेक्टर-जनरल जोन मार्शल (१८७६-१६५८) ने यह काम अपने हाथ में ले लिया। मार्शल के नेतृत्व में १६३१ तक हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो की खुदाई होती रही। इस खुदाई का विस्तृत विवरण मार्शल ने तीन खंडों वाले एक बृहदाकार ग्रंथ—"मोहेंजो-दड़ो एण्ड द इंडस सिविलिज़ेशन" (लंदन, १६३१)—में प्रकाशित किया।

हड़प्पा (मांटगोमरी जिला, पाकिस्तान) और मोहेंजोदड़ो (सिंध, पाकिस्तान) के प्रकाश में आने के बाद सिंधु सभ्यता के अन्य अनेक स्थल भी शनैः-शनैः प्रकाश में आये। वर्तमान शताब्दी के तीसरे दशक में आरेल स्टाइन (१८६२-१६४३) ने बलूचिस्तान में अनेक टीलों की खोज की। सिंधु सभ्यता के अन्वेषण में भारतीय पुरातत्ववेत्ताओं ने भी महत्वपूर्ण योग दिया है। १६२७ और १६३१ के बीच ननिगोपाल मज़ूमदार (१८६३-१६३८) ने हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो के बीच के प्रदेश की छानबीन की, और किरथर पहाड़ियों में खुदाई करते समय ही डाकुओं के हाथों उनकी मृत्यु हुई। मोहेंजोदड़ो की खुदाई में

भारतीय पुराविद माधोस्वरूप वत्स तथा काशीनाथ दीक्षित ने मार्शल को सहयोग दिया। १६२५ में दीक्षित ने सिंधु सभ्यता के और दो स्थलों—लोहुम्जो-दड़ो तथा लुमुजोनेजो—की खोज की थी। अर्नेस्ट मैके के नेतृत्व में १६३५-३६ में सिंध के नवाबशाह जिले के चन्हु-दड़ो स्थान पर खुदाई हुई। इस स्थान से सिंधु सभ्यता के उत्तरकाल की महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई है। १६४५ में मोर्टीमर ह्वीलर ने हड़प्पा की पुनः विधिवत खुदाई आरंभ की। इस खुदाई में बहुत-सी नई चीजें मिलीं, जिनमें हड़प्पा का परकोटा विशेष महत्व का है।

१६४७ में भारत-विभाजन के कारण मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा तथा सिंधु सभ्यता के अन्य अनेक स्थल भारतीय पुरातत्ववेत्ताओं के हाथों से निकल गये। किंतु सिन्धु सभ्यता के स्थल केवल सिंधु-प्रदेश में ही सीमित नहीं थे। भारतीय पुराविदों ने वर्तमान भारत में लगभग १०० ऐसे स्थान खोज निकाले हैं जो सिंधु सभ्यता के हैं। १६५०-५३ में राजस्थान की घग्घर (प्राचीन दृषद्वती) नदी के कछार में सिंधु सभ्यता के लगभग तीस स्थलों का पता चला है। अंबाला जिले के रोपड़ स्थान के नज़दीक भी हड़प्पा-संस्कृति के पुरावशेष प्राप्त हुए हैं। काठियावाड में भी सिंधु सभ्यता के अनेक स्थल मिले हैं। १६३५ में सुरेन्द्रनगर के पास रंगपुर के टीलों की खुदाई आरंभ हुई थी। १६५० के बाद की खुदाई में रंगपुर के समीप के एक टीले से हड़प्पा-संस्कृति के पुरावशेष मिले हैं। उत्साहित होकर पुराविदों ने अन्य टीलों को भी खोदना शुरू कर दिया। कई स्थानों पर सिंधु-संस्कृति के अवशेष मिले। इनमें प्रमुख है—साबरमती और भगवा नदियों के बीच, अरब सागर से १६ किलोमीटर दूर, लोथल। लोथल से मिट्टी पर सिंधु लिपि की मुहरों के ऐसे छापे भी मिले हैं जो अन्यत्र कहीं नहीं मिले। काल-निर्धारण की 'कार्बन-१४ विधि' के परीक्षण से ज्ञात हुआ है कि लोथल में २२०० से १७०० ई० पू० तक बस्ती रही है। लोथल की खुदाई में ईंटों की बनी हुई २१८ मीटर लंबी और ३७ मीटर चौड़ी चतुर्भुजाकार एक गोदी (डॉकयार्ड) भी मिली है। यह गोदी एक नहर द्वारा भगवा नदी से जोड़ी गई थी। ऐसा जान पड़ता है कि समुद्री जहाज या नौकाएं भगवा नदी में आती थीं। लोथल से मेसोपोटामिया की एक उत्कीर्ण मुद्रा भी मिली है। इन प्रमाणों से यह पता चलता है कि समुद्री मार्ग से भी सुमेर-बेबीलोन और सिंधु-प्रदेश के बीच गहरे व्यापारी सम्बन्ध थे।

सिंधु सभ्यता के लोगों की आरंभिक बस्तियां बलूचिस्तान में देखने को मिलती हैं। बाद में सिंधु के कछार में हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो जैसे पूर्ण विकसित नगर देखने को मिलते हैं। कालान्तर में इन लोगों ने गंगा-यमुना के दोआब में भी अपने पैर रखे और यहां बस्तियां बसाईं। १६५८ में दिल्ली से ४५ किलोमीटर उत्तर-पूर्व की ओर, यमुना की एक सहायक नदी के किनारे, आलमगीर स्थान पर हड़प्पा-संस्कृति के अवशेष मिले हैं। आलमगीर ही हड़प्पा के लोगों की पूर्व की ओर की अंतिम सीमा नहीं है। हड़प्पा की तरह के मृत्‌भाण्ड गंगा के किनारे बुलंदशहर तथा सहारनपुर जिलों में भी मिले हैं। दक्षिण के पठार में भी कुछ स्थलों पर सिंधु सभ्यता के चिह्न मिले हैं। मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा के पाकिस्तान में चले जाने के बाद भी भारतीय पुराविदों के फावड़ों के लिए ऐसे भारतीय क्षेत्र का विस्तार विद्यमान है, जहां सिंधु सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं और हो सकते हैं।

मिस्र तथा सुमेर की प्राचीन सभ्यताओं की तरह सिंधु सभ्यता का काल-निर्धारण

संभव नहीं है। मिस्र तथा सुमेर की प्रागैतिहासिक सभ्यताओं के काल-निर्धारण में वहां उपलब्ध लेखन-सामग्री काफ़ी सहायक सिद्ध हुई है। किंतु सिंधु लिपि के अभी तक न पढ़े जाने के कारण सिंधु सभ्यता के काल-निर्धारण में अन्य विधियों की शरण में जाना पड़ता है। सिंधु सभ्यता की कुछ उत्कीर्ण मुहरें मेसोपोटामिया की खुदाई में भी मिली हैं। ये मुहरें वहां खुदाई के जिन स्तरों में मिली हैं, उन स्तरों का काल पुराविदों को ज्ञात है। मेसोपोटामिया के जिन विभिन्न स्थानों में सिंधु-मुहरें प्राप्त हुई हैं, उनके पुरातत्वान्वेषण के आधार पर इन मुहरों का वहां पहुंचने के लिए लगभग २३०० ई० पू० का समय ज्ञात होता है। इस तथा अन्य अनेक अनुमानों के आधार पर पुराविद इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि, सिंधु सभ्यता २६०० से १७०० ई० पू० तक अपने चरमोत्कर्ष पर थी।

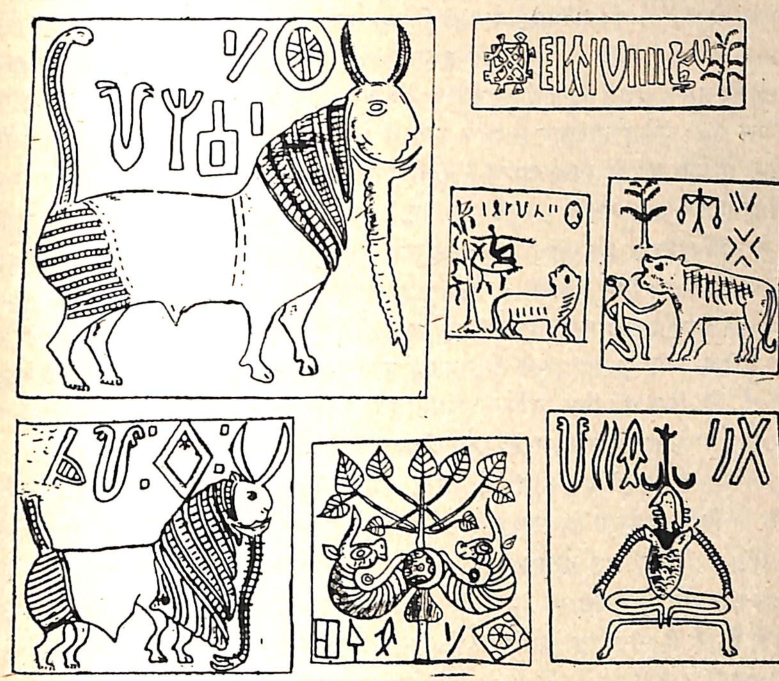

सिंधु लिपि की मुहरें

सिंधु सभ्यता के विभिन्न स्थानों से अब तक २००० से भी अधिक उत्कीर्ण मुद्राएं या मुहरें प्राप्त हुई हैं। सेलखड़ी, चीनी मिट्टी तथा हाथीदाँत की बनी हुई इन मुहरों पर पशु, पक्षी तथा मानव की आकृतियों के साथ सिंधु लिपि के संकेत उत्कीर्ण हैं। पुराविदों के लिए यह एक पहेली है कि ये मुहरें, इनपर उत्कीर्ण प्रतीकों सहित, किस उद्देश्य से बनाई गई थीं। मेसोपोटामिया से भी सिलिंडर के आकार की मुहरें मिली हैं, परंतु वहां कलशों या भाण्डों पर मिट्टी के फलकों की सील लगाने के लिए इन मुहरों का इस्तेमाल होता था। सिंधु सभ्यता की इन मुहरों का भी सील लगाने के लिए ही उपयोग होता था, यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। हां, अभी कुछ वर्ष पहले लोथल से मिट्टी पर इन अंकित मुहरों के छाप मिले हैं। किंतु लोथल के अलावा अन्य किसी भी स्थान से मिट्टी पर इन मुहरों के छापे नहीं मिले हैं। अनेक पुराविदों ने इन मुहरों को सिक्के, तावीज़,

ट्रेड-मार्क आदि के रूप में कल्पना की है। किंतु जब तक सिंधु लिपि का उद्घाटन नहीं होता, तब तक इन मुहरों की उपयोगिता का यह प्रश्न एक पहेली ही बना रहेगा।

सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि सिंधु लिपि के बारे में हमें अब तक ऐसा कोई लेख नहीं मिला है जिसमें बीस से अधिक संकेत हो। मुहरों पर इन लिपि-संकेतों के साथ उत्कीर्ण पशु-पक्षियों की आकृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सिंधु लिपि दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थी। यह भी पता चलता है कि, यदि लिपि-संकेत दो पंक्तियों में हो, तो पहली पंक्ति दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थी, और दूसरी पंक्ति बायीं ओर से दायीं ओर को। ज्ञात होता है कि सिंधु लिपि में लगभग ५०० संकेतों का प्रयोग होता था; किंतु एक ही संकेत के विविध रूपों को छोड़ दिया जाय तो सिंधु लिपि के संकेतों की संख्या २५० पर लाई जा सकती है। अब, यह एक स्पष्ट बात है कि, इतने संकेतों वाली लिपि वर्णमालात्मक हो ही नहीं सकती। यह भी स्पष्ट है कि चित्रलिपि या भावचित्रात्मक लिपि के लिए इतने संकेत कम हैं। सुमेरी लिपि के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आरंभ में इस लिपि में लगभग २००० संकेतों का प्रयोग होता था, और कालांतर में केवल ६०० संकेत व्यवहार में लाये जाते थे। संकेतों की संख्या में कमी होते जाना लिपि के विकास को ही व्यक्त करता है (चीनी लिपि इस नियम का अपवाद है)। सिंधु लिपि के बारे में और एक महत्वपूर्ण बात यह है कि, सिंधु संस्कृति के लगभग एक हजार वर्षों के दीर्घ काल में भी इस लिपि के संकेतों के स्वरूपों में हमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखाई देता। सिंधु सभ्यता के अन्य पुरावशेषों से भी यह सिद्ध होता है कि २६०० ई० पू० के आसपास जिस सभ्यता के हमें दर्शन होते हैं, वह अपने विकास के उत्कर्ष पर पहुंच चुकी थी; और कालान्तर के लगभग एक हजार वर्षों तक इसमें कोई विशेष परिवर्तन देखने को नहीं मिलता। सिंधु लिपि का स्थायी स्वरूप भी इसी तथ्य की ओर इशारा करता है कि सिंधु सभ्यता लगभग एक हजार वर्षों तक जैसी-की-वैसी बनी रही।

सिंधु लिपि तो हमें ज्ञात नहीं ही है, इसकी भाषा भी हमें ज्ञात नहीं है। ऐसी स्थिति में लिपि-अन्वेषण के लिए कोई द्वैभाषिक लेख ही सहायक सिद्ध हो सकता है। किंतु सिंधु लिपि के लिए अभी तक हमें कोई द्वैभाषिक लेख प्राप्त नहीं हुआ है। सिंधु सभ्यता और सुमेरी सभ्यता के गहरे व्यापारी संबंध थे। सिंधु लिपि की मुहरें मेसोपोटामिया में मिली हैं और मेसोपोटामिया की मुहरें सिंधु-प्रदेश में मिली हैं। इसलिए हमें आशा रखनी चाहिए कि किसी दिन भारत या इराक में ऐसा कोई द्वैभाषिक लेख प्राप्त होगा जिस पर सिंधु लिपि तथा कीलाक्षर लिपि में एक ही बात अंकित की गई हो।

किसी द्वैभाषिक लेख की आशा में पुरालिपविद चुपचाप बैठे नहीं रह सकते; वे कुछ न कुछ अटकलें लगायेंगे ही। सिंधु लिपि के बारे में भी पुरालिपिविदों ने नाना प्रकार की कल्पनाएं प्रस्तुत की हैं। सबसे पहले १९२५ में एल०ए० वाडेल ने सिंधु लिपि को पढ़ने का प्रयत्न किया था। वाडेल की मान्यता थी कि सुमेरी लोग तथा वैदिक आर्य एक ही वंश के थे। उन्होंने सिंधु लिपि को सुमेरी लेखों के आधार पर पढ़ने का प्रयत्न किया और इस लिपि में कुछ वैदिक देवताओं को भी 'खोज' निकाला। डा० प्राणनाथ ने, वाडेल का अनुकरण करते हुए, सिंधु संस्कृति को आर्य संस्कृति तो माना, परंतु इसकी भाषा को उन्होंने आद्य-संस्कृत या आद्य-प्राकृत का नाम दिया। उन्होंने काफी बाद की ब्राह्मी लिपि के ध्वनिमानों को सिंधु लिपि के संकेतों पर लागू करने का प्रयत्न किया था। प्राणनाथ का एक यह भी सुझाव था कि तान्त्रिक प्रतीकों के आधार पर सिंधु लिपि के संकेतों

का अध्ययन किया जाना चाहिए। इस सुझाव का अनुकरण करते हुए शंकरानंद तथा बेनी माधव बरुआ ने सिधु लिपि को पढ़ने का प्रयत्न किया। इन दोनों सज्जनों ने इस लिपि को वर्णमालात्मक ही माना था। प्रसिद्ध पुरालिपिविद ह्रोज्नी ने हित्ती कीलाक्षर लिपि का अन्वेषण किया था। लेकिन यह प्रथम महायुद्ध के जमाने की बात है। इसके बाद ह्रोज्नी ने संसार की बहुत-सी पुरालिपियों को 'पढ़ने' की कोशिश की। उन्होंने क्रीट की लिपि को पढ़ने का भी असफल प्रयास किया था। ह्रोज्नी ने १९३९ में सिंधु लिपि के बारे में भी एक निबंध प्रकाशित किया। उनकी मान्यता थी कि सिंधु सभ्यता के लोग प्राक्-हित्ती अर्थात् भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार के थे। इसीलिए ह्रोज्नी ने सिंधु लिपि में हित्ती भाषा को खोजने का प्रयत्न किया था। बंबई के सेंट जेवियर्स कालेज के भारतीय पुराविद फादर हेरास ने कल्पना की कि सिंधु सभ्यता के लोग द्रविड़ जाति के थे, इसलिए इनकी भाषा भी द्रविड़ परिवार की--प्राक्-तमिल--होनी चाहिए। प्रसिद्ध मिस्री पुराविद फ्लिन्डर्स पेट्री ने मिस्री लिपि के साम्य के आधार पर सिंधु लिपि में केवल भाव-चित्रों की ही कल्पना की। पेट्री का मत था कि सिंधु सभ्यता की इन मुहरों पर केवल अफसरों की पदवियां अंकित हैं।

लेकिन इटली के प्रसिद्ध पुराविद मेरीग्गी ने पेट्री की इस केवल भावचित्रों वाली मान्यता को अस्वीकार करके, सिंधु लिपि को एक मिश्रित भावचित्र-ध्वनिसंकेत-युक्त योजना माना। मेरीग्गी ने कुछ संकेतों को भावचित्र माना और कुछ संकेतों को ध्वनि-संकेत। उन्होंने इसके बाद सिंधु लिपि के अन्त्य-प्रत्ययों का अध्ययन करके इसमें विभक्ति-संकेतों की भी 'खोज' की। मेरीग्गी ने अपनी इस योजना के अनुसार सिंधु लिपि को पढ़ने की कोशिश की, तो उन्हें इन लेखों में कृषि से संबंधित बातों की ही प्रधानता दिखाई दी।

१९३४ में दे-हेवेसी ने एक अद्भुत कल्पना पेश की। उन्होंने सिंधु लिपि को ईस्टर द्वीप की लिपि के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया और संकेतों का साम्य दरशाने के लिए इन दोनों लिपियों से ४८ संकेतों की एक तालिका भी प्रकाशित की। सरसरी दृष्टि से कोई भी इस तालिका को देखेगा, तो विश्वास कर लेगा कि सिंधु लिपि और ईस्टर द्वीप की लिपि में अद्भुत साम्य है। परंतु गहराई से विचार करने पर यह साम्य एक भुलावा मात्र जान पड़ता है। एक तो हेवेसी ने जोर-जबरी से इन दो लिपियों के केवल ४८ संकेतों में ही समानता दरशायी है, जब कि सिंधु लिपि में संकेतों की संख्या इससे दस गुना अधिक है। दूसरे, हम जानते हैं कि ईस्टर द्वीप की लिपि एक हजार साल से अधिक पुरानी नहीं हो सकती है, जब कि सिंधु लिपि लगभग चार हजार साल प्राचीन है। तीसरे, ईस्टर द्वीप (प्रशांत महासागर) और सिंधु-प्रदेश में इतना अधिक अंतर है कि हम किसी भी प्रकार यह कल्पना नहीं कर सकते कि सिंधु सभ्यता के निवासी इतनी दूर अपनी इस लिपि को ले गये होंगे। अतः दिक्काल के इस महत् अंतर पर विचार करें, तो हेवेसी की यह मान्यता कोरी काल्पनिक उड़ान ही जान पड़ती है।

ऊपर हमने सिंधु लिपि के बारे में जितनी भी परिकल्पनाओं का उल्लेख किया है, उनमें दोषों को आसानी से जाना जा सकता है। यह तो इसी से स्पष्ट है कि उपर्युक्त पुरालिपिविदों में से किसी को इस लिपि का उद्घाटन करने में आंशिक सफलता भी नहीं मिली है। कुछ पुराविदों ने इस लिपि की आंतरिक रचना का तथा इसके संकेतों का यांत्रिक विश्लेषण करने का भी प्रयत्न किया है। ऐसे पुराविदों में गाड, सिडनी स्मिथ,

लांगडन और हंटर प्रमुख हैं। गाड ने सिंधु लिपि में 'प्राचीन भारोपीय भाषा' की कल्पना की है और इसके तीन संकेतों को 'पुत्र' शब्द के अर्थ में पढ़ने का प्रयत्न किया है। हंटर ने सिंधु लिपि तथा ब्राह्मी लिपि में कुछ साम्य खोजने का प्रयत्न किया है। गाड तथा हंटर दोनों ही सिंधु लिपि को अक्षरात्मक मानते हैं। विपरीत, सिडनी स्मिथ ने इस लिपि के लिए किसी भी भाषा की कल्पना का सहारा न लेकर इसके संकेतों का यांत्रिक विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने इस लिपि के निर्धारक-संकेत, पूर्व-सर्ग तथा अंत्य-सर्ग संकेतों को निर्धारित करने तक ही अपने अध्ययन को सीमित रखा।

कुछ पुराविदों ने सिंधु लिपि के संकेतों की बाद के आहत सिक्कों पर पाये जाने-वाले चिह्नों के साथ तुलना करने की भी कोशिश की है। मौर्यकाल के ताम्रपत्रों पर पाये गये संकेत सिंधु लिपि के अवशेष माने गये हैं। परन्तु इस परिकल्पना के लिए अभी तक कोई ठोस आधार प्राप्त नहीं हुआ है। इस प्रकार के कुछ प्रतीक-चिह्न तो आज भी हम देख सकते हैं। इसलिए इस मान्यता के बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

प्रायः हर साल सिंधु लिपि के उद्घाटन के एक-दो दावेदार सामने आते हैं। १९६८ में सुधांशु कुमार राय के अन्वेषण की समाचारपत्रों में खूब चर्चा रही। अपने अन्वेषण के बारे में उन्होंने दो पुस्तिकाएं भी प्रकाशित की हैं। सुधांशु कुमार राय सिंधु लिपि में आद्य-संस्कृत भाषा के दर्शन करते हैं। उनके मतानुसार सिंधु लिपि आजकल की देवनागरी लिपि जैसी वर्णमालात्मक है। उन्होंने अब तक इस लिपि के ४८ वर्णाक्षरों की खोज की है। साथ ही, संयुक्ताक्षर तथा स्वर-मात्राओं को भी खोज निकाला है। वे सिंधु लिपि में कुछ निर्धारक-संकेत एवं भावचित्रों के भी दर्शन करते हैं।

राय का मत है कि सिंधु लिपि की मुहरों का इस्तेमाल व्याकरण के नियम सिखाने के लिए होता था। उनका कहना है, "मोहेंजो-दड़ो निश्चय ही संसार का प्रथम विश्व-विद्यालय-नगर था और इसका विशाल स्नानागार, धान्य-कोठार आदि इसके छात्रावास से संबंधित थे।"

राय का कहना है कि सिंधु लिपि के पूरे अध्ययन को प्रकाशित करने के लिए काफ़ी धन की जरूरत है। समझ में नहीं आता कि, यदि राय ने सचमुच ही सिंधु लिपि के रहस्य का उद्घाटन कर लिया है, तो वे अपने अध्ययन को किसी शास्त्रीय पत्रिका में क्यों नहीं प्रकाशित कर देते?

१९६९ में सिंधु लिपि के उद्घाटन के तीन दावेदार सामने आये। पहले हम कृष्णराव के अध्ययन की चर्चा करेंगे।

व्ही० एन० कृष्णराव भारतीय पुरातत्व-सर्वेक्षण में तकनीकी सहायक के पद पर हैं। सुधांशु कुमार राय की तरह कृष्णराव भी सिंधु लिपि में वैदिक संस्कृत भाषा के दर्शन करते हैं। उनका अन्वेषण प्रसिद्ध 'पशुपति-मुद्रा' से आरंभ होता है। इस मुद्रा के बीच में एक योगी या शिव की आकृति है। ऊपर लिपि-संकेत हैं और दाएं-बाएं व नीचे पशु-आकृतियां उत्कीर्ण हैं। नीचे बायीं ओर का कोना टूटा हुआ है।

कृष्णराव भी यह स्वीकार करते हैं कि सिंधु लिपि दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी गई है। अतः इस तथाकथित 'पशुपति-मुद्रा' में वे उन्हीं पशु-आकृतियों पर विचार करना चाहते हैं जिनका मुंह बायीं ओर को है। शेर को, जिसका मुंह दायीं ओर है, वे कोई

"पशुपति-मुद्रा"

महत्व नहीं देते ! उसी प्रकार, योगी के आसन के नीचे की बकरे या हरिण की आकृति को भी वे महत्व नहीं देते । इस आकृति के बायीं ओर, खंडित भाग में, और एक पशु-आकृति रही है । अब, कृष्णराव इस मुद्रा को इस प्रकार पढ़ते हैं : दायीं ओर के पशु हैं— महिष (भैंस), खड्ग (गेंडा) । ऊपर कोने में मनुष्य (नर) की आकृति है । बायीं ओर शद्रि (हाथी) और पुनः मनुष्य की आकृति है । कृष्णराव का कहना है कि मुद्रा में ऊपर उत्कीर्ण पाँच लिपि-संकेत इन पांच पशुओं के संस्कृत नामों के आद्याक्षर हैं; जैसे, महिष (म), खड्ग (ख), नर (ना), शद्रि (श) और नर (न) । इन आद्याक्षरों से 'मखनाशन' शब्द बनता है, जो वैदिक साहित्य में 'इन्द्र' का द्योतक है ।

एक अन्य मुद्रा में योगी की इसी प्रकार की आकृति है और इसके ऊपर पांच लिपि-संकेत हैं । इस मुद्रा-लेख को पढ़ते हुए कृष्णराव दायीं ओर के दो संकेतों को छोड़ देते हैं और शेष तीन संकेतों को 'ईशान' (रुद्र) पढ़ते हैं । इस मुद्रा में कोई पशु आकृति नहीं है, इसलिए कृष्णराव ने यहां आद्याक्षर-सिद्धांत का सहरा नहीं लिया है । एक ही तरह की आकृति एक मुद्रा में मखनाशन (इन्द्र) और दूसरी मुद्रा में ईशान (रुद्र) कैसे हो सकती है ? जाहिर है कि, कृष्णराव के अन्वेषण में गड़बड़ है ।

कृष्णराव ने सिंधु लिपि को पढ़ने के लिए प्राचीन मिस्र की लिपि, सुमेरी लिपि, रूनी लिपि आदि के संकेतों के मानों का सहारा लिया है । यूरोप की रूनी लिपि किसी भी हालत में दो हजार साल से अधिक प्राचीन नहीं है । इसके विपरीत, सिंधु सभ्यता का १५०० ई० पू० के पहले ही अंत हो गया था । ऐसी हालत में भविष्य की एक लिपि के संकेत-मानों को सिंधु लिपि पर कैसे लागू किया जा सकता है ?

कृष्णराव ने सिंधु लिपि में कुछ विदेशी शासकों के नाम भी खोजे हैं । एक ओर वे इसमें मिस्र के प्रथम शासक मान (मेनेस या नारमेर, ३२०० ई० पू०) का नाम खोजते हैं, तो दूसरी ओर राजा सोलोमन (ई० पू० दसवीं शताब्दी) का ! सभी बातों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि कृष्णराव ने दिक्काल की सीमाओं का बिल्कुल ख्याल नहीं रखा है और उनका यह अन्वेषण पुष्ट नहीं है ।

दूसरे दावेदार हैं राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, के निदेशक डा० फतहसिंह । प्रतिष्ठान की शोध-पत्रिका "स्वाहा" में उन्होंने अपना आरंभिक अन्वेषण प्रकाशित किया है । फतहसिंह सिंधु सभ्यता को आर्य सभ्यता मानते हैं और सिंधु लिपि में

वैदिक भाषा एवं "ब्राह्मण-ग्रंथों और उपनिषदों के प्रतीक" खोजते हैं। सिंधु लिपि में वैदिक भाषा खोजने के प्रयास से हमारा कोई सैद्धान्तिक विरोध नहीं है; पर सिंधु सभ्यता के उपलब्ध पुरातत्वावशेष इसी तथ्य की ओर इशारा करते हैं कि सिंधु सभ्यता वेदों की सभ्यता से भिन्न थी। और, वैदिक साहित्य के अध्येता अच्छी तरह जानते हैं कि ऋग्वेद के यातुधर्म में और कालान्तर में रचित ब्राह्मण-ग्रंथों और उपनिषदों के धर्म में बड़ा अंतर है। हम यह स्वीकार करते हैं कि ब्राह्मण और उपनिषदों में आर्यों की संस्कृति और देशज संस्कृति का समन्वय हुआ है। पर ब्राह्मणों और उपनिषदों के प्रतीक अध्यात्मवाद और रहस्य का जामा पहने हुए हैं। इनके विपरीत, ऋग्वेद कालीन धर्म-कर्म उतना अध्यात्म-वादी और रहस्यमय नहीं था। अतः ऋग्वेद को छोड़कर बाद के ब्राह्मणों और उपनिषदों के प्रतीकों को सिंधु लिपि पर लागू करना, अपनी अध्यात्मिकता का परिचय देने के अलावा और कुछ नहीं है।

डा० फतहसिंह ने सिंधु लिपि में अक्षरात्मक, भावचित्रात्मक, लिपि-द्वय, लिपि-त्रय और लिपि-चतुष्टय संकेत खोजे हैं। उनका कहना है कि सिंधु लेख चार प्रकार की लिपियों में लिखे गये हैं। उनका अनुमान है कि इनमें से तीन लिपियां दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी गई हैं और चौथी संभवतः बायीं ओर से दायीं ओर को। संक्षेप में, डा० फतहसिंह का यह अन्वेषण एक प्रकार की खिचड़ी है।

तीसरे दावेदार हैं फिनलैंड के चार वैज्ञानिक—आस्को पारपोला, पी० आल्तो, सिमो पारपोला और एस० कोस्केन्निएमी। इनमें एक भारतविद है, दूसरा असीरी-पुराविद है, तीसरा भाषाविद है और चौथा है गणितज्ञ। इन्होंने संगणक (कंप्यूटर) की सहायता से सिंधु लिपि के लेखों का विश्लेषण किया है। शब्दों के आरंभ और अंत में आनेवाले व्याकरणात्मक प्रत्ययों की बारंबरता ज्ञात करने के लिए ही संगणक की सहायता ली गई है। रूसी पुराविद भी संगणक की सहायता से सिंधु लिपि के अन्वेषण में जुट हुए हैं। रूसी पुराविदों ने संगणक की मदद से ही मय लिपि का उद्घाटन किया है। इंग्लैंड के माइकेल वेंट्रिस ने इसी प्रकार आंतरिक विश्लेषण करके क्रीट की रैखिक-ब लिपि का उद्घाटन किया था। भाषा अज्ञेय होने पर पुरालिपि के अन्वेषण का यही तरीका सर्वोत्तम है।

रूसी और फिनी वैज्ञानिक सिंधु लिपि में प्राक्-द्रविड़ भाषा के दर्शन करते हैं। फिनी वैज्ञानिकों ने अपने अन्वेषण में कुछ संकेतों के अर्थ जान लिये हैं। इनमें से कुछ को आगे दिया जाता है :

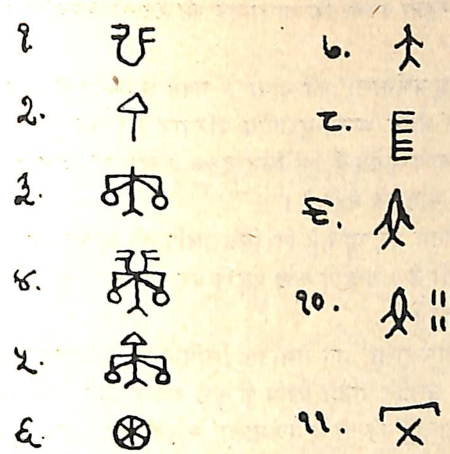

१. संबंध कारक
२. संप्रदान कारक, एकवचन
३. कर्त्ता कारक, बहुवचन
४. सम्बंध कारक, बहुवचन
५. संप्रदान, बहुवचन
६. राजा
७. आदमी
८. स्त्री, कंघी
९. तारा
१०. छह तारे (कृत्तिका नक्षत्र)
११. मंदिर, राजमहल

इन फिनी वैज्ञानिकों की विधि वैज्ञानिक है, इसमें संदेह नहीं। परंतु इनके अध्ययन में भी कमियां हैं। प्राक्-द्रविड़ भाषा के व्याकरण के बारे में इनकी जानकारी पूर्णतः यथार्थ नहीं है। इनके अध्ययन की यह शुरूआत मात्र है।

अभी कुछ महीने पहले एस० आर० राव ने सिंधु लिपि के बारे में अपना अध्ययन प्रकाशित किया है। १२ दिसम्बर, १९७१ की 'इलस्ट्रेटेड वीक्ली' में उनका जो लेख प्रकाशित हुआ है, उसी के आधार पर मैं यह जानकारी दे रहा हूं।

राव का मत है कि आरंभिक हड़प्पा संस्कृति (२५००-१९०० ई० पू०) की सिंधु लिपि में ३९० चिह्न थे, जिनमें लगभग ४० मौलिक चिह्न थे। किन्तु कालान्तर की हड़प्पा संस्कृति (१९००-१६०० ई० पू०) की सिंधु लिपि में सिर्फ २० मौलिक चिह्न रह गये थे। इसका अर्थ यह हुआ कि कालान्तर की सिंधु लिपि वर्णमालात्मक बन गई थी।

यह कैसे संभव हुआ ? राव का कहना है कि यह पश्चिम एशिया की सेमेटिक लिपि के प्रभाव से हुआ था। उन्होंने कनानी और फिनीशियन जैसी उत्तरी सेमेटिक लिपियों के संकेतों में और कालान्तर की सिंधु लिपि के संकेतों में साम्य भी खोजा है। इतना ही नहीं, उन्होंने सेमेटिक 'व्यंजनमाला' के ध्वनिमानों की सहायता से ही कालान्तर की सिंधु लिपि के २० चिह्नों की 'वर्णमाला' को पढ़ने का प्रयत्न किया है।

राव का कहना है कि कालान्तर की सिंधु लिपि की 'वर्णमाला' में १४ या १५ व्यंजनाक्षर हैं और ५ स्वराक्षर। हम जानते हैं कि सेमेटिक लिपियों में स्वराक्षर नहीं थे। लेकिन यूनानियों ने उत्तरी सेमेटिक लिपि के आधार पर अपनी भाषा के लिए जब नई लिपि बनाई, तो उसमें उन्होंने स्वरों के लिए चिह्न बना लिये थे। राव का अध्ययन

यदि सही है तो हमें कहना पड़ेगा कि कालान्तर की हड़प्पा संस्कृति के लोगों ने भी ऐसा ही किया था।

और, इस 'सिंधु वर्णमाला' की भाषा ? अपने अध्ययन से राव इस परिणाम पहुंचे हैं कि सिंधु लोगों की भाषा भारत-यूरोपीय परिवार की थी, भारत-ईरानी वर्ग की। लेकिन वे यह भी जानकारी देते हैं कि जिन ३६० शब्दों को उन्होंने खोजा है, उनमें ३० शब्द भारत-यूरोपीय भाषा के नहीं हैं।

राव इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि सिंधु लिपि की भाषा वेदों की प्राचीन संस्कृत भाषा से काफी मिलती है। उन्होंने कुछ मुहरों पर 'राजा' के लिए 'पाल', 'पालक', 'त्र' आदि शब्द भी खोजे हैं।

राव ने 'सिंधु वर्णमाला' का सेमेटिक लिपियों के साथ साम्य दरशाने के लिए जो तालिका दी है, उसमें उन्होंने ब्राह्मी लिपि के कुछ अक्षर दिये हैं। अतः लगता है कि ब्राह्मी वर्णमाला कालान्तर की 'सिंधु वर्णमाला' से बनी थी। पर राव भी स्वीकार करते हैं कि सिंधु लिपि दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थी।

संक्षेप में, यह है एस० आर० राव का अध्ययन। लेकिन गहराई से देखें तो इसमें भी कई न्यूनताएं हैं। इसलिए हमें मानना पड़ता है कि सिंधु लिपि अभी भी अज्ञेय बनी हुई है।

सिंधु लिपि में कोई द्रविड़ भाषा खोजता है, कोई वैदिक भाषा। हमें इस बात को भी नज़रअंदाज नहीं करना चाहिए कि सिंधु लिपि में इन दोनों के अलावा कोई तीसरी भाषा निहित हो सकती है। इसलिए इस लिपि के अन्वेषण का सर्वोत्तम तरीका यही है कि इसका अध्ययन इसके आंतरिक व्याकरणात्मक विश्लेषण से आरंभ किया जाय—क्रीट की रैखिक-ब लिपि की तरह।

सुमेर के साथ सिंधु सभ्यता के गहरे संबंध थे। यदि कोई द्वैभाषिक लेख प्राप्त हो जाता तो इस लिपि के उद्घाटन में आसानी होती। लगता है कि किसी द्वैभाषिक लेख के प्राप्त होने पर ही अब इस लिपि का रहस्योद्घाटन संभव है। किंतु तब तक इसके विश्लेषण के प्रयास जारी रहने चाहिए, जारी रहेंगे।

२०

खरोष्ठी लिपि

भारत में मुसलमानी शासन के साथ जिस प्रकार अरबी-फारसी लिपि के आधार पर उर्दू के लिए दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी जानेवाली एक लिपि को जन्म दिया गया, उसी प्रकार भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश पर ईरानियों का अधिकार हो जाने पर वहां ई० पू० चौथी शताब्दी में आरमेई लिपि के आधार पर दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जानेवाली एक नई लिपि—खरोष्ठी—का निर्माण किया गया था। सम्राट अशोक (२७२-२३२ ई० पू०) के मानसेहरा (हजारा जिला, पाकिस्तान) तथा शाहबाज़गढ़ी (पेशावर जिला) के शिलालेख इस खरोष्टी लिपि में ही हैं। इन दो शिलालेखों के अलावा अशोक के अन्य सारे लेख ब्राह्मी लिपि में हैं। भारत पर सिकन्दर के आक्रमण (३२७ ई० पू०) के बाद पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा बख्त्रिया (बल्ख) पर यूनानियों का शासन स्थापित हुआ, तो उन्होंने भी अपने सिक्कों पर खरोष्ठी लिपि के अक्षरों का उपयोग किया। यूनानियों के भी पहले ईरानी शासकों के चांदी के सिक्कों पर खरोष्ठी लिपि के अक्षरों के ठप्पे देखने को मिलते हैं। यूनानियों के बाद शक, क्षत्रप, पह्लव, कुषाण तथा औदुंबर राजाओं ने भी इस लिपि का इस्तेमाल किया। खरोष्ठी के अधिकतर लेख प्राचीन गंधारदेश में ही मिले हैं। तक्षशिला के धर्मराजिका-स्तूप की खुदाई से रजत-पत्र पर अंकित खरोष्ठी का सन् ७८ का एक लेख मिला है। वहीं से ताम्रपत्र पर सन् ७६ का और एक लेख मिला है। प्राचीन पुष्कलावती (चारसद्दा) तथा अफ़गानिस्तान के वर्डक और हड्डा स्थान से भी खरोष्ठी के लेख मिले हैं। मथुरा से भी महाक्षत्रप राजुल की रानी का सिंहाकृति पर खुदा हुआ खरोष्ठी लेख मिला है। वैसे तो पटना से भी खरोष्ठी का एक लेख मिला है, परंतु यह पश्चिमोत्तर भारत के किसी यात्री द्वारा पटना लाया गया होगा। इनके अलावा, सिद्धापुर (मैसूर राज्य) के अशोक के ब्राह्मी लेख की अंतिम पंक्ति में 'चपडेन लिखिते' के बाद 'लिपिकरेण' शब्द के पांच अक्षर खरोष्ठी लिपि में खुदे

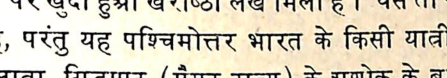

अशोक के सिद्धापुर (मैसूर राज्य) के पास के ब्रह्मगिरि लेख की अंतिम पंक्ति। इसमें बायीं ओर के शब्द हैं "चपडेन लिखिते" (ब्राह्मी में) और दायीं ओर का शब्द है "लिपिकरेण" (खरोष्ठी लिपि में), जो दायीं ओर से बायीं ओर पढ़ा जायेगा।

हुए हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इस लेख का लेखक पश्चिमोत्तर भारत का निवासी रहा होगा। लेकिन इन उदाहरणों का अर्थ यह नहीं है कि दक्षिण में मैसूर और पूर्व में पटना

तक खरोष्ठी लिपि का प्रचार रहा है। वस्तुतः गंधारदेश में ही इस लिपि ने जन्म लिया था और वहीं पर इसका सर्वाधिक प्रयोग हुआ।

लेकिन अब हमें चीनी तुर्किस्तान को भी खरोष्ठी लिपि का क्षेत्र मानना पड़ेगा। १८९२ में एक फ्रेंच यात्री देरिन ने खोतान से खरोष्ठी लिपि में भोजपत्र पर लिखी हुई 'धम्मपद' की एक प्रति प्राप्त की थी। भोजपत्र पर लिखी हुई यह सबसे प्राचीन उपलब्ध पुस्तक है। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता आरेल स्टाइन (१८६२-१९४३) ने मासी-मजार, नीया, लोन-लन् आदि स्थानों से काष्ठपट्टिकाओं पर लिखे हुए सैकड़ों खरोष्ठी लेख प्राप्त किये हैं। इन काष्ठपट्टिकाओं की लंबाई ७½ से १५ इंच और चौड़ाई १½ से २½ इंच हैं। कुछ चौकोर पट्टिकाएं भी मिली हैं। इन पट्टिकाओं को जब पत्र की तरह भेजा जाता था, तो इन्हें दूसरी पट्टिकाओं से लिफ़ाफे की तरह ढककर इन पर मुहर लगा दी जाती थी। नीया से चर्मपट पर भी खरोष्ठी के लेख मिले हैं। खरोष्ठी लिपि के ये सारे लेख प्राकृत में हैं, जो धम्मपद की प्राकृत से काफी मिलती-जुलती है। चीनी तुर्किस्तान से ही एक पट्टिका पर खरोष्ठी लिपि में संस्कृत के चार श्लोक मिले हैं। संस्कृत के लिए खरोष्ठी लिपि के प्रयोग का यह एकमात्र उपलब्ध उदाहरण है। लोन-लन् से कागज पर भी खरोष्ठी के लेख मिले हैं।

सामान्यतः ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से ईसा की चौथी शताब्दी तक खरोष्ठी लिपि का व्यवहार होता रहा है। खरोष्ठी के प्राचीनतम अभिलेख अशोक के शाहबाज़-गढी तथा मानसेहरा के शिलालेख हैं। भारत में उपलब्ध खरोष्ठी के सब से बाद के अभिलेख कुषाण शासकों (ईसा की तीसरी और चौथी शताब्दी) के हैं। चीनी तुर्किस्तान के लेख भी तीसरी-चौथी शताब्दी के हैं। सम्भवतः इसके बाद भी वहां के निवासियों ने कुछ समय तक इस लिपि को कायम रखा हो; परंतु भारत में पांचवीं शताब्दी में जब हूणों का आगमन होता है तो हम खरोष्ठी का कहीं कोई अस्तित्व नहीं देखते। जब विदेशी शासक भारत की संस्कृति में घुल-मिल गये तो उन्होंने इस खरोष्टी लिपि को त्यागकर यहां की अधिक प्रचलित ब्राह्मी लिपि को अपना लिया।

खरोष्ठी लिपि के नामकरण के बारे में विद्वानों में काफी मतभेद है। कुछ विद्वानों ने इसे 'इंडो-बैक्ट्रियन', 'बैक्ट्रियन', 'बैक्ट्रो-पालि', 'काबुली', 'गांधारी' आदि नाम भी दिये हैं। लेकिन अब इस लिपि के लिए 'खरोष्ठी' नाम ही रूढ़ हो गया है। किंतु इस नाम की उत्पत्ति के बारे में भी नाना प्रकार के मत प्रचलित हैं। प्रसिद्ध बौद्धग्रंथ 'ललित-विस्तर' (ईसा की दूसरी शताब्दी में रचित) के दसवें अध्याय में ६४ लिपियों के नाम गिनाये गये हैं, जिनमें पहला नाम 'ब्राह्मी' का और दूसरा 'खरोष्ठी' का है। इन ६४ नामों में अधिकतर नाम कल्पित ही जान पड़ते हैं। ६६८ ई० में लिखे गये एक चीनी बौद्ध विश्वकोश "फा-वान-शु-लिन्" में भी ब्राह्मी और खरोष्टी लिपि के उल्लेख मिलते हैं। इसमें खरोष्ठी लिपि के बारे में लिखा है—"किअ-लु (किअ-लु-से-टो>क-लु-से-टो>ख-रो-स-ट>खरोष्ठ) की लिपि दायीं ओर से बायीं ओर को पढ़ी जाती है।...ब्रह्मा और खरोष्ठ भारतवर्ष में हुए। ब्रह्मा और खरोष्ठ ने अपनी लिपियां देवलोक से पायीं।" ललित-विस्तर और चीनी विश्वकोश के इन्हीं उल्लेखों के आधार पर प्रसिद्ध पुरालिपिविद बूलर ने इस लिपि को 'खरोष्ठी' का नाम दिया था। खरोष्ठ का अर्थ 'गधे के ओंट वाला' होता है! एक मत के अनुसार गधे की खाल पर लिखी जाने से इसे ईरानी में 'खरपोस्त' कहते थे और उसी का अपभ्रंश रूप खरोष्ठ है। एक अन्य मत के अनुसार, आरमेई भाषा में 'खरोट्ठ' शब्द था,

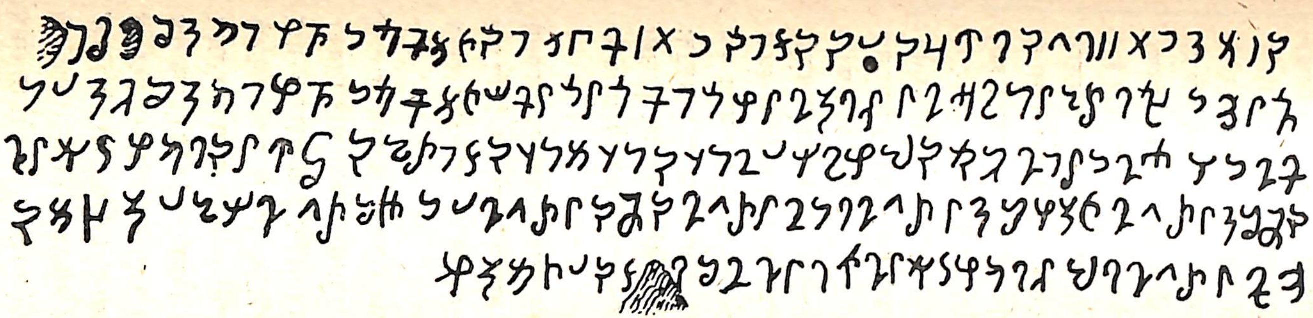

तक्षशिला के धर्मराजिका स्तूप से प्राप्त रजत-पत्र पर खरोष्ठी लिपि का लेख (प्रथम शताब्दी ई०)। इसमें इस बात का उल्लेख है कि श्रय-वर्ष १३६ (लग० ७८ ई०) में बलख देश के उरसक ने उपर्युक्त स्तूप के निजी उपासना-गृह में अपने गुरुजनों, संबंधियों और मित्रों के सम्मान के लिए तथा महान कुषाण सम्राट और अपने स्वास्थ्य के लिए भगवान बुद्ध के अस्थि-अवशेषों को प्रतिष्ठित किया।

और उसी के भ्रामक साम्य के आधार पर यह 'खरोष्ठ' शब्द बना। लेकिन ये सारे मत अटकलें ही हैं; इनमें से किसी भी एक मत को ठोस प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

खरोष्ठी लिपि, सेमेटिक लिपियों की तरह, दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थी। इस लिपि के कुछ अक्षर ही नहीं, बल्कि इनके ध्वनिमान भी आरमेई लिपि से मिलते हैं। इसलिए अनेक विद्वानों का मत है कि खरोष्ठी लिपि का निर्माण आरमेई लिपि के आधार पर हुआ है। ईरान के हख़ामनी शासन-काल में संपूर्ण पश्चिम एशिया में आरमेई भाषा तथा लिपि का प्रचार था। तक्षशिला से भी आरमेई लिपि में लिखा हुआ एक शिलालेख मिला है। हख़ामनी शासकों का गंधारदेश पर भी शासन रहा है। आरमेई लिपि सेमेटिक भाषाओं को लिखने के लिए तो ठीक थी, परंतु भारोपीय परिवार की प्राकृत भाषा को इस लिपि में लिखना संभव नहीं था। इसलिए, ऐसा जान पड़ता है कि, ई० पू० पांचवीं शताब्दी में गंधार देश में, आरमेई लिपि का अनुकरण करते हुए, इस नई खरोष्ठी लिपि को जन्म दिया गया। आरमेई लिपि में केवल २२ अक्षर थे और इसमें स्वरों की अपूर्णता (जैसा कि सभी सेमेटिक लिपियों में देखने को मिलता है) थी और इनमें ह्रस्व-दीर्घ का कोई भेद नहीं था। इसलिए प्राकृत (पालि) के लिए नई लिपि को जन्म देते समय कुछ नये स्वर तथा इनकी मात्राओं के लिए संकेत गढ़ने पड़े। खरोष्ठी लिपि की वर्णमाला को देखने से स्पष्ट पता चलता है कि इसके निर्माण में ब्राह्मी लिपि का प्रभाव काफी रहा है। इतना होने पर भी ब्राह्मी की तरह खरोष्ठी के स्वरों तथा उनकी मात्राओं में ह्रस्व-दीर्घ का भेद नहीं है। इसमें संयुक्ताक्षर भी बहुत कम मिलते हैं। कुछ संयुक्ताक्षरों का पढ़ना तो अब भी संदेहयुक्त माना जाता है। वस्तुतः जिस प्रकार हमारे देश में आज भी एक कामचलाऊ 'महाजनी लिपि' प्रचलित है, उसी प्रकार इस खरोष्ठी का जन्म भी मामूली पत्र-व्यवहार, बही-खातों के हिसाब आदि के लिए ही हुआ था।

यद्यपि खरोष्ठी के लेख आज शिलाओं, धातु-फलकों, काष्ठ-पट्टिकाओं, सिक्कों, भूर्जपत्रों तथा कागज पर मिलते हैं, किंतु इन सभी लेखन-सामग्रियों पर इस लिपि का सामान्यतः एक-सा ही स्वरूप देखने को मिलता है। वस्तुतः यह लिपि स्याही और कलम से लिखने के लिए अधिक उपयुक्त थी।

पिछली शताब्दी के पूर्वार्ध में कर्नल जेम्स टॉड, जनरल वेंटुरा, अलेक्जेंडर बर्न्स आदि पुराविदों ने बैक्ट्रियन, यूनानी, शक, पह्लव तथा कुषाण शासकों के ढेर सारे सिक्कों का संग्रह किया था। इन सिक्कों में से कई पर एक तरफ यूनानी लिपि के अक्षर हैं और दूसरी तरफ खरोष्ठी लिपि के। आरंभ में इस खरोष्ठी लिपि के बारे में काफी अटकलें लगाई गई थीं। इन सिक्कों के यूनानी अक्षरों को आसानी से पढ़ा जा सकता था। अफ़गानिस्तान में पुरातत्वान्वेषण में जुटे हुए मेसन महाशय ने सबसे पहले सिक्कों के एक तरफ के यूनानी नामों की दूसरी ओर के खरोष्ठी अक्षरों से तुलना करके इनका अध्ययन किया, तो उन्हें 'मिनांडर' 'एपोलोडोटस', 'हर्मिअस,' 'बेसिलियस' (राजा) और 'सोटेरस' (रक्षक) शब्दों के खरोष्ठी अक्षरों को भी पहचानने में सफलता मिली। मेसन ने अपनी इस खोज की जानकारी जेम्स प्रिन्सेप को दी। प्रिन्सेप (१७६६-१८४०) उस समय ब्राह्मी और खरोष्ठी के अन्वेषण में जुटे हुए थे। प्रिन्सेप ने ब्राह्मी लिपि का तो उद्घाटन किया ही, उन्हें इस खरोष्ठी लिपि का भी उद्घाटन करने का श्रेय प्राप्त है। मेसन के अक्षरमानों के आधार पर प्रिन्सेप को आरंभ में १२ राजाओं के नामों तथा ६ पदवियों

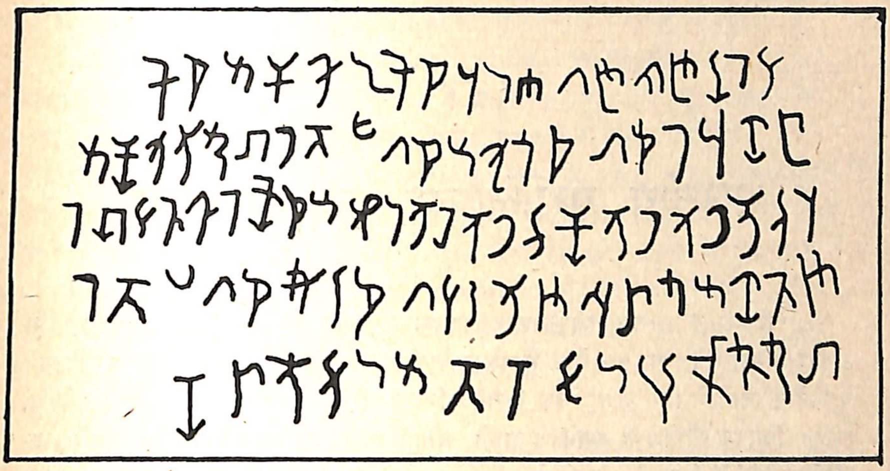

खरोष्ठी लिपि में शाहबाजगढ़ी का सप्तम शिलालेख। दायीं ओर से बायीं ओर को यह पढ़ा जाता है :

१. देवनं प्रियो प्रियशि रज सव्रत्र इछति सव्र

२. प्रषंड वसेयु सवे हि ते सयमे भवशुधि च इछंति

३. जनो चु उचवुचछंदो उचवुचरगो ते सव्र एकदेशं व

४. पि कषंति विपुले पि चु दने बस नस्ति सयम भव

५. शुधि किट्रञत द्रिढ़ भतित निचे पडं

अर्थात्,

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा चाहते हैं कि सब जगह सब संप्रदाय के लोग (एकसाथ) निवास करें, क्योंकि सब संप्रदाय संयम और चित्त की शुद्धि चाहते हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न मनुष्यों की प्रवृत्ति तथा रुचि भिन्न-भिन्न--ऊंची या नीची, अच्छी या बुरी होती है। वे या तो संपूर्ण रूप से या केवल आंशिक रूप से (अपने धर्म का पालन) करेंगे। किन्तु जो बहुत अधिक दान नहीं कर सकता उसमें संयम, चित्तशुद्धि, कृतज्ञता और दृढ भक्ति का होना नितान्त आवश्यक है।

को पढ़ने में सफलता मिली। इसके साथ यह भी पता चला कि यह लिपि दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थी। लेकिन प्रिन्सेप आरंभ में इस लिपि की भाषा को गलती से पहलवी समझ बैठे थे। १८३८ में पहली बार दो बैक्ट्रियन राजाओं के सिक्कों पर प्राकृत (पालि) में लेख देखने को मिले, तो यह सिद्ध हो गया कि खरोष्ठी लेखों की भाषा पालि है। इसके बाद खरोष्ठी लिपि के अक्षरों को पहचानना और भी अधिक आसान हो गया। प्रिन्सेप ने स्वयं इस लिपि के १७ अक्षर पहचाने थे। बाद में जनरल कनिंघम (१८१४-९३) ने खरोष्ठी की संपूर्ण वर्णमाला तथा संयुक्ताक्षरों को पहचानने का काम पूर्ण कर दिया।

२१

भारतीय पुरालिपियों का अन्वेषण

दिल्ली के सुल्तान फ़ीरोज़शाह तुगलक (१३५१-१३८८ ई०) ने १३५६ में टोपरा (अम्बाला जिला) तथा मेरठ से अशोक के दो स्तंभ बड़ी कठिनाई से मंगवाकर दिल्ली में खड़े करवाये थे। ये दोनों स्तंभ कितने परिश्रम और उत्साह से दिल्ली लाये गये थे, इसका विवरण फ़ीरोज के अपने दरबारी इतिहासकार शम्स-इ-शीराज ने 'तारीख़-इ-फ़ीरोज़शाही' में दिया है। इनमें से एक स्तंभ फ़ीरोज़शाह के कटरे में और दूसरा 'कुश्क शिकार' (शिकार का महल) के पास खड़ा करवाया गया था। फ़ीरोज़ ने इन स्तंभों पर उत्कीर्ण लेखों को पढ़ने के लिए बहुत-से पंडितों को आमंत्रित किया, किंतु उस समय ऐसा कोई विद्वान उसे नहीं मिला जो इन स्तंभ-लेखों को पढ़ सके। इससे पता चलता है कि १४वीं शताब्दी के पहले ही हमारे देश से ब्राह्मी तथा गुप्त लिपि का ज्ञान लुप्त हो गया था। ज्ञात होता है कि अकबर बादशाह को भी इन प्राचीन स्तंभ-लेखों का अर्थ जानने की बड़ी इच्छा थी, परंतु उसे भी अपने समय में ऐसा कोई विद्वान नहीं मिला जो इन पुरालेखों को पढ़ सके।

१७वीं शताब्दी के कुछ यूरोपीय पर्यटकों ने भी अपने यात्रा-विवरणों में इन स्तंभों का उलेख किया है। टॉम कोरयट (यात्रा: १६१२-१८) ने दिल्ली के अशोक-स्तंभ को 'महान अलेक्जेंडर का स्तंभ' समझ लिया और इस पर उत्कीर्ण ब्राह्मी लेख को यूनानी लिपि का लेख! अशोक के ब्राह्मी लेखों को यदि गौर से न देखें, तो यूरोप का कोई यात्री इन्हें सहज ही यूनानी लेख समझने की गलती कर सकता है। कोरयट के भी पहले विलियम फिंच (यात्रा: १६०८-११) ने दिल्ली और प्रयाग के अशोक-स्तंभों को देखा था, और अपने यात्रा-ग्रंथ में उसने इनका विवरण भी दिया है।

१८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, अंग्रेजों के पैर भारत में जम गये, तो उन्होंने भारतीय संस्कृति के अध्ययन की ओर भी कुछ ध्यान दिया। संस्कृत भाषा की समृद्धि ने तो यूरोपवासियों को और भी अधिक आकर्षित किया। सर विलियम जोन्स (१७४६-६४) की प्रेरणा तथा प्रयास से "एशिया के इतिहास....पुरातत्व, कला, विज्ञान, साहित्य आदि के अनुशीलन के लिए" कलकत्ता में १५ जनवरी, १७८४ को "एशियाटिक सोसायटी" की स्थापना हुई। १७८८ से इस सोसाइटी का "एशियाटिक रिसर्चेज" नाम से एक मुखपत्र भी प्रकाशित होने लग गया था। इस सोसायटी के माध्यम से बहुत-से यूरोपीय विद्वान भारतीय पुरातत्व का अनुशीलन करने में जुट गये और इस प्रकार भारत की पुरालिपियों का अन्वेषण-कार्य भी आरंभ हो गया।

विलियम जोन्स के सहयोगी चार्ल्स विल्किन्स पहले अंग्रेज विद्वान थे जिन्होंने संस्कृत

भाषा का गहरा अध्ययन किया था। विल्किन्स ही पहले व्यक्ति थे जिन्हें भारतीय पुरालिपियों को पढ़ने में आंशिक सफलता मिली थी। १७८१ में उन्होंने मुंगेर से प्राप्त बंगाल के राजा देवपाल का दानपत्र पढ़ा। १७८५ में उन्होंने बदाल (दीनाजपुर जिला) के एक स्तंभ पर उत्कीर्ण बंगाल के राजा नारायणपाल का लेख भी पढ़ा। इसी साल पंडित राधाकांत शर्मा ने टोपरा से दिल्ली लाये गये अशोक-स्तंभ पर उकेरा हुआ विक्रम-संवत् १२२० का अजमेर के चौहान राजा आन्नलदेव के पुत्र बीसलदेव का लेख पढ़ा। इसी वर्ष बुद्धगया के पास की नागार्जुनी तथा बराबर गुफाओं में पाये गये मौखरी वंश के राजा अनन्तवर्मन के लेखों को जब हैरिंगटन ने पढ़ने की कोशिश की, तो उसे सफलता नहीं मिली। परन्तु १७८५-८९ के बीच चार्ल्स विल्किन्स को, बड़े परिश्रम के बाद, इन लेखों को पढ़ने में सफलता मिली। इस प्रकार, विल्किन्स ने गुप्त लिपि की लगभग आधी वर्णमाला को जान लिया था।

१८१८ से १८२३ के बीच कर्नल जेम्स टॉड ने राजस्थान और काठियावाड़ में बहुत-से पुरालेखों का संग्रह किया और इनमें से ७वीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक के लेखों को उन्होंने अपने गुरु यति ज्ञानचन्द्र की सहायता से पढ़ा। टॉड ने राजस्थान के बारे में एक वृहद ग्रंथ भी लिखा है।

१८३४ में कप्तान ट्रायर ने प्रयाग के अशोक-स्तंभ पर उत्कीर्ण समुद्रगुप्त का लेख पढ़ा। इसके बाद मिल तथा जेम्स् प्रिन्सेप ने भी अनेक गुप्तकालीन लेख पढ़े। हम बतला चुके हैं कि, विल्किन्स गुप्त लिपि की लगभग आधी वर्णमाला को खोज चुके थे। प्रिन्सेप, ट्रायर तथा मिल के प्रयासों से अब गुप्त लिपि की पूर्ण वर्णमाला भी ज्ञात हो गई थी।

अब तक गुप्त लिपि से भी अधिक प्राचीन ब्राह्मी लिपि के अनेक लेखों का संग्रह हो चुका था। परन्तु यह लिपि अधिक प्राचीन होने से इसको पढ़ पाना उतना आसान काम नहीं था। मजेदार बात यह है कि आरंभ में प्रायः सभी पुराविद इस ब्राह्मी लिपि की भाषा को संस्कृत मान बैठे थे। लेकिन अंत में इस ब्राह्मी लिपि का भी उद्घाटन हो ही गया, और इसका श्रेय है जेम्स प्रिन्सेप को।

जेम्स प्रिन्सेप (१७९९-१८४०) १८३२ से १८४० तक कलकत्ता की टकसाल के अधिकारी थे, साथ ही बंगाल की एशियाटिक सोसायटी के सेक्रटरी भी। हम बतला चुके हैं कि प्रिन्सेप ने गुप्त लिपि की वर्णमाला को पढ़ने में सहयोग दिया था। गुप्त लिपि के उद्घाटन के बाद वह ब्राह्मी लिपि के अन्वेषण में लग गये। पता चलता है कि लगातार सात साल तक प्रिन्सेप इस ब्राह्मी लिपि के अन्वेषण में जुटे रहे। उन्होंने भारत के विभिन्न भागों से ब्राह्मी लिपि के लेखों की अनुकृतियां मंगवाईं और वह उनका तुलनात्मक अध्ययन करते रहे और ब्राह्मी के अक्षरों की गुप्त लिपि के अक्षरों के साथ सतत तुलना करके देखते रहे। अंत में सांची के प्रसिद्ध स्तूपों से प्राप्त संक्षिप्त लेखों का अध्ययन करने पर प्रिन्सेप को ब्राह्मी के उद्घाटन की कुंजी भी मिल गई। संयोगवश उनके हाथ यह कुंजी कैसे लगी, इसका रोचक वर्णन उनके अपने शब्दों में ही पढ़ना अधिक बेहतर होगा :

"मैं जब प्लेट नं० १७ (सांची के अभिलेख) के विभिन्न अंशों का संयोजन एवं शिला-मुद्रण कर रहा था, तो मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि इन सभी लेखों के अंत

में सदैव दो अक्षर-संकेत पाये जाते हैं, अर्थात । इन दो संकेतों पर विचार करते हुए मैंने यह भी जाना कि इनकी स्थिति स्वतंत्र है और ये शब्दांश संकेत नहीं हैं। आगे मैंने यह भी सोचा कि ये संकेत किसी मृत्यु-लेख या दान-लेख से संबंधित होने चाहिए; क्योंकि 'अवा' के बुद्ध-मंदिरों तथा चैत्यों आदि के लिए मूर्ति-दान या प्राकार-निर्माण के समय यह देखने को मिलता है कि दायक अपना नाम एवं दान वहां अंकित करवा देता है। इसके बाद मैंने देखा कि इन दो संकेतों वाले शब्द के पहले प्राय: अक्षर देखने को मिलता है, जिसके 'स' होने की मुझे पहले से जानकारी थी। केवल एक या दो दिन पहले ही एक 'सौराष्ट्र' सिक्के का अध्ययन करते समय मैंने यह जाना था कि यह संकेत संबंध-कारक एकवचन के प्रत्यय का अक्षर है, जो कि पालि में 'स्स' है और संस्कृत में 'स्य' । अतः 'अमुक का दान' ही प्रत्येक संक्षिप्त लेख का अर्थ होना चाहिए । 'आ' की मात्रा तथा अनुस्वार के बिंदु को मैं पहले से जानता था, इसलिए अब मैं सहज ही उपर्युक्त दो संकेतों को 'दानं' के रूप में पढ़ सकता था। इस प्रकार मुझे 'द' और 'न' के दो नये अक्षर-संकेत मिल गये। इन दो अक्षरों को खोजने की पहले भी मैंने बहुत कोशिश की थी, किन्तु हमेशा ही असफल रहा था। १८३४ से अध्ययन करते चले आने के कारण अब मैं इस प्राचीन अक्षरमाला से इतना अधिक परिचित हो गया था कि प्रस्तुत लेख-संग्रह के शेष सभी लेखों को अब मैं आसानी से या कुछ परीक्षण के बाद पहचानने लग गया। चंद मिनटों में ही मैंने संपूर्ण वर्णमाला को जान लिया और तदनंतर इस वर्णमाला की परीक्षा के लिए इससे मैंने दिल्ली-स्तंभ के लेख को भी पढ़ना आरंभ कर दिया।" ('जर्नल आफ द एशियाटिक सोसायटी आफ बेंगाल, खंड ६, पृष्ठ ४६०-७७, ५६६-६०६) ।

प्रिन्सेप ने आरंभ में इस वर्णमाला को 'सांची वर्णमाला' का नाम दिया था। इस वर्णमाला का ज्ञान हो जाने के बाद उन्होंने अशोक के अन्य स्तंभ ('लाट')-लेखों को भी पढ़ा। उन्होंने दिल्ली और प्रयाग के अशोक-स्तंभों के लेखों को पढ़कर उनका विस्तृत विवेचन भी प्रकाशित किया। उन्होंने अशोक के गिरनार वाले शिलालेख का अध्ययन करके इसमें कुछ यूनानी शासकों के नामों की भी खोज की। चूंकि, इन यूनानी शासकों का काल ज्ञात था, इसलिए गिरनार के शिलालेख के निर्माता सम्राट अशोक का काल भी सुनिश्चित हो गया। इस प्रकार भारतीय पुरातत्वान्वेषण को एक सुदृढ़ तैथिक आधार भी प्राप्त हो गया।

केवल ४१ वर्ष की अल्पायु में २२ अप्रैल, १६४० में प्रिन्सेप की मृत्यु हो गई। मिस्र की हाइरोग्लिफिक लिपि के अन्वेषक शेम्पोलियों और मेसोपोटामिया की कीलाक्षर लिपि के उद्घाटन-कर्त्ता रौलिन्सन की तरह भारत की ब्राह्मी लिपि के उद्घाटन-कर्त्ता जेम्स प्रिन्सेप का नाम हमेशा ही गौरव के साथ स्मरण किया जायेगा।

प्रिन्सेप की इस महान खोज से भारतीय पुरातत्व में एक नये अध्याय का आरंभ हुआ। उसके बाद भारत के प्राचीनतम अभिलेखों को भी पढ़ना संभव हो गया और भारतीय इतिहास तथा पुरातत्व की प्राय: प्रत्येक शाखा को एक सुदृढ़ आधार प्राप्त हो गया। इसके बाद भारतीय इतिहास से संबंधित हर नई खोज का समकालीन लेखों के आधार पर अधिक व्यापक अध्ययन संभव हो गया। प्रिन्सेप के बाद फर्ग्युसन, कनिंघम,

एडवर्ड थॉमस, वाल्टेर इलियट, स्टिवेन्सन, डा० भाऊ दाजी, राजेन्द्रलाल मित्र जैसे अनेक चोटी के पुरालिपिविदों ने भारतीय लिपियों के अध्ययन तथा अन्वेषण को आगे बढ़ाया।

सिंधु सभ्यता के काल को सामान्यतः हम २६०० ई० पू० से १५०० ई० पू० तक मान सकते हैं। यद्यपि सिंधु लिपि अब तक पढ़ी नहीं गई है, किंतु उसका अस्तित्व ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि मिस्र, मेसोपोटामिया, चीन आदि की तरह भारत में एक समकालीन सभ्यता तथा लिपि विद्यमान थी। इसलिए जिन पुराविदों ने सिर्फ इस आधार पर कि, ब्राह्मी के पहले भारत में किसी अन्य प्राचीन लिपि का अस्तित्व देखने को नहीं मिलता इसलिए ब्राह्मी लिपि का निर्माण निश्चय ही किसी विदेशी लिपि के आधार पर हुआ होगा, यह जो धारणा बना ली थी, उसका अपने आप खंडन हो जाता है। अभी तो हम निश्चित रूप से यह भी नहीं बतला सकते कि सिंधु सभ्यता आर्य सभ्यता थी या आर्येतर सभ्यता। जितने विद्वान इसे द्रविड़ या आर्येतर सभ्यता मानते हैं, लगभग उतने ही विद्वान इसे आर्य सभ्यता मानने के पक्ष में हैं। और, थोड़ी देर के लिए इसे स्वीकार भी कर लिया जाय कि सिंधु सभ्यता आर्येतर थी, तब भी इस परिकल्पना की गुंजाइश है कि आर्यों ने १५०० ई० पू० के आसपास अपनी आर्यभाषा के लिए सिंधु लिपि के आधार पर किसी 'प्राक्-ब्राह्मी' लिपि को जन्म दिया होगा।

दूसरी ओर, ई० पू० तीसरी शताब्दी के अशोक (२७२-२३२ ई० पू०) के दर्जनों शिला एवं स्तम्भ-लेख भारत में लेखन की प्राचीनता के ठोस प्रमाण हैं। अब हमें यह देखना है कि, सिंधु लिपि के बाद और अशोक के ब्राह्मी लेखों के पहले, भारत में लेखन के अस्तित्व के बारे में किस प्रकार के प्रमाण मिल सकते हैं।

ब्राह्मी लिपि के दो-तीन ऐसे लेख उपलब्ध हैं जिन्हें कुछ पुराविद अशोक के पहले के मानते हैं। पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा को १९३२ में अजमेर जिले के बड़ली गांव से एक स्तंभ-लेख का टुकड़ा मिला था, जिस पर अंकित अस्पष्ट ब्राह्मी लेख को उन्होंने "वीराय भगवत . . चतुरासिति वस" पढ़ा था। इस लेख में 'वी' अक्षर को उन्होंने अशोक की ब्राह्मी से कुछ पहले का समझा और इस लेख को जैन तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के ८४ वर्ष बाद का, अर्थात् (५२७—८४=) ४४३ ई० पू० का माना। ओझाजी के इस मत को कुछ विद्वानों ने स्वीकार किया, तो बहुतों ने इसे अस्वीकार भी किया है।

पिपरावा (बस्ती जिला) के स्तूप से प्रस्तर का एक ऐसा पात्र मिला है जिस पर ब्राह्मी लिपि में लेख उत्कीर्ण है। इस पात्र के भीतर अस्थिधातु भी मिले हैं जो संभवतः भगवान बुद्ध के हैं। इस लेख से पता चलता है कि शाक्य कबीले के लोगों ने इस स्तूप के भीतर इन धातुओं को स्थापित किया था। हम जानते हैं कि भगवान बुद्ध का निर्वाण ४८३ ई० पू० में हुआ था। अतः माना जा सकता है कि बुद्ध के निर्वाण के कुछ वर्षों बाद ही शाक्य स्वजनों ने उनकी अस्थियों की इस स्तूप में स्थापना की थी। बूलर भी पिपरावा लेख को अशोक के पहले का मानते हैं। परंतु इधर कुछ पुरालिपिविद इस मत को अस्वीकार करने लग गये हैं।

सहगौरा (गोरखपुर जिला) से एक ऐसा ताम्रपत्र मिला है जिस पर ब्राह्मी लिपि की चार पंक्तियां अंकित हैं। इसके ऊपरी भाग में कुछ ऐसे चिह्न या प्रतीक हैं जो हमें चन्द्रगुप्त मौर्य (३२४-३०० ई० पू०) के सिक्कों पर भी मिलते हैं। इसलिए अब बहुत-से विद्वान इस ताम्रपत्र को चन्द्रगुप्त का ही स्वीकार करते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि यह ई० पू० चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध का ब्राह्मी लेख है। कुछ विद्वान इसे

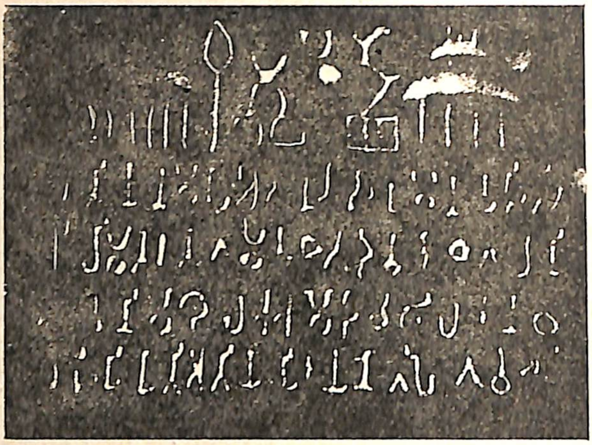

सहगौरा (गोरखपुर जिला) से प्राप्त ताम्रपत्र। इस ताम्रपत्र पर ऊपर वही चिह्न हैं जो चन्द्रगुप्त मौर्य (३२४-३०० ई० पू०) के सिक्कों पर भी मिलते हैं।

ही ब्राह्मी का प्राचीनतम उपलब्ध लेख मानते हैं। महास्थान (बांगला देश) से भी लगभग इसी काल का एक ब्राह्मी लेख मिला है। इन तथा अन्य दो-तीन प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि ई० पू० चौथी शताब्दी में भी उत्तर भारत में ब्राह्मी लिपि का प्रचार था।

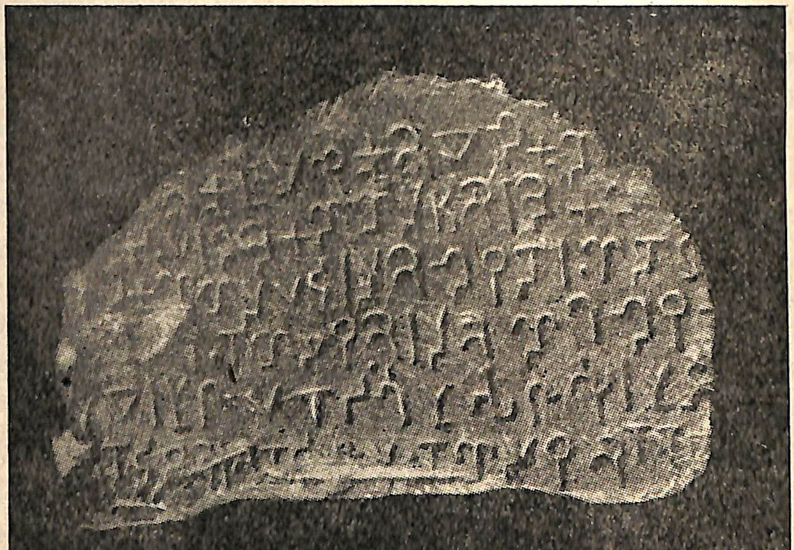

महास्थान (बांगला देश) से प्राप्त ई० पू० चौथी-तीसरी शताब्दी का ब्राह्मी लेख

पाणिनि का समय सामान्यतः ई० पू० पांचवीं शताब्दी माना जाता है, और पाणिनि की "अष्टाध्यायी" में हमें उस समय लेखन का प्रचार होने के बारे में पर्याप्त

जानकारी मिलती है। गोल्डस्टुकार तो यहां तक कहते हैं कि हस्तलिपियों के रूप में वैदिक साहित्य पाणिनि के समय में उपलब्ध था। संभव है कि पाणिनि के समय में हस्तलिखित ग्रंथों से अध्ययन-अध्यापन करने का रिवाज न रहा हो और केवल कथन-श्रवण परंपरा के अनुसार ही प्राचीन काल से विद्याध्ययन का सिलसिला चला आता रहा हो, परंतु पाणिनि कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि उनके समय में लेखन का अस्तित्व था। 'अष्टाध्यायी' में 'ग्रंथ', 'लिपि' (या 'लिबि'), 'लिपिकर' और 'यवनानी' (लिपि) जैसे शब्दों का उल्लेख मिलता है। 'लिखनेवाले' के लिए ही अष्टाध्यायी में 'लिपिकर' या 'लिबिकर' शब्द का प्रयोग हुआ है। उस समय लेखन के लिए 'लिपि' या 'लिबि' शब्द प्रचलित था। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में भी वर्णमाला के लिए 'लिपि' और अंकों के लिए 'संख्यान' शब्द मिलते हैं। हख़ामनी सम्राट दारयवुश (५२१-४८५ ई० पू०) के बेहिस्तुन-लेख में 'उत्कीर्ण लेख' के लिए 'दिपि' शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है। अशोक ने अपने लेखों के लिए सदैव 'धम्मलिपि' या 'धम्मदिपि' शब्द का प्रयोग किया है। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि पाणिनि का 'लिपि' शब्द लेखन का ही द्योतक है।

पाणिनि के उल्लेखों से यह भी पता चलता है कि उनके समय में चौपायों के कानों पर निशान के रूप में चिह्न बनाये जाते थे। इन चिह्नों में 'अष्ट' तथा 'पञ्च' के चिह्न निस्संदेह अंक ८ तथा ५ के द्योतक थे। पाणिनि ने 'यवनानी' शब्द का जो उल्लेख किया है उसका अर्थ कात्यायन और पतंजलि ने "यवनाल्लिप्याम्" अर्थात् 'यवनों की लिपि' किया है। कीथ, वेबेर आदि विद्वानों का मत है कि यहां 'यवनानी' का अर्थ ग्रीक अर्थात् यूनानी (आयोनियन) लिपि से है। अतः ज्ञात होता है कि पाणिनि यूनानी लिपि से भी परिचित थे।

ई० पू० पांचवीं शताब्दी के पहले के वैदिक साहित्य में भी लेखन के अस्तित्व के बारे में बहुत-से साहित्यिक प्रमाण मिलते हैं। पंडित गौरीशंकर ओझा ने गंभीर अनुशीलन के बाद अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "भारतीय प्राचीन लिपिमाला" में इन सभी उल्लेखों को प्रस्तुत किया है। जो विद्वान, विशेषतः विदेशी विद्वान, यह मानते थे कि तीसरी शताब्दी ई० पू० के पहले भारत में लेखन का प्रचार नहीं था और ब्राह्मी लिपि का निर्माण विदेशी लिपि के आधार पर हुआ है, उनके मतों का सप्रमाण खंडन करने के लिए ही ओझाजी ने प्राचीन भारतीय वाङमय से खोज-खोजकर लिपि, अक्षर तथा लेखन के अस्तित्व के बारे में अनेक उल्लेखों को प्रस्तुत किया था। विशेष बात यह है कि, ओझाजी के ग्रंथ का दूसरा संस्करण १९१८ में प्रकाशित हुआ था और तब तक सिंधु लिपि का उद्घाटन नहीं हुआ था। इसलिए भी भारतीय लिपि की मौलिकता सिद्ध करने के लिए ओझाजी को बड़ा परिश्रम करना पड़ा था।

लेकिन अब तो प्रायः सभी विद्वान स्वीकार करते हैं कि, भले ही चौथी शताब्दी ई० पू० के पहले के निर्विवाद ब्राह्मी लेख न मिले हों, किंतु ई० पू० सातवीं-आठवीं शताब्दी में भी भारत में ब्राह्मी लिपि का अस्तित्व रहा है।

२२

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति

अशोक ने अपने लेखों की लिपि को 'धम्मलिपि' का नाम दिया है; उसके लेखों में कहीं भी इस लिपि के लिए 'ब्राह्मी' नाम नहीं मिलता। लेकिन बौद्धों, जैनों तथा ब्राह्मण धर्म के ग्रंथों के अनेक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि इस लिपि का नाम 'ब्राह्मी' ही रहा होगा। हमारे प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में यह बात आम तौर से पायी जाती है कि जिस किसी भी चीज की उत्पत्ति कुछ अधिक प्राचीन या अज्ञेय हो उसके निर्माता के लिए बड़ी आसानी से 'ब्रह्मा' का नाम लिया जाता है। संसार की अन्य पुरालिपियों की उत्पत्ति के बारे में भी यही देखने को मिलता है कि प्रायः इन लिपियों के जनक कोई न कोई 'दैवी पुरुष' ही माने गये हैं। हमारे यहां भी 'ब्रह्मा' को लिपि का जन्मदाता माना जाता रहा है, और इसीलिए हमारे देश की इस प्राचीन लिपि का नाम ब्राह्मी पड़ा है।

बौद्ध-ग्रंथ 'ललित-विस्तर' में ६४ लिपियों के नाम दिये गये हैं। इनमें पहला नाम 'ब्राह्मी' है और दूसरा 'खरोष्ठी'। इन ६४ लिपि-नामों में से अधिकांश नाम कल्पित जान पड़ते हैं। जैनों के 'पन्नवणासूत्र' तथा 'समवायांगसूत्र' में १६ लिपियों के नाम दिये गये हैं, जिनमें से पहला नाम 'बंभी' (ब्राह्मी) का है। 'भगवतीसूत्र' में पहले 'बंभी' (ब्राह्मी) लिपि को नमस्कार करके (नमो बंभीए लिविए) सूत्र का आरंभ किया गया है। ६६८ ई० में लिखित एक चीनी बौद्ध-विश्वकोश 'फा-वान-शु-लिन्' में ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों का उल्लेख मिलता है। इसमें लिखा है कि, "लिखने की कला का शोध तीन दैवी शक्तिवाले आचार्यों ने किया है; उनमें सबसे प्रसिद्ध ब्रह्मा है, जिसकी लिपि बाईं ओर से दाहिनी ओर को पढ़ी जाती है।"

उपर्युक्त उल्लेखों से तो यही जान पड़ता है कि ब्राह्मी भारत की सार्वदेशिक लिपि थी और इसका जन्म भारत में ही हुआ है। किंतु बहुत-से विदेशी पुराविद मानते हैं कि किसी बाहरी वर्णमालात्मक लिपि के आधार पर ब्राह्मी वर्णमाला का निर्माण किया गया था। बूलर जैसे प्रसिद्ध पुरालिपिविद की मान्यता रही कि ब्राह्मी लिपि का निर्माण फिनीशियन लिपि के आधार पर हुआ। इसके लिए उन्होंने एरण के एक सिक्के का प्रमाण भी दिया था। एरण (सागर जिला) से तांबे के कुछ सिक्के मिले हैं, जिनमें से एक पर 'धमपालस' शब्द के अक्षर दायीं ओर से बायीं ओर को लिखे हुए मिलते हैं। चूंकि, सेमेटिक लिपियां भी दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थीं इसलिए बूलर ने इस अकेले सिक्के के आधार पर यह कल्पना कर ली कि आरंभ में ब्राह्मी लिपि भी दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थी—सेमेटिक लिपियों की तरह। ओझाजी तथा अनेक पुरालिपिविदों ने बूलर की इस मान्यता का तार्किक खंडन किया है। उस समय ओझाजी ने लिखा था,

"किसी सिक्के पर लेख का उलटा आ जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि सिक्के पर उभरे हुए अक्षर सीधे आने के लिए सिक्के के ठप्पे में अक्षर उलटे खोदने पड़ते हैं, अर्थात् जो लिपियाँ बाईं ओर से दाहिनी ओर लिखी जाती हैं उनके ठप्पों में सिक्कों की इबारत की पंक्ति का आरंभ दाहिनी ओर से करके प्रत्येक अक्षर उलटा खोदना पड़ता है, परंतु खोदनेवाला इसमें चूक जाय और ठप्पे पर बाईं ओर से खोदने लग जाय तो सिक्के पर सारा लेख उलटा आ जाता है, जैसा कि एरण के सिक्के पर पाया जाता है।" साथ ही, ओझाजी ने लिखा था, "अब तक कोई शिलालेख इस देश में ऐसा नहीं मिला है कि जिसमें ब्राह्मी लिपि फारसी की नाईं उलटी लिखी हुई मिली हो।"

लेकिन यह १९१८ के पहले की बात है। १९२९ में अनु घोष को एर्रागुडी (कुर्नूल जिला, आंध्र) में अशोक का एक लघु-शिलालेख मिला, जिसे दयाराम साहनी ने १९३३ में प्रकाशित किया। इस लेख की कुल २३ पंक्तियों में से ८ पंक्तियां--२, ४, ६, ९, ११, १३, १४ और २३वीं पंक्तियां--दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी गई हैं। पुरालिपियों में यह एक अद्भुत उदाहरण है। पहली पंक्ति बायीं ओर से दायीं ओर, फिर दूसरी पंक्ति दायीं ओर से बायीं ओर, फिर तीसरी पंक्ति बायीं ओर से दायीं ओर. . .। इसी तरह का यदि सारे लेख में सिलसिला चलता रहे, तो इस प्रकार की लेखन प्रणाली को 'बौस्ट्रोफेदोन', अर्थात् बैलों द्वारा हल जोतने की विधि कहा जाता है। यूनानी लिपि के आरंभिक लेख इसी प्रणाली के देखने को मिलते हैं। किंतु एर्रागुडी के इस ब्राह्मी लेख को हम बौस्ट्रोफेदोन प्रणाली में लिखा हुआ भी नहीं मान सकते; क्योंकि इसमें एक के बाद हर दूसरी पंक्ति नियमतः दायीं ओर से बायीं ओर को नहीं लिखी गई है। फिर भी, डिरिंजेर महाशय ('अल्फाबेट', पृष्ठ ३३९) ने इस लेख के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यूनानी लिपि की तरह आरंभ में ब्राह्मी लिपि भी दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थी। यदि केवल यह सिद्ध करने के लिए कि ब्राह्मी लिपि का निर्माण दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी जानेवाली किसी विदेशी लिपि के आधार पर हुआ है और इसीलिए जोर-जबरदस्ती से दायीं ओर से बायीं ओर को लिखे गये ब्राह्मी लेखों के उदाहरण खोजे जा रहे हैं, तो फिर इस प्रकार के और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। श्रीलंका में इस प्रकार के कई लेख मिलते हैं, परंतु ये अशोक के बाद के हैं और जान पड़ता है कि इनके लिखनेवालों को ब्राह्मी लिपि का यथार्थ ज्ञान भी नहीं था। दक्षिण भारत के भट्टिप्रोलु-लेखों में भी ब्राह्मी के कुछ अक्षर उलटे लिखे हुए मिलते हैं। चालुक्य काल का एक लेख तो नीचे से ऊपर को भी लिखा हुआ मिलता है! इन अपवादात्मक लेखों के आधार पर कोई यदि यह सिद्ध करने का प्रयत्न करे कि ब्राह्मी लिपि विदेशी लिपि के आधार पर बनाई गई है, तो ऐसा मत स्वीकार नहीं किया जा सकता।

बहुत-से विद्वान मानते हैं कि किसी सेमेटिक वर्णमाला के आधार पर ब्राह्मी संकेतों का निर्माण हुआ है। लेकिन यहां भी कुछ लोग उत्तरी सेमेटिक को मानते हैं, कुछ दक्षिणी सेमेटिक को, और कुछ फिनीशियन तथा आरमेई लिपि को। चूंकि आरमेई लिपि का प्रचार भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश तक था, इसलिए डिरिंजेर का मत है कि आरमेई के आधार पर ही ब्राह्मी का निर्माण हुआ है। आज प्रायः सभी विद्वान स्वीकार करते हैं कि खरोष्ठी का निर्माण आरमेई लिपि के आधार पर हुआ है। किंतु यह संभव नहीं है कि ब्राह्मी लिपि भी आरमेई के आधार पर बनाई गई है। इसके बारे में ओझाजी ने लिखा है: "ब्राह्मी लिपि के न तो अक्षर फिनिशियन या किसी अन्य लिपि से निकले हैं

और न उसकी बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखने की प्रणाली किसी और लिपि से बदलकर बनाई गई है। यह भारतवर्ष के आर्यों का अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और सर्वांगसुंदरता से चाहे इसका कर्त्ता ब्रह्मा देवता माना जाकर इसका नाम ब्राह्मी पड़ा, चाहे साक्षर समाज ब्राह्मणों की लिपि होने से यह ब्राह्मी कहलायी हो, पर इसमें संदेह नहीं कि इसका फिनिशियन से कुछ भी संबंध नहीं है।" एडवर्ड थॉमस का भी यह मत है कि "ब्राह्मी अक्षर भारतवासियों के ही बनाये हुए हैं और उनकी सरलता से उनके बनानेवालों की बड़ी बुद्धिमानी प्रकट होती है।" कनिंघम का भी मत है कि ब्राह्मी लिपि का निर्माण भारतवासियों ने ही किया है।

आर० श्याम शास्त्री ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि देवताओं की उपासना के लिए जिन सांकेतिक चिह्नों का उपयोग होता था, उन्हीं से ब्राह्मी लिपि के अक्षरों का निर्माण हुआ है। जगमोहन वर्मा ने १९१३-१५ में "सरस्वती" पत्रिका में ब्राह्मी लिपि के बारे में कुछ लेख लिखे थे, जिनमें उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि वैदिक चित्रलिपि या उससे निकली किसी सांकेतिक लिपि से ब्राह्मी लिपि निकली है। लेकिन शास्त्री और वर्मा के ये दोनों सिद्धान्त किसी ठोस प्रमाण पर आधारित नहीं हैं, इसलिए इन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अब तो अधिक संभव यही जान पड़ता है कि सिंधु लिपि से ही ब्राह्मी का विकास हुआ है। वस्तुतः सिंधु लिपि में और ब्राह्मी लिपि के उपलब्ध लेखों में लगभग एक हजार वर्षों का अंतर है। सिंधु लिपि के संकेतों में और ब्राह्मी लिपि के संकेतों में कुछ साम्य भी देखने को मिलता है। संभव है कि १००० ई० पू० के आसपास सिंधु लिपि के आधार पर किसी 'प्राक्-ब्राह्मी' लिपि का निर्माण किया गया हो और कालान्तर में इसी का परिष्कार होने पर ब्राह्मी लिपि अस्तित्व में आई हो। हम पहले बतला चुके हैं कि सिंधु लिपि का स्वरूप भी अक्षरमालात्मक ज्ञात होता है। उसमें भी मूलाक्षरों के साथ स्वरों की मात्राओं का रूप देखने को मिलता है। साथ ही, संयुक्ताक्षर भी देखने को मिलते हैं। कुछ विद्वान तो यह भी आशा रखते हैं कि सिंधु लिपि में शायद 'आद्य संस्कृत' भाषा की खोज हो जाय।

२३

अशोक की ब्राह्मी लिपि

सिकंदर के ३२५ ई० पू० में पश्चिमोत्तर भारत से ही वापिस चले जाने के तुरंत बाद चन्द्रगुप्त (३२४-३०० ई० पू०) ने नंदवंश का तख़्ता उलटकर मौर्यवंश की स्थापना की। चंद्रगुप्त के बाद उसका पुत्र बिंदुसार राजगद्दी पर बैठा, और बिन्दुसार की मृत्यु के बाद उसका पुत्र अशोक ३७२ ई० पू० में गद्दी पर बैठा। ज्ञात होता है कि राजगद्दी के लिए शुरू में काफ़ी कलह हुआ था; क्योंकि अशोक का राज्याभिषेक उसके गद्दी पर बैठने के चार साल बाद २६९ ई० पू० में हुआ। इसके बाद उसने लगभग ३७ साल तक भारत के एक विशाल भू-भाग पर राज्य किया। उसने कलिंग को भी अपने राज्य में शामिल कर लिया था। बौद्धग्रंथों के उल्लेखों से पता चलता है कि आरंभ में अशोक को, उसकी क्रूरता के कारण, 'चण्डाशोक' कहा जाता था; परंतु बाद में जब उसने बौद्धधर्म को स्वीकार किया और वह धार्मिक कार्य करने लगा तो उसे 'धर्माशोक' कहा जाने लगा। अशोक के केवल दो धर्मलेखों--गुजर्रा (विंध्य प्रदेश में दतिया के पास) तथा मस्की (हैदराबाद) के लघु-शिलालेखों--में ही हमें उसका 'असोक' नाम देखने को मिलता है। शेष सभी धर्मलेखों में उसे 'देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा' (देवताओं के प्रिय और सभी पर कृपा करने वाले राजा) कहा गया है। स्पष्ट है कि यह नाम उसने बौद्धधर्म को ग्रहण करने के बाद ही धारण किया होगा। अशोक का समकालीन श्रीलंका का तिस्स (तिष्य) राजा भी अपने नाम के साथ 'देवानांप्रिय' जोड़ता था। तिस्स राजा के समय में ही अशोक-पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री संघमित्रा बौद्धधर्म का प्रचार करने के लिए श्रीलंका पहुंचे थे।

अशोक के लिए कहीं-कहीं 'अशोकवर्धन' नाम भी मिलता है। उसके एक धर्मलेख में उसे 'मगध का राजा' कहा गया है। परंतु उसके साम्राज्य के लिए उसके लेखों में अधिकतर 'पृथ्वी' या 'जम्बूद्वीप' शब्द ही मिलते हैं। राजधानी पाटलिपुत्र (पटना) में थी। अशोक के धर्मलेख भारत में जिस स्थान पर मिले हैं, वहां उसका राज्य निश्चित रूप से था ही। उसने अपने लेखों में 'अपराजित' राज्यों का भी स्पष्ट उल्लेख किया है। दक्षिण भारत के चोल, पाण्ड्य, केरल तथा ताम्रपर्णी (श्रीलंका) देश अशोक के साम्राज्य के बाहर थे। उसके लेखों में एशिया के कई 'योन' (यूनानी) राजाओं तथा मिस्र के तुरमाय या तुलमाय (टॉलमी) राजा का भी उल्लेख मिलता है।

अशोक के धर्मलेख पश्चिमोत्तर भारत (पाकिस्तान) से लेकर दक्षिण में मैसूर राज्य तक मिले हैं। उसके राज्य की सीमाएं पूर्व में बंगाल की खाड़ी और पश्चिम में अरब सागर को छूती थीं। अशोक के धर्मलेखों में केवल दो लेख--शाहबाज़गढ़ी और

मानसेहरा के शिलालेख--खरोष्ठी लिपि में हैं (देखिए, 'खरोष्ठी लिपि' का प्रकरण)। उसके शेष सभी लेख ब्राह्मी लिपि में हैं। इन लेखों की लिपि के लिए सदैव 'धम्मलिपि', 'धम्मदिपि या 'धम्मलिबि' शब्दों का प्रयोग किया गया है।

अशोक के सभी धर्मलेखों को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है: (१) शिलास्तंभ लेख, और (२) शिलाफलक लेख। शिलास्तंभ एक ही प्रस्तर-खंड के हैं और ये चुनार के बालू-पत्थरों से बनाये गये हैं। इनपर किया हुआ बहुत बढ़िया पॉलिश आज भी हमें आश्चर्य में डाल देता है। इन शिलास्तंभों को दूर-दूर तक किस कठिनाई से ले जाया गया होगा, इसका अंदाजा हमें फ़ीरोज़शाह द्वारा १४वीं शताब्दी में टोपरा और मेरठ से दिल्ली लाये गये अशोक के स्तंभों के विवरण से लग सकता है। अशोक के शिलास्तंभ आज निम्नलिखित स्थानों पर पाये जाते हैं:

१. इलाहाबाद-कोसम शिलास्तंभ: प्राचीन काल में इस स्तंभ को कोशांबी नगरी (आधुनिक कोसम--इलाहाबाद से लगभग ५० किलोमीटर दूर एक छोटा-सा गांव) में स्थापित किया गया था। किंतु हमें इस बात की कोई निश्चित जानकारी नहीं मिलती कि किसके द्वारा यह स्तंभ इलाहाबाद लाया गया। इस स्तंभ पर अशोक के ६ लेख हैं। इनके अलावा, इसपर उसके और दो लेख हैं, जो "रानी का स्तंभलेख" (क्योंकि इसमें उसकी एक रानी चारुवाकी के दान का उल्लेख है) और "कौशांबी का स्तंभलेख" के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी स्तंभ पर बाद में समुद्रगुप्त (३२०-३७५ ई०) ने भी अपना एक लेख खुदवाया था। मुगल बादशाह जहांगीर (१६०५-२७ई०) का भी एक फ़ारसी लेख इस स्तंभ पर मिलता है।

२. रुम्मिनदेई स्तंभलेख: रुम्मिनदेई के मंदिर के पास खड़ा होने से इसे यह नाम दिया गया है। यह स्थान बस्ती जिले के दुल्हा गांव से लगभग ८ किलोमीटर दूर नेपाल की भगवानपुर तहसील में है। इसी स्थान पर भगवान बुद्ध का जन्म हुआ था। अशोक अपने राज्याभिषेक के २० साल बाद स्वयं इस स्थान पर पूजा करने आया था।

३. निगाली-सागर शिलास्तंभ: यह स्थान भी बस्ती जिले के उत्तर में नेपाल की तराई में है, और रुम्मिनदेई से लगभग बीस किलोमीटर पश्चिमोत्तर की तरफ है। यह स्तंभ निगलीव गांव के पास निगाली-सागर नाम के एक विशाल सरोवर के पास खड़ा है। अशोक यहां भी पूजा के लिए आया था। गौतम बुद्ध के भी पहले के किसी कनकमुनि बुद्ध के शरीरावशेषों पर यहां एक स्तूप बनाया गया था।

४. दिल्ली-टोपरा शिलास्तंभ: जैसा कि पहले बतला चुके हैं, इस स्तंभ को फ़ीरोज़शाह ने टोपरा (अंबाला जिला) से मंगवाकर दिल्ली में खड़ा करवाया था। इस पर सात लेख हैं।

५. दिल्ली-मेरठ शिलास्तंभ: इसे भी फ़ीरोज़ मेरठ से उठाकर लाया था। फर्रुखसियर के समय (१७१३-१९ ई०) में बारूदखाने के फटने से इस स्तंभ को बड़ा नुकसान पहुंचा और इसके कई टुकड़े हो गये। १८७६ में इसे वर्तमान रूप में खड़ा किया गया।

६.७.८. बिहार के चंपारन जिले में अशोक के तीन स्तंभ मिलते हैं--राधिया के पास लौरिया अरराज में, मठिया के पास लौरिया नंदनगढ़ में और रामपुरवा में। इनमें से प्रत्येक पर छह लेख हैं।

९. सांची स्तंभ : यह स्थान मध्यभारत में भोपाल के पास है।
१०. सारनाथ स्तंभ : वाराणसी के पास।

अशोक के स्तंभलेख पॉलिश की हुई गोलाकार सतह पर होने के कारण अधिक स्पष्ट और कलात्मक हैं। सभी स्तंभों पर पूर्ण लेख नहीं मिलते। कुछ स्तंभों के टूट जाने के कारण केवल खंडित लेख ही मिलते हैं, जैसे कि सारनाथ और सांची के स्तंभलेख।

अशोक के जो लेख शिलाओं पर मिलते हैं, उनके लिए 'शिलाफलक' शब्द का प्रयोग हुआ है। शिलाफलकों से यहां अर्थ चट्टानों से है। अब तक केवल एक ही लेख ऐसा मिला है, जो अलग प्रस्तर-खंड पर उत्कीर्ण है। यह शिलाफलक राजस्थान के बैराट स्थान से मिला था और अब कलकत्ता के संग्रहालय (एशियाटिक सोसायटी) में रखा हुआ है, इसलिए इसे 'बैराट-कलकत्ता शिलालेख' का नाम दिया गया है। अशोक के शेष सभी लेख पत्थरों की चट्टानों पर खुदे हुए हैं। जिस स्थान पर जो भी प्रमुख चट्टान-प्रस्तर मिले, वहां ये लेख उत्कीर्ण कर दिये गये। इनपर लिखते समय स्तंभों की तरह इन्हें चिकना करने का प्रयत्न नहीं किया गया है; सामान्यतः किसी भी सपाट-से पत्थर-खंड को चुनकर उसपर लेख खुदवा दिये गये हैं। यही कारण है कि स्तंभलेखों की अपेक्षा शिलालेख कुछ बेढंगे जान पड़ते हैं। सुविधा के लिए अशोक के शिलालेखों को दो भागों में बांटा गया है—शिलालेख या चतुर्दश-शिलालेख और लघु-शिलालेख। लघु-शिलालेख निम्न स्थानों पर पाये गये हैं :

१. बैराट : राजस्थान के जयपुर जिले में। यह शिलाफलक कलकत्ता संग्रहालय में है।
२. रूपनाथ : जबलपुर जिला, मध्यभारत।
३. मस्की : रायचूर जिला, मैसूर।
४. गुजर्रा : दतिया जिला, मध्यभारत।
५. राजुल-मंदगिरि : बेल्लरी जिला, मैसूर।
६. सहसराम : शाहाबाद जिला, बिहार।
७. गवीमट : रायचूर जिला, मैसूर।
८. पाल्कीगुण्डु : गवीमठ के पास, रायचूर, मैसूर।
९. ब्रह्मगिरि :
१०. सिद्धापुर :
११. जटिंग रामेश्वर :
(९–११) चीतलद्रुग जिला, मैसूर राज्य।
१२. एर्रागुडी : कुर्नूल जिला, आंध्र प्रदेश।
१३. दिल्ली : अमर कॉलनी।
१४. अहरौरा : मिर्ज़ापुर जिला, उत्तर-प्रदेश।

ये सभी लघु-शिलालेख अशोक ने अपने राजकर्मचारियों को संबोधित करते हुए लिखवाये हैं। सबसे पहले अशोक ने अपने ये लघु-शिलालेख ही खुदवाये थे, इसीलिए इनकी शैली उसके अन्य लेखों से कुछ भिन्न है।

अशोक के चतुर्दश-शिलालेख या बृहद शिलालेख निम्नलिखित स्थानों पर पाये जाते हैं :

१. गिरनार : सौराष्ट्र (काठियावाड़) में जूनागढ़ के पास। इसी चट्टान पर शक महाक्षत्रप रुद्रदामन ने लगभग १५० ई० में संस्कृत भाषा में एक लेख खुदवाया। बाद में गुप्त-सम्राट स्कंदगुप्त (४५५-६७ ई०) ने भी यहां एक लेख खुदवाया था। चंद्रगुप्त मौर्य ने यहां 'सुदर्शन' नाम के एक सरोवर का निर्माण करवाया था। रुद्रदामन तथा स्कंदगुप्त के लेखों में इसी सुदर्शन सरोवर के पुनर्निर्माण की चर्चा है।

२. कालसी : देहरादून जिला, उत्तर-प्रदेश।

३. सोपारा : (प्राचीन सूप्पारक) थाना जिला, महाराष्ट्र। यहां से अशोक के शिलालेख के कुछ टुकड़े ही मिले हैं, जो बंबई के 'प्रिन्स ऑफ वेल्स संग्रहालय' में रखे हुए हैं।

४. एर्रागुडी : कुर्नूल जिला, आंध्र प्रदेश।

५. धौली : पुरी जिला, उड़ीसा।

६. जौगढ़ : गंजाम जिला, उड़ीसा।

इनके अतिरिक्त खरोष्ठी लिपि में अशोक के और दो शिलालेख हैं—शाहबाजगढ़ी (पेशावर जिला) और मानसेहरा (हज़ारा जिला) में। ये दोनों स्थान अब पाकिस्तान में हैं।

शिलालेखों और स्तम्भलेखों के अलावा अशोक के तीन संक्षिप्त गुफालेख भी मिलते हैं। गया या बुद्धगया के पास 'बराबर' नाम की पहाड़ी पर चार कृत्रिम गुफाएं हैं। प्राचीन काल में यह पहाड़ी स्खलतिक पर्वत के नाम से जानी जाती थी। उपर्युक्त चार गुफाओं में से तीन में अशोक के संक्षिप्त लेख खुदे हुए हैं। इन शिलालेखों से पता चलता है कि अशोक ने आजीविक संप्रदाय के भिक्षुओं के लिए इन गुफाओं का निर्माण करवाया था। इन तीन गुफाओं के पास की चौथी गुफा में मौखरी राजा अनंतवर्मन (छठी शताब्दी ई०) का एक शिलालेख खुदा हुआ है। इसी पहाड़ी पर, परंतु इन गुफाओं से लगभग एक मील दूर, 'नागार्जुनी' पहाड़ी पर तीन गुफाएं और हैं। इन गुफाओं में अशोक के पोते 'देवानांप्रिय' दशरथ के लेख हैं। ये गुफाएं भी आजीविक संप्रदाय के भिक्षुओं के लिए बनाई गई थीं।

अशोक के एक स्तंभलेख से पता चलता है कि उसका राज्याभिषेक (२६९ ई०पू०) होने के १२ साल बाद, अर्थात् २५७ ई० पू० से, उसने धर्मलेख खुदवाना आरंभ कर दिया था। सबसे पहले उसने लघु-शिलालेख खुदवाये, और उसके अनंतर चतुर्दश-शिलालेख। तीन गुफालेखों में से दो उसने राज्याभिषेक के १२ वर्ष बाद और तीसरा लेख राज्याभिषेक के १९ वर्ष बाद खुदवाया था। लघु-स्तंभलेखों में कोई तिथि नहीं मिलती। शेष स्तंभलेखों में से कुछ उसने शासन के २१वें वर्ष में, कुछ २७वें तथा २८वें वर्ष में खुदवाये थे।

इस प्रकार, अशोक के विभिन्न लेखों में कम-से-कम १५ से २० सालों का अंतर है। फिर भी, इन सारे लेखों में लेखन-शैली का कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई देता, सिवाय इसके कि शिलालेखों की अपेक्षा स्तंभलेख कुछ अधिक बेहतर लिखे गये हैं। इसलिए अशोक की ब्राह्मी लिपि के अक्षरों को हम कोई सुदृढ़ तैथिक आधार प्रदान नहीं कर सकते। इनको उत्तरी और दक्षिणी जैसी शैलियों में विभाजित करना भी उचित नहीं जान पड़ता। अशोक के अभिलेखों के स्थानों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि, जहां-जहां भी उसके राज्य में राजमार्ग गये, वहां उसके धर्मलेखों के साथ उसके 'लिपिकर' और ब्राह्मी

लिपि भी पहुंची। पश्चिमोत्तर भारत के केवल दो शिलालेखों को छोड़कर अशोक के बाकी सभी लेख ब्राह्मी लिपि में हैं। तक्षशिला से आरमेई लिपि का एक लेख मिला है, जिसे कुछ विद्वान अशोक का मानते हैं। उसी प्रकार, ग्रीक और आरमेई लिपियों में एक द्वैभाषिक लेख (शार-इ-कुना, कंदहार से) मिला है, जिसे कुछ विद्वान अशोक का मानते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि पश्चिमोत्तर भारत में खरोष्ठी, आरमेई तथा यूनानी लिपियों का प्रचार होने से अशोक ने अपने धर्मलेखों के लिए इन स्थानीय लिपियों का इस्तेमाल किया है। इससे यह सहज ही निष्कर्ष निकलता है कि भारत के अन्य प्रदेशों में भी स्थानीय लिपियों का प्रचार होता, तो अशोक अपने लेख उन स्थानीय लिपियों में खुदवाता। किंतु हम देखते हैं कि पश्चिमोत्तर भारत के अलावा अन्य भारतीय प्रदेशों के उसके सारे लेख ब्राह्मी लिपि में हैं। और, इस ब्राह्मी लिपि में भी प्रादेशिक स्वरूपान्तर देखने को नहीं मिलता। इससे यह परिणाम निकलता है कि अशोक के समय में प्रायः संपूर्ण भारतवर्ष में ब्राह्मी लिपि का व्यवहार था और साधारण जनता भी इस लिपि को पढ़-लिख सकती थी। अशोक के लेखों की सार्वदेशिकता का पता इस बात से भी चलता है कि उसने अपने सभी लेखों में सर्वत्र उस समय की बोलचाल की प्राकृत भाषा का प्रयोग किया है। इस प्राकृत या पालि में प्रांत-प्रांत के अनुसार थोड़ा-सा अंतर जरूर दृष्टिगत होता है, परंतु है यह प्राकृत भाषा ही।

अशोक के लेखों में 'लिपिकर' या 'दिपिकर' शब्द मिलते हैं; इनके साथ 'लिखिते' 'लेखिते' क्रियाएं भी मिलती हैं। शाहबाज़गढ़ी के खरोष्ठी लेख में 'निपिस्तम्' या 'निपेसितम्' क्रिया का इस्तेमाल किया गया है। ये क्रियाएं 'नि-पिस्' अर्थात् 'लिखना' धातु से बनी हैं। आधुनिक फारसी में भी लेख के लिए 'नविश्ता' शब्द का उपयोग होता है। दारयवुश (डैरियस) के बेहिस्तुन-लेख में भी 'दिपि' (लिपि) शब्द मिलता है। इसलिए 'लिपिकर' या 'दिपिकर' शब्द को हम 'लेखक' के अर्थ में ले सकते हैं।

अशोक के चौदहवें अर्थात् अंतिम शिलालेख से उसके इन लेखों के बारे में हमें कुछ जानकारी मिलती है। गिरनार का चौदहवां शिलालेख है :

> "अयं धंमलिपी देवानंप्रियेन प्रियदसिना राञा लेखापिता अस्ति एव संखितेन अस्ति मझमेन अस्ति विस्ततन (.) न च सर्वं सर्वत घटितं (.) महालके हि विजितं बहु च लिखितं लिखापयिसं चेव (.) अस्ति च एत कं पुन पुन वुतं तस तस अथस माधूरताय किंति जनो तथा पटिपजेथ (.) तत्र एकदा असमातं लिखितं अस देसं व सछाय कारण वं अलोचेत्पा लिपिकरापरधेन व"

अर्थात्,

"ये धर्मलेख देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने लिखवाये हैं। (ये लेख) कहीं संक्षेप में, कहीं मध्यम रूप में और कहीं विस्तृत रूप में हैं। क्योंकि सब जगह के लिए सब बातें लागू नहीं होतीं (किसी किसी ने इसका अर्थ 'सब जगह सब बातें या सब लेख नहीं लिखे गये हैं', भी किया है)। मेरा राज्य बहुत विस्तृत है, इसलिए बहुत-से (लेख) लिखवाये गये हैं और बहुत-से लगातार लिखवाये जायेंगे। कहीं-कहीं विषय की रोचकता के कारण एक ही बात बार-बार कही गयी है, जिससे कि लोग उसके अनुसार आचरण करें। इन लेखों में जो कुछ अपूर्ण लिखा गया हो उसका कारण देश-भेद, संक्षिप्त लेख या लिखनेवाले का अपराध समझना चाहिए।"

लेकिन अशोक के अभिलेखों से यह पता नहीं चलता कि ये शिलालेख किस विधि से खुदवाये गये थे। ऐसा लगता है कि लेखों को खुदवाने का काम दो स्तरों में पूरा होता था। 'लिपिकर' का काम पत्थर पर लेख को लिख देने तक सीमित होता था। लेख खोदनेवाला कोई दूसरा ही पेशेवर व्यक्ति (शिल्पी) होता था। हमारे प्राचीन साहित्य में खोदने की क्रिया के लिए 'छिन्दति' शब्द मिलता है, जो 'छिद्' धातु से बना है। 'लिपिकर' या लेखक किसी पत्थर पर पहले चूना-पत्थर या कोयले की खड़िया से अक्षरों को लिखता था, और बाद में खोदने का काम करने वाला (शिल्पी) इन अक्षरों का अनुकरण करते हुए पत्थर पर अक्षर खोदता था। अक्षरों के आकार-प्रकार के लिए 'लिपिकर' ही जिम्मेवार था, परन्तु खोदते समय इनके आकार-प्रकार में यत्किंचित् फरक पड़ना स्वाभाविक है। वस्तुतः लेख खोदने वाले का स्थान गौण था। अशोक के लेखों के अक्षरों की रेखाओं की मोटाई भी प्रायः एक-सी देखने को मिलती है। क्योंकि जिस खड़िया से लिपिकर ने पत्थरों पर अक्षर लिखे होंगे, वह ऐसी रही होगी कि अक्षर समान मोटाई के ही बनते थे। खोदनेवाले ने लेखक के अक्षरों का ही अनुकरण किया है। बाद के अभिलेखों में जिस प्रकार अक्षरों के सिरों पर हमें गुंडियां दिखाई देती हैं, वैसी अशोक के ब्राह्मी लेखों में देखने को नहीं मिलतीं। अशोक के शिलालेखों में अक्षरों की

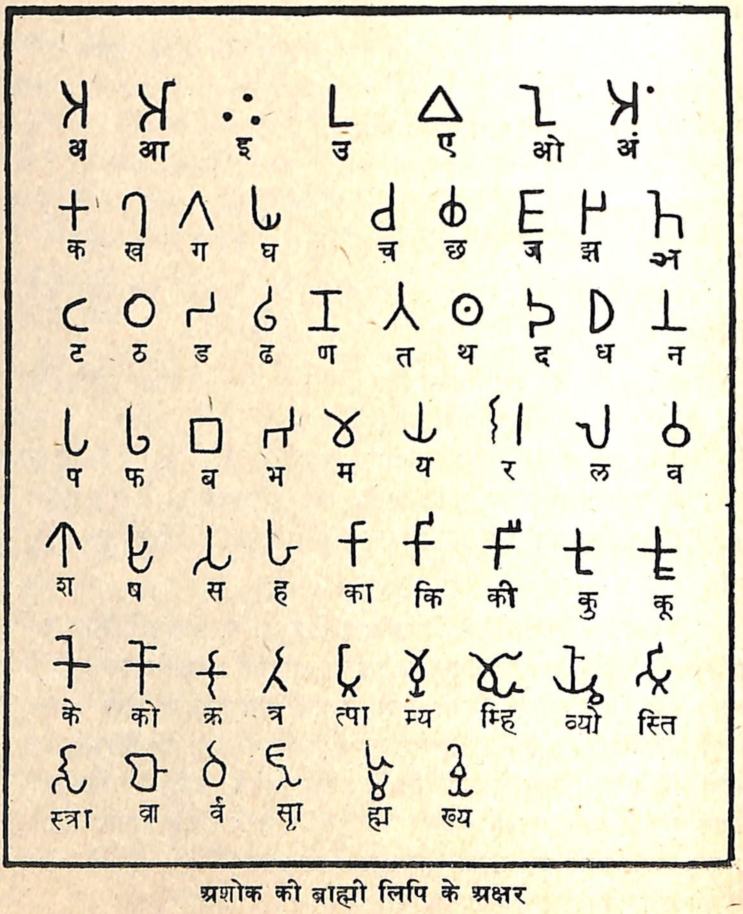

अशोक की ब्राह्मी लिपि के अक्षर

खड़ी रेखाओं की लम्बाई इनकी आड़ी रेखाओं से सामान्यतः दुगुना देखने को मिलती है। परन्तु मैसूर के शिलालेखों में यह लम्बाई दुगुने से कुछ अधिक और प्रयाग-कोसम स्तम्भलेख में दुगुने से कुछ कम दिखायी देती है।

अशोक के ब्राह्मी लेखों में केवल छह मूल स्वरों के संकेत पाये जाते हैं—'अ', 'आ', 'इ', 'उ', 'ए' और 'ओ'। इनमें 'ऋ' एवं 'लृ' तथा इनके दीर्घ रूपों के लिए अक्षर नहीं मिलते। इनमें 'ई', 'ऊ', 'ऐ' तथा 'औ' के मूल स्वरों के लिए भी अक्षर नहीं मिलते। व्यंजनों के साथ जुड़नेवाली स्वरों की मात्राओं के रूप में अशोक के लेखों में केवल 'आ', 'इ', 'ई', 'ए', ऐ' तथा 'ओ' की मात्राएं मिलती हैं। 'औ' के स्वतंत्र स्वर-संकेत या व्यंजनों के साथ लगनेवाली इसकी मात्रा के लिए अशोक के लेखों में कोई चिह्न नहीं मिलता। अनुस्वार के लिए एक बिंदु (·) का प्रयोग हुआ है, जो प्रायः अक्षर की दाहिनी ओर कुछ ऊपर रखा जाता था। विसर्ग का चिह्न (:) भी अशोक के किसी लेख में नहीं मिलता।

अशोक के लेखों में निम्न लिखित ३३ व्यंजनों के लिए अक्षर-संकेत मिलते हैं :

क	ख	ग	घ		य	र	ल	व
च	छ	ज	झ	ञ	श	ष	स	ह
ट	ठ	ड	ढ	ण		ड़		
त	थ	द	ध	न				
प	फ	ब	भ	म				

इन सभी व्यंजनों में 'अ' स्वर निहित है, अर्थात् ये स्वरांत हैं, हलंत नहीं हैं। यहां पर प्रत्येक अक्षर की विशेषता को व्यक्त करना मुद्रण की कठिनाइयों के कारण संभव नहीं है। फिर भी हम मोटे तौर पर अशोक के लेखों के अक्षरों की कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डालेंगे।

'क' जोड़ के चिह्न-सा या 'क्रॉस' की तरह का है। अशोक के किसी भी लेख में 'ङ' के लिए संकेत नहीं मिलता। अशोक के लेखों में सभी उष्म व्यंजन मिलते हैं, परंतु इनमें 'स' का ही सर्वाधिक प्रयोग देखने को मिलता है। 'श' और 'ष' कालसी के शिलालेख में मिलते हैं। 'श' मैसूर के लेखों में भी मिलता है। अशोक के खरोष्ठी लेखों में भी 'श', 'ष' तथा 'स' के लिए अक्षर मिलते हैं। अशोक के स्तंभलेखों में 'ड़' के लिए भी अक्षर मिलता है। एड़क, दुड़ि जैसे पशुवाचक शब्दों में इस अक्षर का उपयोग देखने को मिलता है।

संयुक्त व्यंजनों को लिखते समय अधिकतर पहले उच्चारित व्यंजन को ऊपर और बाद में उच्चारित व्यंजन को उसके नीचे लिखा जाता था। परंतु कहीं-कहीं ऐसा भी

देखने को मिलता है कि, बाद में उच्चारित व्यंजन ऊपर लिखा गया है और पहले उच्चारित व्यंजन उसके नीचे लिखा गया है। वस्तुतः यह लिखनेवाले की गलती के कारण हुआ है, और इससे यही पता चलता है कि 'लिपिकर' या लेखक शुद्ध लिखना नहीं जानते थे। उदाहरण के लिए, गिरनार के लेख में 'व्य' के स्थान पर 'य्व' लिखा गया है। 'र' के लिए ब्राह्मी में एक लहरदार खड़ी लकीर का चिह्न है। जब यह 'र' अक्षर किसी अन्य व्यंजन के साथ संयुक्ताक्षर के रूप में आता है, तो सामान्यतः 'र' का अक्षर स्पष्ट रूप से ऊपर रहता है और दूसरा व्यंजनाक्षर कुछ छोटे आकार में नीचे रहता है। इस नियम के अपवाद भी मिलते हैं, और इसीलिए एक ही संयुक्ताक्षर को 'स्र' या 'र्स' तथा 'व्र' या 'र्व' पढ़ा जाता है। अशोक के समय में 'र्' (रेफ) की धारणा का अभी पूर्ण विकास नहीं हुआ था। असल में, संयुक्त व्यंजनों में पहले आनेवाले र् (रेफ) और बाद में आनेवाले र का भेद अशोक के लिपिकर स्पष्ट रूप से नहीं जानते थे।

अशोक के ब्राह्मी लेखों में विराम चिह्नों का उपयोग अपवाद रूप में ही मिलता है। स्तंभलेखों में शब्दों के बीच कुछ अंतर दिखायी देता है। कुछ अन्य शिलालेखों में शब्दों के बीच कभी-कभी अंतर दिखायी देता है। परंतु अशोक के सभी लेखों में शब्दों के बीच स्पष्ट अंतर दिया गया हो, ऐसी बात नहीं है। कुछ लेखों में पूर्ण-विराम के रूप में दण्ड-चिह्न (।) का भी इस्तेमाल देखने को मिलता है; जैसे, सहराराम के लघु-शिलालेख में।

अशोक के लेखों में कुछ अक्षर कभी-कभी उलटे लिखे हुए भी मिलते हैं। ऐसे अक्षर हैं: 'घ' 'ओ' और 'नो'।

वैसे, इन शिलालेखों को खोदते समय काफ़ी सावधानी बरती गई है। लेख एक बार खोदे जाने पर उनको पुनः शुद्ध भी किया जाता था। हम देखते हैं कि भूल से छूट गये अक्षर को पुनः लिखा गया है और अशुद्ध अक्षर को मिटा दिया गया है। यह सही है कि अशोक की ब्राह्मी लिपि के कई अक्षरों के दो-तीन भिन्न-भिन्न रूप देखने को मिलते हैं, किंतु यह भेद किसी प्रदेश विशेष के कारण नहीं है।

अंत में हम यही कहेंगे कि अशोक के ये धर्मलेख भारतीय संस्कृति की एक अमूल्य निधि हैं। आज के भारत की सभी लिपियां, और विदेशों की भी बहुत-सी लिपियां, अशोक के लेखों की इस ब्राह्मी लिपि को अपनी जननी मान सकती हैं। संसार के इतिहास में अशोक को छोड़कर किसी भी अन्य शासक ने इतने विशाल स्तर पर नैतिक एवं धार्मिक लेखों को नहीं खुदवाया है।

यहां हम अशोक के ब्राह्मी लेखों के दो नमूने दे रहे हैं।

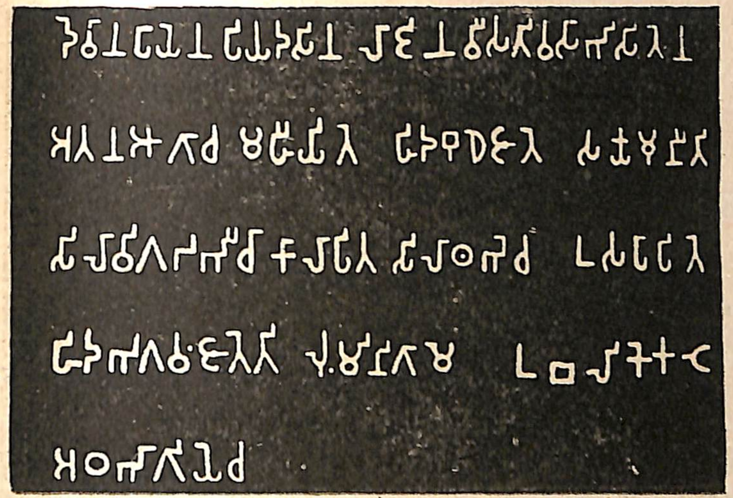

रुम्मिनदेई के अशोक स्तम्भ पर खुदा हुआ यह लेख ब्राह्मी लिपि में है और बायीं ओर से दायीं ओर को पढ़ा जाता है :

१. देवानं पियेन पियदसिन लाजिन वीसतिवसाभिसितेन
२. अतन आगाच महीयिते हिद बुधे जाते सक्यमुनीति
३. सिलाविगडभीचा कालापित सिलाथभे च उसपापिते
४. हिद भगवं जातेति लुंमिनिगामे उबलिके कटे
५. अठभागिये च

अर्थात्,

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने राज्याभिषेक के २० वर्ष बाद स्वयं आकर इस स्थान की पूजा की, क्योंकि यहां शाक्यमुनि बुद्ध का जन्म हुआ था। यहां पत्थर की एक दीवार बनवायी गयी और पत्थर का एक स्तम्भ खड़ा किया गया। बुद्ध भगवान यहां जन्मे थे, इसलिए लुम्बिनी ग्राम को कर से मुक्त कर दिया गया और (पैदावार का) आठवां भाग भी (जो राजा का हक था) उसी ग्राम को दे दिया गया है।

नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय के प्रांगण में अशोक के गिरनार वाले चतुर्दश शिलालेखों की प्रतिकृति रखी हुई है। मैंने इसका चित्र लिया था। चित्र में केवल बारहवें और तेरहवें लेखों के अंश आ सके हैं। मैंने इनमें काली स्याही भर दी है। जितना अंश इस चित्र में आया है, उसका पंक्तिबद्ध लिप्यंतर आगे दिया जा रहा है।

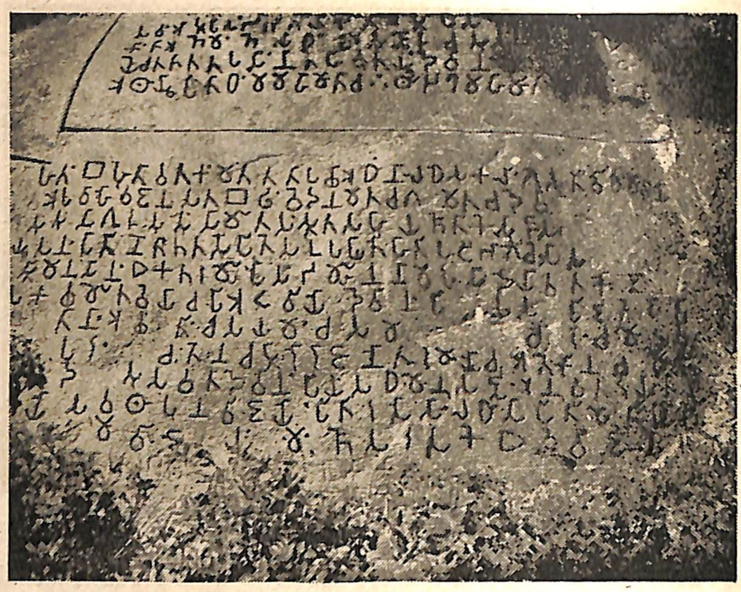

सवं अात्पपासंडभतिया किंति अात्पपासंड . . .
किंति अञामंञास धंमं स्त्रुणारु च ससुं . . .
ये च तत्र तत प्रसंना तेहि वतव्यं देवानंपि . . .
अथा व्यापता धंममहामाता च इथीझखमहामाता च वचभूमी . . .

हतं बहुतावतकं मत तता पछा अधुना लधेसु कलिंगेसु तीवो धंमवायो
अपवाहो व जनस त बाढं वेंदनमत च गुरुमत च देवा–
सुसुंसा गुरुसुसुंसा मितसंस्ततसहायञातिकेसु दास–
व्यसनं प्रापुणति तत सो पि तेस उपघातो हाति पटीभागो चेसा स–
(ना)स्ति मानुसानं एकतरम्हि पासंडम्हि न नाम प्रसादो यावतको ज–
सक छमितवें या च पि अटवियो देवानंपियस पिजिते पाति
(भू)तानां अर्छाति च सयमं च समचैरं च मादव च
परं च तेन चत्पारो राजानो तुरमायो च अंतेकिन च मगा
-देसु सवत देवानंपियस धंमानुसस्टिं अनुवतरे यत पि
-यो सवथा पुन विजयो पीतिरसो सा लंधा सा पीती होति धंम–
मा वि(जेत)व्यं मंञा सरसके ए(व) विजये

२४

ब्राह्मी लिपि : ईसा की पहली शताब्दी तक

अशोक की ब्राह्मी लिपि, जिसका विवेचन हमने पिछले प्रकरण में किया है, एक सुनिश्चित काल और एक ही शासक की देन है। अशोक के 'लिपिकर' और 'शिल्पी' उसके एक विशिष्ट उद्देश्य के संदेश लेकर इन्हें अंकित करने के लिए उसके शासन के विभिन्न प्रदेशों में पहुंचे थे। अतः अशोक के लेखों की ब्राह्मी लिपि में यत्र-तत्र थोड़े-से अक्षर-रूपान्तर होने पर भी अशोक की ब्राह्मी लिपि को हम सार्वदेशिक और राजकीय ही मानते हैं। परंतु अशोक के बाद के लेखों में हमें यह एकरूपता देखने को नहीं मिलती। अशोक के बाद के ब्राह्मी लेख नाना उद्देश्यों से लिखे हुए मिलते हैं। बौद्ध-स्तूपों में स्थापित अस्थि-कलशों पर ये लेख मिलते हैं; भिक्षुओं के लिए बनाई गई गुफाओं में ये मिलते हैं; ताम्रपत्रों पर भी ये लेख मिलते हैं। अब पहली बार हमें सिक्कों पर भी ब्राह्मी अक्षर या लेख मिलने लगते हैं। सिक्कों पर चिह्नों को पंच करने की प्रथा अब बंद हो जाती है और अब इन्हें बनाते समय या तो ठप्पे लगाये जाते थे या ढाला जाता था। अब लेख केवल सम्राटों के ही नहीं, बल्कि सामान्य जनों के भी मिलने लगते हैं। ऐसी स्थिति में संपूर्ण भारतवर्ष में ब्राह्मी लिपि का एक-सा ही रूप कायम रहना संभव नहीं था। ब्राह्मी लिपि में अब हमें प्रांतीयता स्पष्ट दिखाई देती है। इस प्रकरण में हम उन्हीं ब्राह्मी लेखों का अल्प परिचय देंगे जो कुषाणों का शासन आरंभ होने के पहले के अर्थात् लगभग ५० ई० के पहले के हैं।

इस काल में हम ब्राह्मी लिपि में कुछ नये अक्षरों का आगमन हुआ देखते हैं। कुछ पुरालिपिविद मानते हैं कि चार बिंदुओं वाला अक्षर 'ई' है, परंतु ओझाजी ने इसका खंडन किया है। वे इसे 'इं' मानते हैं। उनका कहना है कि नाणेघाट, बुद्धगया, मथुरा, नासिक आदि के लेखों में पाया जानेवाला यह चार बिंदियों वाला अक्षर 'इं' ही पढ़ा जाना चाहिए, न कि 'ई' (देखिए, भा० प्रा० लि०, पृष्ठ ५१)। इस काल में 'ऊ' और 'ऐ' के लिए भी स्वतंत्र अक्षर मिलते हैं, जो 'उ' और 'ए' के साथ एक-एक मात्रा जोड़कर बने हैं। 'विसर्ग' के लिए भी अब संकेत मिलता है, जो विसर्ग-संकेत की तरह ही दो बिंदुओं का है और अक्षर के साथ इसकी दाहिनी ओर लगता है। 'औ' के लिए भी स्वतंत्र संकेत मिलता है और अक्षरों के साथ लगनेवाली 'ऋ' की मात्रा के लिए भी, जैसे 'वृ'। इस काल में हमें संयुक्ताक्षर भी अधिक स्पष्ट मिलते हैं, विशेषतः 'र' के साथ बननेवाले संयुक्ताक्षर। हमने देखा है कि अशोक की ब्राह्मी में यह जानना बहुत मुश्किल है कि, संयुक्ताक्षर में 'र' पहले आया है या बाद में। परंतु इस काल के लेखों में पहले आनेवाला 'र्' (रेफ) बाद में आनेवाले व्यंजन के हमेशा ऊपर रहता है। संयुक्ताक्षर में 'र' यदि बाद में आता है तो यह स्पष्ट रूप से पहले उच्चारित व्यंजन के नीचे दिखाया गया है।

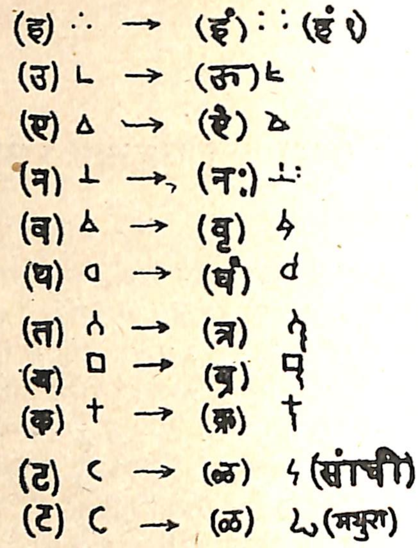

इस काल के नये अक्षर-संकेत

इस काल की ब्राह्मी लिपि में एक नये व्यंजन का अक्षर भी हम देखते हैं। यह नया अक्षर है, ळ। आज उत्तर भारत की भाषाओं में इस ध्वनि के लिए अक्षर नहीं मिलता, परंतु दक्षिण की भाषाओं में और मराठी में भी यह ध्वनि स्पष्ट रूप से मिलती है। प्रस्तुत काल में सांची के लेख के 'वाळिवाहन' शब्द में और मथुरा के लेख में 'कालवाळ' शब्द में यही ध्वनि है।

इस काल के संपूर्ण भारत के ब्राह्मी लेखों को सुविधा के लिए चार भागों में बांटा गया है : (१) पूर्वी भारत : इसका प्राचीन केन्द्र मगध देश था; किंतु इस काल में हम कौशांबी नगरी में यह केंद्र देखते हैं। इसका प्रभाव पूर्व में बुद्धगया और नीचे उड़ीसा तक देखते हैं। (२) पश्चिमोत्तर भारत : जिसके अंतर्गत तक्षशिला, मथुरा और मालव प्रदेश आता था। (३) पश्चिमोत्तर दक्खन, और (४) दक्षिण भारत : इसके अंतर्गत हम पूर्वी दक्खन का भी समावेश करते हैं। इस प्रदेश का प्रमुख केंद्र प्राचीन अमरावती में था।

१. पूर्वी भारत : बुद्धगया के समीप की 'बराबर' गुफाओं में अशोक के जो लेख हैं, उनकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। इन गुफाओं से कुछ दूरी पर इसी पहाड़ी पर 'नागार्जुनी' नाम की गुफाएं हैं, जिनमें अशोक के पौत्र 'देवानंपिय दसरथ' के लेख मिलते हैं। अशोक और दसरथ के इन लेखों में काफी साम्य दिखाई देता है, परंतु 'अ' 'य' और 'व' अक्षरों में कुछ भिन्नता भी है। दसरथ के लेख कुछ घसीटे भी दिखाई देते हैं।

"भारत में लेखन की प्राचीनता" प्रकरण में हमने कुछ ऐसे ब्राह्मी लेखों — पिपरावा, बड़ली, सहगौरा और महास्थान के लेखों—का उल्लेख किया था जिन्हें कुछ पुरालिपिविद अशोक के पहले के मानते हैं। परंतु हमने वहां यह भी बतलाया था कि कुछ अन्य पुरालिपिविद इन्हें अशोक के बाद के मानते हैं।

इस काल में भरहुत, बुद्धगया, पभोसा, अयोध्या तथा हाथीगुंफा से भी बहुत-से लेख मिलते हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध है, कलिगराज खारवेल का 'हाथीगुंफा लेख'। यह उड़ीसा के भुवनेश्वर नगर के पास खंडगिरि-उदयगिरि पर्वत पर दो मंजिल की एक चौड़ी गुफा पर खुदा हुआ है। इस गुफा एवं लेख का निर्माण खारवेल की अग्रमहिषी ने कलिंग के श्रमणों के लिए किया था। यह लेख लगभग १५ × ५ वर्ग-फुट जगह घेरे हुए है और आज बड़ी कठिनाई से पढ़ा जा सकता है। इसकी भाषा प्राकृत है, जो बौद्धग्रंथों की पालि से मिलती-जुलती है। पहली बार १८८५ में डा० भगवानलाल इंद्रजी ने इस लेख का पाठ तैयार किया था। १९२७ में डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने पुनः इस लेख का एक शुद्ध पाठ प्रकाशित किया। इस लेख के काल के बारे में विद्वानों में काफी मतभेद है। बूलर और ओझाजी ने इसमें मौर्य-संवत् को पढ़कर इसका काल '१५७ और १४७ ई० पू० के बीच' निश्चित किया था। आजकल कई पुरालिपिविद इस लेख को ई० पू० पहली शताब्दी का मानते हैं। यह हाथीगुंफा-लेख जैनधर्म का सबसे प्राचीन लेख है, परंतु आश्चर्य है कि किसी भी प्राचीन जैन ग्रंथ में राजा खारवेल का नाम नहीं मिलता।

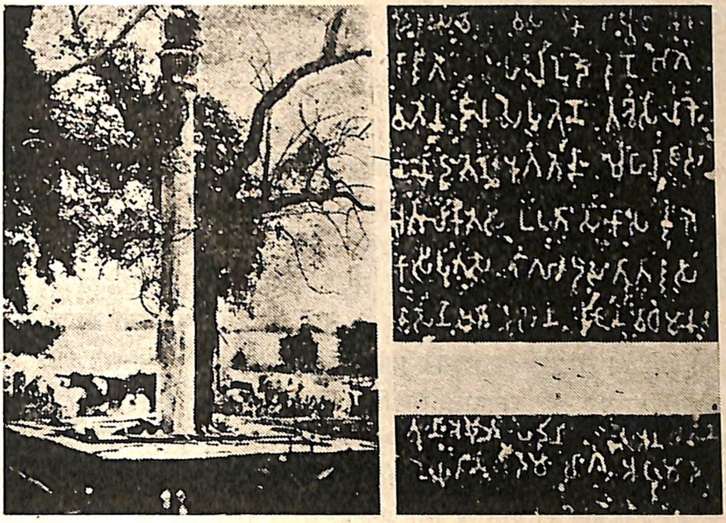

बेसनगर (विदिशा) में हेलिओदोर का गरुडध्वज और उस पर अंकित लेख।
ब्राह्मी लेख का देवनागरी लिप्यन्तर :

१. देवदेवस वा(सुदे)वस गरुडध्वजे अयं
२. कारिते इ(अ) हेलिओदोरेण भाग-
३. वतेन दियस पुत्रेण तखसिलाकेन
४. योनदूतेन आगतेन महाराजस
५. अंतलिकितस उप(ं)ता सकासं रञो
६. कोसीपुत्(र)स भागभद्रस त्रातारस
७. वसेन (चतु ?)दसेन राजेन वधमानस
८. त्रिनि अमुत-पदानि (इअ) (सु) अनुठितानि
९. नेयंति स्वगं दम चाग अप्रमाद

२. पश्चिमोत्तर भारत: इस लिपि-क्षेत्र के अंतर्गत सांची और बेसनगर (विदिशा) के लेख आते हैं। इस काल में बेसनगर (भिलसा) से हमें एक यूनानी व्यक्ति का प्रसिद्ध लेख मिलता है। तक्षशिला के यूनानी राजा अंतलिकित ने विदिशा के शुंग राजा भागभद्र के पास हेलिओदोर नाम का एक राजदूत भेजा था। हेलिओदोर वासुदेव (विष्णु) का उपासक था। वासुदेव की पूजा के लिए उसने वहां गरुडध्वज खड़ा किया था, जो गरुड की मूर्ति के बिना आज भी वहां खड़ा है। इसी स्तभ पर ब्राह्मी लिपि में ९ पंक्तियों का एक लेख है। इस स्तंभलेख का काल ई० पू० दूसरी शताब्दी का उत्तरार्ध माना गया है। इस लेख में ब्राह्मी लिपि की एक नई शैली के स्पष्ट दर्शन होते हैं। इसमें 'प', 'व', 'स', 'ल' तथा 'ह' के लिए कुछ कोणीय प्रकार के अक्षर दृष्टिगत होते हैं। इसमें संयुक्ताक्षरों में बाद में लगने वाला 'र' अक्षर हमेशा ही नीचे जोड़ा गया है, जो इस लेख में कुछ अधिक लंबा है।

सांची से इस काल के बहुत-से लेख मिलते हैं। पहले हम बता चुके हैं कि सांची के स्तूपों की वेदिकाओं पर पाये गये संक्षिप्त ब्राह्मी लेखों का अध्ययन करके ही अंत में १८३७ में जेम्स प्रिंसेप ने ब्राह्मी लिपि का उद्घाटन किया था। सांची में स्तूपों के भीतर मिले हुए पात्रों पर, तोरण-द्वारों पर और वेदिकाओं पर बहुत-से ब्राह्मी लेख मिलते हैं। बूलर, चंदा तथा मजूमदार जैसे पुरालिपिविदों ने सांची के इन लेखों का विशद अध्ययन प्रस्तुत किया है। सांची के बारे में मार्शल का ग्रंथ प्रसिद्ध है। पहली शताब्दी ई० तक सांची में पाये जानेवाले लेखों को अहमद हसन दानी ने तीन श्रेणियों में विभाजित किया है (देखिए, उनका ग्रंथ 'इंडियन पॅलेइओग्राफी', ऑक्सफोर्ड, १९६३, पृ० ६४-६५)। पहली श्रेणी: स्तूप नं० ३ का धातु-पात्र लेख और स्तूप नं० १ की वेदिका के बहुत-से लेख। इन लेखों में और हेलिओदोर के स्तंभलेख के अक्षरों में काफी समानता है, किंतु 'भ' अक्षर तथा 'ओ' की मात्रा कुछ भिन्न है। इसलिए इन लेखों को ई० पू० पहली शताब्दी के पूर्वार्ध का माना गया है। दूसरी श्रेणी: इसके अंतर्गत स्तूप नं० २ का धातु-पात्र लेख और इसी स्तूप की वेदिका पर पाये जानेवाले लेखों का समावेश होता है। इस श्रेणी में स्तूप नं० १ के तोरण-द्वार पर पाये जानेवाले लेखों का भी समावेश किया गया है। इन लेखों के अक्षरों में कोण स्पष्ट दिखाई देते हैं। पात्र-लेखों के अक्षरों की खड़ी रेखाएं कुछ छोटी हो गई हैं। 'ओ' की मात्रा के लिए एक ही आड़ी रेखा है। इन लेखों को दानी ने ई० पू० पहली शताब्दी के उत्तरार्ध में रखा है। तीसरी श्रेणी: इसके अंतर्गत स्तूप नं० ३ के लेख (पात्र-लेख को छोड़कर), स्तूप नं० १ के पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण द्वारों के लेख और सातकर्णी के लेख का समावेश होता है। दानी ने इन लेखों को पहली शताब्दी ई० के पूर्वार्ध का माना है।

पहले हम बता चुके हैं कि इस काल के सांची के लेखों की ब्राह्मी लिपि में एक नया अक्षर 'ळ' भी मिलता है।

ई० पू० दूसरी शताब्दी के उत्तरार्ध में शकों का भारत में प्रवेश होता है। भारत में 'शकस्थान' (सिंध) इनका पहला केंद्र था। फिर इन्होंने सौराष्ट्र पर चढ़ाई की और १०० ई० पू० में उज्जयिनी नगरी जीती। इसी समय के नहपान नाम के एक शक सरदार

के सिक्के और उसके दामाद उषवदात के लेख इस प्रदेश में मिलते हैं। उज्जयिनी से पुष्कर होता हुआ शक राज्य मथुरा भी पहुंचा। उस समय तक मथुरा से शुंग राज्य उठ गया था। ये शक शासक अपने को 'क्षत्रप' या 'महाक्षत्रप' कहते थे। मथुरा के कंकाली टीले से इन शक क्षत्रपों के बहुत-से लेख मिले हैं। इस काल के कुछ जैन लेख भी मथुरा से मिले हैं। इन्हीं में नया अक्षर 'ळ' पाया जाता है।

इस काल से सिक्कों पर भी ब्राह्मी लेख मिलने लग जाते हैं। अलन तथा रैप्सन जैसे प्रसिद्ध पुराविदों ने इस काल में पाये जानेवाले सिक्कों का विशद अध्ययन प्रस्तुत किया है। ये सिक्के गोलाकार भी हैं, और चौकोर भी। सभी सिक्के ढाले हुए हैं। इन सिक्कों में यौधेय गण के सिक्के, मथुरा के क्षत्रपों के सिक्के और एरण से मिले हुए सिक्के विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। एरण (जिसका प्राचीन नाम 'ऐरिकिण' था) के लिए सिक्कों पर 'एरकन्या' लिखा हुआ है। एरण से प्राप्त तीन सिक्कों पर यह नाम मिलता है। एक चौथे सिक्के पर उलटे अक्षरों में 'धमपालस' नाम मिलता है। हम पहले बतला चुके हैं कि अक्षर खोदनेवाले की भूल के कारण ही इस सिक्के पर अक्षर उलटे आये हैं। इस पर पशु की जो आकृति है, वह भी उलटी जान पड़ती है। इस प्रकार की भूलें कई अन्य सिक्कों में भी देखने को मिलती हैं। इसलिए इस एरण-सिक्के के आधार पर यह परिणाम निकालना कि ब्राह्मी लिपि आरंभ में दाईं ओर से बाईं ओर को लिखी जाती थी, उचित नहीं है।

३. पश्चिमोत्तर दक्खन : इस प्रदेश की अनेक गुफाओं में ई० सन् के आरंभ के पहले के अनेक ब्राह्मी लेख मिलते हैं। 'नयनिका' या 'नागनिका' के नाणेघाट वाले लेख के अलावा बाकी सभी लेख संक्षिप्त हैं। नाणेघाट के अलावा अजिंठा, नासिक, कार्ले, भाजा, कोंडणे तथा पित्तलखोरा की गुफाओं में भी इस काल के संक्षिप्त ब्राह्मी लेख मिलते हैं।

यहां हम इस काल की उत्तर भारत की ब्राह्मी लिपि का नमूना दे रहे हैं :

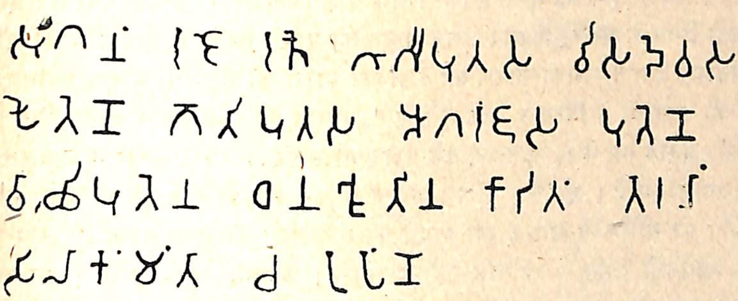

भरहुत वेदिका स्तम्भलेख

लिप्यंतर :

सुगनं रजे रञो गागीपुतस विसदेवस
पौतेण गोतिपुतस आगरजुस पुतेण
वाछिपुतेन धनभूतिन कारितं तोरनां
सिलाकंमंता च उपंण

दक्षिण भारत

दक्षिण भारत के कृष्णा जिले के भट्टिप्रोलु ग्राम के एक स्तूप से पिछली शताब्दी में तीन प्रस्तर-पात्रों पर और एक स्फटिक-प्रस्तर पर ब्राह्मी लिपि के लेख मिले थे। इन लेखों के अक्षर उत्तर भारत की ब्राह्मी लिपि के अक्षरों से कुछ भिन्न दिखाई देने के कारण बूलर जैसे पुरालिपिविदों ने भट्टिप्रोलु के लेखों की इस लिपि को 'द्राविडी लिपि' का नाम दिया था। ओझाजी ने भी लिखा था कि "इन भेदों से पाया जाता है कि उक्त भट्टिप्रोलु लेखों की लिपि पिप्रावा, बर्ली और अशोक के लेखों से नहीं निकली, किंतु उस मूल लिपि से निकली होगी जिससे स्वयं पिप्रावा, बर्ली और अशोक के लेखों की लिपि निकली है, संभवतः यह द्राविड (द्राविडी) लिपि ही हो।" इन दोनों विद्वानों को भट्टिप्रोलु की ब्राह्मी लिपि को 'द्राविडी' लिपि का यह नाम देने की प्रेरणा बौद्ध-ग्रंथ 'ललित-विस्तर' से मिली है। क्योंकि इस ग्रंथ में जिन ६४ लिपियों के नाम मिलते हैं उनमें बारहवां नाम 'द्राविड' लिपि का है। ब्राह्मी और खरोष्ठी का नामकरण भी इसी ग्रंथ की सूचना के आधार पर हुआ है। असल में, न ब्राह्मी लेखों में इस लिपि के लिए 'ब्राह्मी' नाम मिलता है, न खरोष्ठी लिपि के लेखों में 'खरोष्ठी' नाम। लेकिन अब ये नाम रूढ़ हो चुके हैं, इसलिए हम इन्हें स्वीकार कर लेते हैं। लेकिन दक्षिण भारत के इन भट्टिप्रोलु-लेखों की लिपि, और इधर मदुरा, तिरुनलवेली जिले तथा पुदुदुकोटा के पुराने राज्य से मिले हुए अनेक गुफालेखों की लिपि को 'द्राविडी' लिपि का नाम देने की आवश्यकता नहीं है।

हम पहले बता चुके हैं कि अशोक की राजकीय ब्राह्मी लिपि को प्रांतीयता के अनुसार विभिन्न शैलियों में विभाजित करना उचित नहीं है। दक्षिण भारत में भट्टिप्रोलु, अमरावती तथा गुफाओं से मिले हुए लेख अशोक के बाद के हैं। इन लेखों की प्रमुख बात यह है कि ये सभी बौद्धधर्म से संबंधित हैं और इनमें से अधिकांश लेखों की भाषा प्राकृत है। इसलिए हम कह सकते हैं कि ये लेख बौद्ध भिक्षुओं की ही कृतियां हैं। इन लेखों की ब्राह्मी लिपि के अक्षरों में और उत्तर भारत की ब्राह्मी लिपि के अक्षरों में जो थोड़ा-सा फ़रक दिखाई देता है, उसका कारण यह है दक्षिण भारत की भाषाओं में कुछ ध्वनियां उत्तर भारत की भाषाओं से बिल्कुल भिन्न हैं। इन ध्वनियों का समावेश करने के लिए ही कुछ नये अक्षर बनाये गये थे। लेकिन ये नये अक्षर भी उत्तर भारत के लेखों में व्यवहृत अक्षरों से ही बनाये गये हैं। इसलिए दक्षिण भारत के इन भट्टिप्रोलु लेखों की और गुफालेखों की लिपि को अधिक से अधिक हम ब्राह्मी की एक शैली ही मान सकते हैं; इसे एक नई लिपि--द्राविडी लिपि--का नाम नहीं दे सकते। अहमद हसन दानी ने इन लेखों का अच्छा विवेचन किया है। उन्हीं के आधार पर यहां हम इन लेखों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

भट्टिप्रोलु लेख

हम बतला ही चुके हैं कि भट्टिप्रोलु से तीन पात्र-लेख और एक स्फटिक-लेख मिला है। असल में, पात्र-लेखों की लिपि में और स्फटिक-लेख की लिपि में भी काफी अंतर है। इन दोनों प्रकार के लेखों में समानता यदि कोई है, तो केवल 'द' अक्षर

में। अशोक की ब्राह्मी में 'द' का मध्य-वक्र दाईं ओर को है, तो भट्टिप्रोलु के लेखों में यह बाईं ओर को है। यदि अक्षर के सिर पर लगनेवाली आड़ी लकीर को मिटा दिया जाय, तो भट्टिप्रोलु का 'द' वर्तमान नागरी लिपि के 'द' जैसा ही दिखाई दे सकता है। पात्रों के लेखों में हमें 'घ', 'भ', 'म', 'ल', 'श' के लिए कुछ नये प्रकार के अक्षर मिलते हैं। इनमें दक्षिण भारत के उच्चारण के अनुरूप एक नया अक्षर 'ळ' भी मिलता है। इनके अलावा शेष सभी अक्षर लगभग अशोक की ब्राह्मी जैसे हैं।

भट्टिप्रोलु के पात्र-लेखों की और एक विशेषता है—व्यंजनों में निहित 'अ' स्वर की मात्रा को इन लेखों में अक्षरों के ऊपर एक आड़ी लकीर जोड़कर व्यक्त किया गया है। इसलिए भट्टिप्रोलु के 'क', 'ख', 'ग' आदि 'अ' स्वरयुक्त व्यंजन उत्तर भारत की ब्राह्मी के 'का', 'खा', 'गा' आदि अक्षरों जैसे दिखाई देते हैं। इन लेखों में 'आ' की मात्रा अक्षरों के सिरों पर लगी हुई आड़ी लकीर को थोड़ा नीचे की ओर झुका देने से बनी है। भट्टिप्रोलु के पात्र-लेखों में 'अ' और 'आ' की मात्राओं की यह जो विशेषता है, वह दक्षिण भारत के किसी भी अन्य लेख में नहीं दिखाई देती, भट्टिप्रोलु के स्फटिक लेख में भी नहीं! इसीलिए दानी को कहना पड़ा, "चूंकि भट्टिप्रोलु के इन पात्र-लेखों की अपनी एक शैली है, इसलिए यह संभव जान पड़ता है कि ये लेख एक ही व्यक्ति के लिखे हुए हैं। और, क्योंकि इन लेखों में 'ळ' अक्षर को भी पहली बार लाया गया है, इसलिए इनका लेखक कोई स्थानीय बौद्ध होना चाहिए।" यदि भट्टिप्रोलु के पात्र-लेखों में 'अ' की मात्रा की इस विशेषता को स्थानीय तथा व्यक्तिगत प्रभाव माना जाय, तो शेष जो कुछ भिन्न-से दिखाई देनेवाले अक्षर हैं, उन्हें अशोक की ब्राह्मी से निर्मित सिद्ध किया जा सकता है। दानी ने नीचे की तालिका से यह सिद्ध किया है:

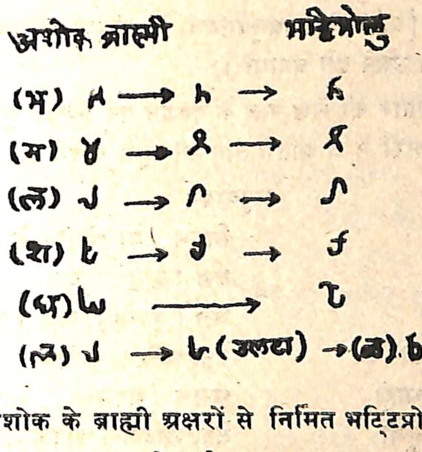

अशोक के ब्राह्मी अक्षरों से निर्मित भट्टिप्रोलु लेख के अक्षर

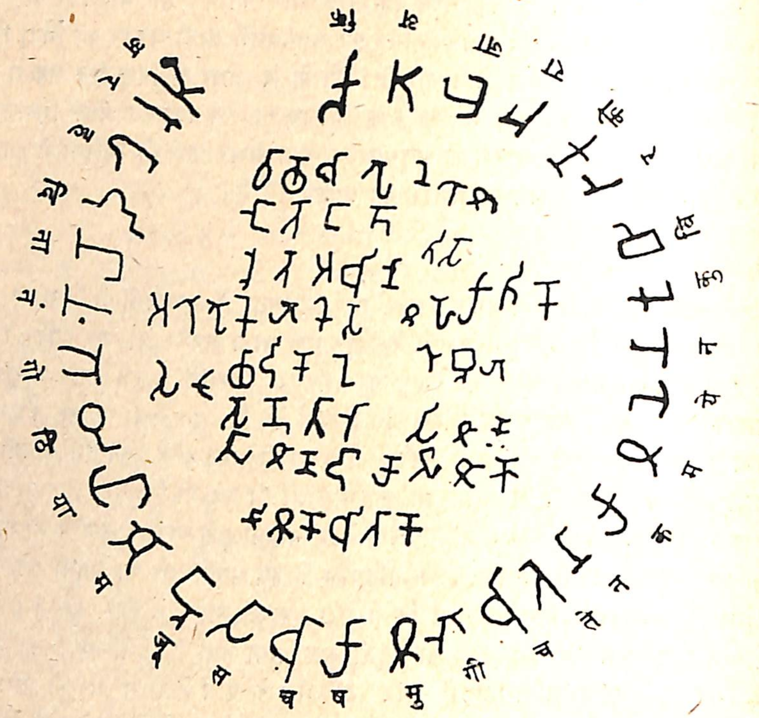

भट्टिप्रोलु (कृष्णा जिला) के स्तूप से प्राप्त तीसरे प्रस्तर-पात्र पर अंकित ब्राह्मी लेख (शिवराममूर्ति के आधार पर)। इस पात्र के घेरे पर लिखा हुआ और यहां वृत्ताकार में दिया हुआ लेख है :

"अरहदिनानं गोठिया मजूस च षमुगो च तेन कम येन कुबिरको राजा अकि"

अर्थात्, अरहदिन (अर्हदत्त) के अनुयायियों ने मंजूषा और पेटिका दी और राजा कुबिर ने जिसे आज्ञा दी उसने इसे बनाया।

ऊपर के चित्र में भीतर का लेख पात्र के ढक्कन पर लिखा हुआ है। इस लेख में पहली पंक्ति के सात अक्षरों में से अंतिम तीन को पहले पढ़िये।

लिप्यन्तर :	अनुवाद :
नेगमा	निगम (या श्रेणी) के सदस्य:
बछो चघो	वछ (वत्स), चघ,
जतो जभो तिसो	जेत (जयन्त), जंभ (जम्भ), तिस (तिस्य)
रेतो अचिनो षभिको	रेत, अचिन, सभिक,
अखघो केलो केसो माहो	अखघ (अक्सघ्न), केल, केस, माह,
सेटा छदिको ओखबूलो	सेट, छदिक (छंदिक), ओखबुला,
सोणुतरो समणो	सोणुतर (शोणोत्तर), समण (श्रमण)
समणदाषो सामको	समणदास (श्रमणदास), सामक (स्यामक)
कामुको चीतको	कामुक, चितक।

गुफालेख

दक्षिण भारत के मदुरा तथा तिरुनेलवेली जिलों से और भूतपूर्व पुद्दुकोटा राज्य के सित्तनवासल स्थान से कई गुफालेख मिले हैं। इनमें से कुछ गुफाओं की खोज करनेवाले के० व्ही० सुब्रह्मण्य अय्यर ने इन लेखों का अध्ययन करके यह सिद्ध किया है कि ये लेख तमिल भाषा में हैं और बौद्धधर्म से संबंधित हैं। इन लेखों की लिपि ब्राह्मी है, परंतु इनके कुछ अक्षर अशोक की ब्राह्मी में नहीं मिलते। तमिल में 'न', 'ल' तथा 'र' जैसे कुछ व्यंजनों की जो अपनी विशेष ध्वनियां हैं, उनके लिए इन गुफालेखों की ब्राह्मी लिपि में नये अक्षर पाये जाते हैं। लेकिन ये चंद नये अक्षर भी अशोक की ब्राह्मी के अक्षरों के आधार पर बने हैं। नीचे हम सित्तनवासल से प्राप्त एक गुफालेख का नमूना दे रहे हैं।

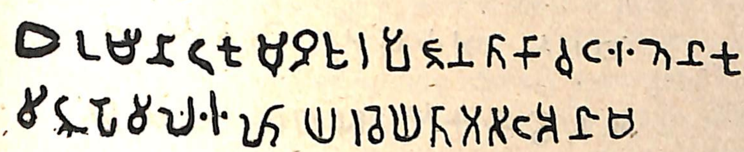

सित्तनवासल का एक गुफालेख

लिप्यन्तर : एउमीनाड़ु(ट्ट) कुम(-)ऊर पीरानता कावुडी(टी) इतेन कु-चिड़ु(टु) पोचिल इलायरचेयता अतीटअनाम

अर्थात्, एरुमीनाड़ु के कुमत्तूर ग्राम में पैदा हुए कावुडी इतेन के लिए चिट्टुपोइल इलायर ने यह 'अधिष्ठान' बनाया।

इस लेख में 'न', 'प' और 'य' अक्षर कुछ अद्भुत हैं। इसमें 'इ' अक्षर के लिए एक दण्ड के दोनों ओर दो बिंदु वाला चिह्न है। इस समय 'इ' के लिए उत्तर भारत में यह अक्षर कहीं नहीं मिलता। कालांतर में उत्तर तथा पश्चिम भारत के लेखों में यही चिह्न 'ई' के लिए इस्तेमाल किया हुआ मिलता है। इसलिए यह कल्पना की जा सकती है कि, 'ई' के लिए यह चिह्न दक्षिण भारत से उत्तर भारत में पहुंचा है। दानी ने इस लेख को ईसा की पहली शताब्दी के पूर्वार्ध का माना है। भट्टिप्रोलु के लेखों को भी उन्होंने इसी काल का माना है। लेकिन बूलर भट्टिप्रोलु के लेखों को ई० पू० तीसरी शताब्दी का मानते थे और ओझाजी ने इन्हें ई० पू० दूसरी शताब्दी में रखा था। शिवराममूर्ति भी बूलर का समर्थन करते हुए इन्हें काफी प्राचीन मानते हैं। दक्षिण के गुफालेखों की तरह की लिपि पुदुचेरी के पास के अरिकमेदु स्थान से मिले हुए मिट्टी के बर्तनों के टुकड़ों पर भी मिली है। वस्तुतः इस काल के दक्षिण भारत के लेखों का समुचित तुलनात्मक अध्ययन होना अब भी बाकी है। इनके काल-निर्धारण की समस्या काफी जटिल मालूम होती है।

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में आंध्र प्रदेश के गुंटूर जिले में—कृष्णा की उपत्यका में—बौद्धधर्म की जड़ें अच्छी तरह जम गयी थीं। अमरावती, जग्गय्यपेट, विजयपुरी (नागार्जुन कोंडा) आदि स्थानों से बहुत सारे लेख मिले हैं। पर ये लेख ईसा की पहली शताब्दी के बाद के हैं। अभी पिछले साल इसी क्षेत्र के केसनपल्ली स्थान से एक नये

स्तूप की खोज हुई है। यह स्थान गुंटूर जिले के पालनाड़ तालुक में है। यहां से कई ऐसे आयक-स्तंभ मिले हैं जिन पर अभिलेख उत्कीर्ण हैं। तीसरी शताब्दी का एक महत्वपूर्ण अभिलेख भी यहां से मिला है। संगमर्मर के आयक-स्तंभ पर उत्कीर्ण इस लेख की लिपि नागार्जुनकोंडा के इक्ष्वाकु लेखों से मिलती है। प्रस्तुत लेख में हमें पहली बार जानकारी मिलती है कि इक्ष्वाकु राजवंश के संस्थापक वाशिष्ठपुत्र का नाम संतमूल था।

केसनपल्ली के स्तूप की खुदाई में एक अर्धवृत्ताकार संगमर्मर-फलक भी मिला है। इस पर कलश से बाहर निकले हुए कमल-पुष्पों का दृश्य उकेरा हुआ है। इसके नीचे एक पंक्ति में ब्राह्मी लिपि में एक लेख है। इस लेख के ब्राह्मी अक्षर निस्संदेह १०० ई० पू० के बाद के नहीं हो सकते। नीचे हम इस लेख को लिप्यंतर के साथ दे रहे हैं :

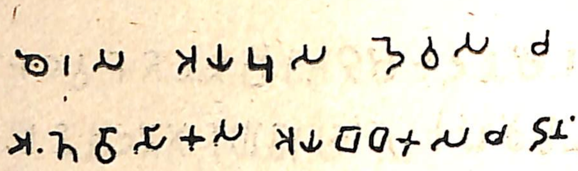

केसनपल्ली (गुंटूर जिला) के बौद्ध-स्तूप से प्राप्त दान-लेख (दूसरी शताब्दी ई० पू०)

लिप्यंतर :

थेरस अयपुस देवस च

अंतेवासिकस अयबधकस च दानं

२५

ब्राह्मी की शैलियां : ईसा की पहली से चौथी शताब्दी तक

हमने देखा है कि अशोक की ब्राह्मी में अक्षरों को पत्थरों पर खोदने के पहले 'लिपिकर' खड़िया से इन्हें पत्थरों पर लिख देते थे। इसके बाद धीरे-धीरे कलमों का भी इस्तेमाल होने लगा। इस 'कलम-शैली' का प्रभाव प्रस्तुत काल में स्पष्ट दिखाई देता है। कलम के इस्तेमाल के कारण हाथ तेज़ी से चलने लगा, तो ब्राह्मी के अक्षर कुछ घसीटे बनने लगे। इस काल के ब्राह्मी अक्षरों को कुछ अधिक कलात्मक बनाने का भी प्रयत्न किया गया है, जैसा कि जग्गय्यपेट तथा नागार्जुनकोंडा के लेखों में देखने को मिलता है। तेजी से और घसीटा लिखने के कारण इस काल की ब्राह्मी को कुछ नया स्वरूप मिल गया है और अक्षरों को कलात्मक बनाने की प्रवृत्ति के कारण ब्राह्मी लिपि में कलात्मक वक्र, त्रिकोण तथा चौकोण दिखाई देते हैं। इतना होने पर भी ब्राह्मी अक्षरों के मुख्य ढांचे में कोई विशेष रूपान्तर देखने को नहीं मिलता। पहली शताब्दी ई० के ब्राह्मी अक्षरों को यदि कोई पहचानता है, तो कुछ प्रमुख बातों की जानकारी हो जाने पर, प्रस्तुत काल के ब्राह्मी लेखों को भी आसानी से पढ़ा जा सकता है।

इस काल की ब्राह्मी लिपि की कुछ विशेषताएं हैं :

पहली विशेषता है, अक्षरों की प्रमुख खड़ी रेखाओं का शिरो-चिह्न। (देखिए, चित्र, अगला पृष्ठ)। मथुरा के क्षत्रपों के लेखों में पहली बार हमें खड़ी रेखाओं के सिरे कुछ मोटे दिखाई देने लग जाते हैं। कुषाणों के लेखों में, पश्चिमी क्षत्रपों के लेखों में और सातवाहनों के लेखों में भी ये मोटे सिर दिखाई देते हैं। फिर इन सिरों पर एक छोटी-सी आड़ी लकीर भी लगने लगी। फिर, सिर पर लगनेवाली यह आड़ी लकीर कुछ मोटी हो गई, जैसा कि इस काल के मथुरा के लेखों में देखने को मिलता है। फिर, यह शिरो-चिह्न वर्गाकार हो गया---पहले ठोस, तदनंतर खोखला। ठोस वर्गाकार सिरवाले अक्षर मालव प्रदेश के लेखों में और आरंभिक गुप्त-लेखों में मिलते है। खोखले वर्गाकार सिरवाले अक्षर वाकाटक लेखों में मिलते हैं। दूसरी ओर यह शिरो-चिह्न ठोस तथा खोखले त्रिकोण का भी रूप धारण करता है। ठोस त्रिकोणाकार सिर वाले अक्षर विजयगढ़ तथा नागर्जुनकोंडा के लेखों में मिलते हैं।

दूसरी विशेषता है, अक्षरों के साथ लगनेवाली स्वर-मात्राओं की नई शैली। 'आ' की मात्रा दायीं ओर को एक आड़ी लकीर न होकर, अब यह लकीर ऊपर की ओर कुछ टेढ़ी होती है। 'इ' और 'ई' की मात्राएं भी कुछ गोलाकार हो जाती हैं और कई कलात्मक

रूप धारण करती हैं, जैसा कि जगय्यपेट और नागार्जुनकोंडा के लेखों में देखने को मिलेगा। अक्षरों के नीचे लगनेवाली 'उ' की मात्रा अब आड़ी रेखा न रहकर कुछ नीचे की ओर झुक जाती है। 'ऊ' की दूसरी मात्रा पहली मात्रा से बाईं ओर को झुकती हुई जोड़ी जाती

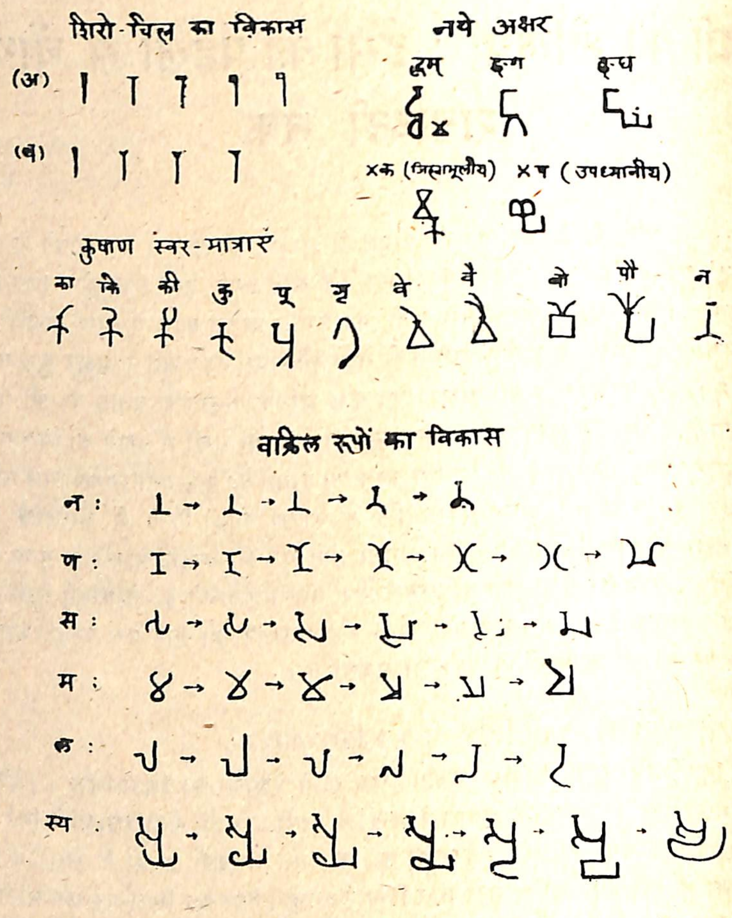

ईसा की पहली से चौथी शताब्दी तक के ब्राह्मी अक्षरों की विशेषताएं
(दानी के आधार पर)

है। 'ऋ' की मात्रा 'ऊ' की दूसरी मात्रा जैसी ही जुड़ती है। 'ऐ', 'ऐं', 'ओ' और 'औ' की मात्राएं कुछ ऊपर की ओर उठती हैं। कुषाण कालीन मथुरा के लेखों में और कुछ अन्य लेखों में अनुस्वार के लिए पहले की तरह केवल एक बिंदु न होकर, एक छोटी-सी आड़ी लकीर दिखाई देती है।

तीसरी विशेषता यह है कि, त्वरा से और कुछ घसीटा लिखने के कारण इस काल के ब्राह्मी अक्षर कुछ नये रूप धारण करते हैं।

चौथी विशेषता है, अक्षरों को कलात्मक बनाने की कोशिश के कारण इनकी स्वरमात्राओं में हुआ परिवर्तन। अक्षरों को कलात्मक बनाने की प्रवृत्ति के कारण मात्राओं

में गोलाइयां आई हैं, खड़ी रेखाएं ऊपर या नीचे झुक गई हैं और कुछ अक्षरों के बीच में मोड़ आ गये हैं। जगय्यपेट तथा नागार्जुनकोंडा के लेख ब्राह्मी सुलेखन के बढ़िया नमूने हैं।

इस काल की ब्राह्मी लिपि में हमें कुछ नये अक्षर भी मिलते हैं। रुद्रदामन के लेख में पहली बार 'ऋ' स्वर के लिए धन चिह्न या क्रॉस की तरह का अक्षर मिलता है। 'सिद्धम्' शब्द में आये हुए हलन्त 'म' (म्) के लिए भी व्यवस्था देखने को मिलती है। इस हलन्त 'म्' के लिए 'म' अक्षर का ही इस्तेमाल हुआ है, परंतु यह 'द्ध' की दाईं ओर कुछ नीचे रखा जाता था और कुछ छोटा होता था। 'ग' और 'घ' के साथ जुड़ा हुआ 'ङ' अक्षर भी अब मिलता है, जो [के आकार का है। अब हमें 'उपध्मानीय' एवं 'जिह्वा-मूलीय' ध्वनियों के लिए भी अक्षर मिलते हैं। ओझाजी ने इनके बारे में लिखा है, "'क' और 'ख' के पूर्व विसर्ग का उच्चारण विलक्षण होता था और जिह्वामूलीय कहलाता था। इसी तरह 'प' और 'फ' के पहले विसर्ग का उच्चारण भी भिन्न था और उपध्मानीय कहलाता था। जिह्वामूलीय के न्यारे न्यारे चिह्न थे, जो कभी कभी प्राचीन पुस्तकों, शिलालेखों और ताम्रपत्रों में मिल आते हैं, जो अक्षरों के ऊपर, बहुधा उनसे जुड़े हुए होते हैं, और उनमें भी अक्षरों की नाईं समय के साथ परिवर्तन होना पाया जाता है" (भा०प्रा०लि०, पृ० ४५)। पहले हम बता चुके हैं कि दक्षिण के गुफालेखों में 'इ' के लिए एक खड़े दण्ड के दोनों ओर दो बिंदु वाला चिह्न मिलता है। प्रस्तुत काल के लेखों में इसी प्रकार का चिह्न 'ई' के लिए इस्तेमाल किया हुआ दिखाई देता है। इलाहाबाद के समुद्रगुप्त के स्तंभलेख में 'ळ' के लिए भी अक्षर मिलता है ('कौराळक' शब्द में)। हम बतला चुके हैं कि इसके पहले सांची तथा मथुरा के लेखों में भी यह अक्षर मिलता है।

इस काल की ब्राह्मी लिपि की कुछ विशेषताओं का दिग्दर्शन कराने के बाद अब हम इस काल के दो-चार प्रमुख लेखों के उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। इस काल की ब्राह्मी लिपि की सारी शैलियों का विवेचन इस ग्रंथ की सीमा में संभव नहीं है।

इस काल में उत्तर भारत से कुषाणवंशी राजाओं के बहुत-से लेख मिलते हैं। ई० पू० दूसरी शताब्दी में हूणों द्वारा भगाए जाने के पहले कुषाणों के पूर्वज तिएन-शान (पर्वत) के परे एक घुमंतू कबीले के रूप में रहते थे। हूणों से खदेड़ जाने पर ये पूर्वी चीनी तुर्किस्तान में बस गये। बाद में इन्होंने यूनानियों के बख्त्रिया राज्य पर भी अधिकार कर लिया। इनके नेतृत्व में अब कई घुमंतू कबीलें भी आकर मिल गये थे। इतिहास में इनके पहले राजा का उल्लेख कद्फिस-प्रथम (१५-४५ ई०) के नाम से मिलता है। इस राजा ने अपने को 'शाहानुशाह' कहा है। इसने शकों तथा पार्थवों (पह्लवों) का पराभव करके अपना प्रभाव कश्मीर तथा काबुल की उपत्यकाओं पर भी कायम किया था। उसके बेटे विम-कद्फिस (४५-७८ ई०) ने अपने साम्राज्य में पंजाब, सिंध तथा मथुरा के प्रदेश भी जोड़ लिये। राजधानी उसकी बदक्शाँ में थी। लेकिन कुषाण साम्राज्य का चरम विकास कणिष्क (७८-१०१ ई०) के समय में ही हुआ। कणिष्क ने पाटलिपुत्र (पटना) पर भी चढ़ाई की थी और वहां से वह प्रसिद्ध बौद्ध पंडित अश्वघोष को अपने साथ ले गया था। मगध तथा मध्यदेश में उसके क्षत्रप राज्य करते थे। पुरुषपुर

(पेशावर) नगर को बसाकर वह बदक्शाँ से अपनी राजधानी वहां ले आया। पश्चिम में उसके साम्राज्य की सीमा अराल सागर तक थी और उधर चीनी तुर्किस्तान में खोतन तक। कणिष्क बौद्धधर्म का अनुयायी था और उसने बौद्धों की चौथी संगीति कश्मीर में करायी थी। बहुत-से विद्वान मानते हैं कि उसीने ७८ ई० में 'शक संवत्' चलाया था। उसके सिक्कों पर उसका नाम 'शाहानुशाह कनिष्क' मिलता है। वह अपने को 'देवपुत्र' भी कहता था।

कणिष्क के बाद उसके वंशजों के बारे में हमें बहुत कम ऐतिहासिक जानकारी मिलती है। उसके उत्तराधिकारियों में वाशिष्क (१०२-१०६ ई०), हुविष्क (१०६-१३८ ई०) तथा वासुदेव प्रथम (लग० १५२-१७६ ई०) राजाओं के नाम मिलते हैं।

कुषाणों की ब्राह्मी लिपि का विकास पूर्व-काल के शक क्षत्रपों (शोडास, रंजुवुल आदि) की लिपि से ही हुआ है। कुषाण लेखों में कुछ अक्षर ऊपर-नीचे से दब गये हैं या छोटे हो गये हैं, जैसा कि 'ह', 'य', 'ण', 'म', 'च', आदि अक्षरों को देखने से स्पष्ट हो जायेगा। इसमें कुछ अक्षरों के अंश त्रिकोणाकार हो गये हैं, जैसे कि 'व', 'ख' तथा 'म' में। 'ब' अक्षर वर्गाकार बन गया है और 'थ' वृत्ताकार। 'ए' और 'ओ' की ऊपर लगने-वाली मात्राएं क्रमशः दाएं, बाएं तथा दोनों ओर कुछ ऊपर की ओर उठ गयी हैं। 'च' का पेट बाईं और कुछ अधिक निकला है।

नीचे हम कणिष्क के राज्यकाल के एक लेखांश को नागरी लिप्यंतर के साथ दे रहे हैं। यह लेखांश बल नाम के एक भिक्षु द्वारा वाराणसी में स्थापित बोधिसत्व की मूर्ति के छत्र पर मिलता है। इस लेख की पहली पंक्ति में आये हुए 'सं', 'हे' और 'दि' अक्षर क्रमशः 'संवत्सर' या 'संवत्', 'हेमंत' और 'दिवस' शब्दों के संक्षिप्त रूप हैं।

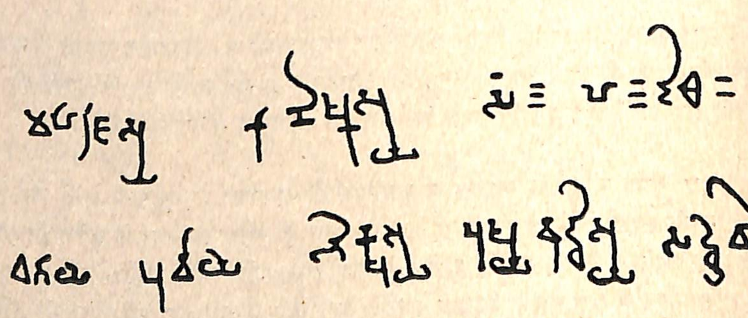

कणिष्क (७८-१०१ ई०) के राज्यकाल का एक लेखांश

लिप्यन्तर :

महाराजस्य कणिष्कस्य सं ३ हे ३ दि २२
एताये पुर्वये भिक्षुस्य पुष्यवुद्धिस्य सद्धोवि-

इस काल में पश्चिमी महाराष्ट्र की गुफाओं (लेणों) से बहुत-से शिलालेख मिलते हैं। इनमें सातवाहन तथा शक क्षत्रप दोनों के ही लेख उपलब्ध हैं। यहां हम शक क्षत्रप उषवदात के नासिक की गुफा में उत्कीर्ण एक लेख का नमूना दे रहे हैं। उषवदात प्रसिद्ध शक क्षत्रप नहपान का दामाद था। नहपान का राज्य उत्तरी महाराष्ट्र तक था और

उसकी राजधानी भरुकच्छ (भडोच) में थी। उषवदात जैन मतावलंबी था, परंतु उसने दूसरे धर्मों के अनुयायियों का भी उचित सम्मान किया। नासिक और जुन्नर में उसने पहाड़ कटवाकर बौद्ध भिक्षुओं के लिए विहार बनवाये थे। उसने ब्राह्मणों को भी यज्ञों के लिए दान दिये।

उषवदात के नासिक के गुफालेख का एक अंश नीचे दिया जाता है :

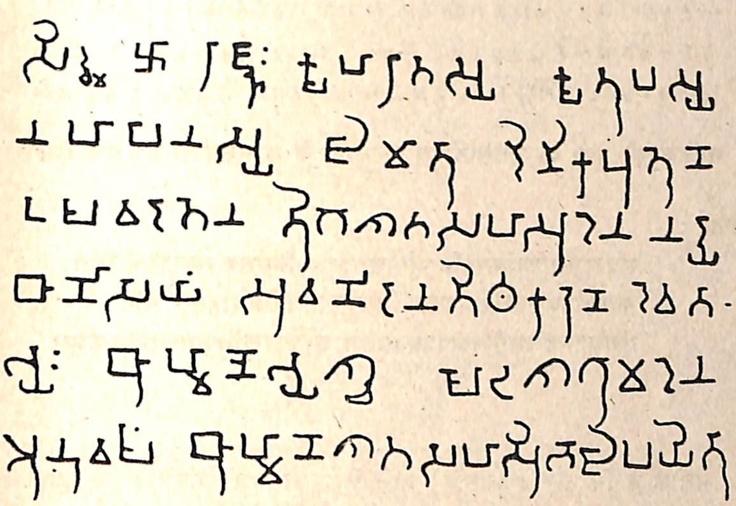

उषवदात के नासिक गुफालेख का एक अंश

लिप्यन्तर :

सिद्धम् (स्वस्तिक) राज्ञः क्षहरातस्य क्षत्रपस्य
नहपानस्य जामात्रा दीनीकपुत्रेण
उषवदातेन त्रिगोशतसहस्रदेन नद्या
बार्णासायां सुवर्णदानतीर्थकरेण देवता-
भ्यः ब्राह्मणेभ्यश्च षोडशग्रामदेन
अनुवर्ष ब्राह्मणशतसहस्रीभोजापयित्रा

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद दक्षिण के महाराष्ट्र प्रदेश में सातवाहन शक्ति का उदय हुआ था। धीरे-धीरे सातवाहनों की शक्ति बढ़ती गई और उन्होंने पूर्व में आंध्र देश तक अपने शासन को बढ़ाया। सातवाहन शासकों में गौतमीपुत्र शातकर्णी, वासिष्ठी-पुत्र पुळुमावी तथा साहित्यप्रेमी राजा हाल विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। एक समय तो सात-वाहनों का राज्य पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में अरब सागर तक संपूर्ण दक्षिणी पठार (तमिलनाड को छोड़कर) पर रहा है।

महाराष्ट्र की गुफाओं में इन आंध्रवंशी या सातवाहन शासकों के अनेक लेख मिलते हैं। सातवाहनों की लिपि में और उषवदात तथा रुद्रदामन के लेखों की लिपि में काफी समानता है। किंतु इन लेखों की अपनी कुछ मौलिक विशेषताएं भी हैं। यहां

हम सिरि पुळुमावी के शासनकाल में नासिक की गुफा में उत्कीर्ण एक लेख का अंश दे रहे हैं। यह लेख वासिष्ठीपुत्र पुळुमावी की दादी राजमाता बलसिरीय (बालासिरि) ने खुदवाया था। इस लेख में एक सम्राट की शक्ति तथा गौरव का बढ़िया वर्णन है और यह साहित्यिक लेख भारतीय पुरालेखशास्त्र में ऊंचा स्थान रखता है।

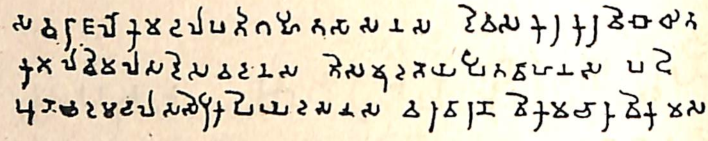

नासिक की गुफा का वासिष्ठीपुत्र पुळुमावी के शासनकाल का एक लेखांश

लिप्यन्तर :

सवराजलोकमंडलपतिगहीतसासनस दिवसकरकरविबोधित
कमलविमलसदिसवदनस तिसमुदतोयपीतवाहनस पटि-
पुंणचदमडलससिरीकपियदसनस वरवारणविकमचारुविकमस

अशोक के गिरनार (जूनागढ़) वाले लेख की चर्चा करते समय हम बता चुके हैं कि इसी चट्टान पर महाक्षत्रप रुद्रदामन (१५० ई०) और स्कंदगुप्त (४५५-४६७ ई०) के भी लेख मिलते हैं। ११० ई० के आसपास कुषाणवंश के शासक कद्फिस-द्वितीय की ओर से चष्टन नामक महाक्षत्रप उज्जयिनी का शासक था। महाक्षत्रप रुद्रदामन इसी चष्टन का पोता था। रुद्रदामन के जीवन की घटनाओं के बारे में हमें कोई ठोस जानकारी तो नहीं मिलती, लेकिन जान पड़ता है कि उसने १३० और १५० ई० के बीच राजधानी उज्जयिनी से सिंध, मारवाड़, कच्छ, सुराष्ट्र, गुजरात, मालवा तथा उत्तरी महाराष्ट्र के प्रदेशों पर शासन किया था। उसे अपनी बेटी सातवाहन राजकुमार को ब्याह देनी पड़ी थी। फिर भी रुद्रदामन को अपने समधी से दो बार युद्ध करना पड़ा था। उसने उन यौधेयों को भी हराया, जिनका "सब क्षत्रियों में वीर प्रसिद्ध हो जाने से दिमाग फिर गया था।"

रुद्रदामन का गिरनार (गिरिनगर) वाला लेख उसी चट्टान की पश्चिम की ओर ऊपर की तरफ खुदा हुआ है, जिस पर अशोक के प्रसिद्ध चतुर्दश-शिलालेख हैं। बीस पंक्तियों का यह लेख अच्छी तरह से खुदा हुआ है और लगभग ११ फुट लंबी और ५½ फुट चौड़ी जगह घेरता है। इस लेख की अंतिम चार पंक्तियां ही अच्छी हालत में सुरक्षित हैं; शेष पंक्तियों को काफी नुकसान पहुंचा है, जिससे यह महत्वपूर्ण लेख पूरा उपलब्ध नहीं है। इस लेख की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि संस्कृत भाषा में मिलने वाला यह सबसे प्राचीन लंबा लेख है। इसके पहले का शुद्ध संस्कृत भाषा में केवल एक ही लघु-लेख मिलता है, जो मथुरा के पास ईसापुर स्थान से एक यूप-स्तंभ पर मिला है। रुद्रदामन का लेख खूब मंजी हुई संस्कृत में है, इसीलिए कीलहॉर्न जैसे संस्कृत-पंडित को भी कहना पड़ा कि "इस लेख के रचयिता की काव्य-प्रतिभा उच्चकोटि की थी।"

'सुदर्शन' सरोवर के पुनरुद्धार-कार्य को जतलाने के लिए रुद्रदामन ने यह लेख खुदवाया था। इसी लेख से पता चलता है कि मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त ने इस सरोवर का निर्माण कराया था और अशोक के समय में इसे पूर्ण रूप मिला था। रुद्रदामन के समय में आंधी-तूफान के कारण इसका बांध टूट गया था और सारा पानी बह गया था। अतः इस 'दुर्दर्शन' सरोवर को अपने प्रांतीय शासक सुविशाख द्वारा पुनर्निर्मित करवाके रुद्रदामन ने इसे 'सुदर्शन' बना दिया था।

रुद्रदामन का यह लेख ब्राह्मी लिपि की दक्षिणी शैली में है। इस लेख में 'अ', 'आ', 'क', 'का' तथा 'र' अक्षरों की खड़ी रेखाएं नीचे वक्र हो जाती हैं। इस लेख में 'ळ' अक्षर भी मिलता है। इस लेख के अक्षरों की अन्य विशेषताएं नीचे दिये गये नमूने का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जायेंगी। यहां हम इस लेख की १५वीं पंक्ति दे रहे हैं। साथ में नागरी लिप्यन्तर तथा अनुवाद भी है।

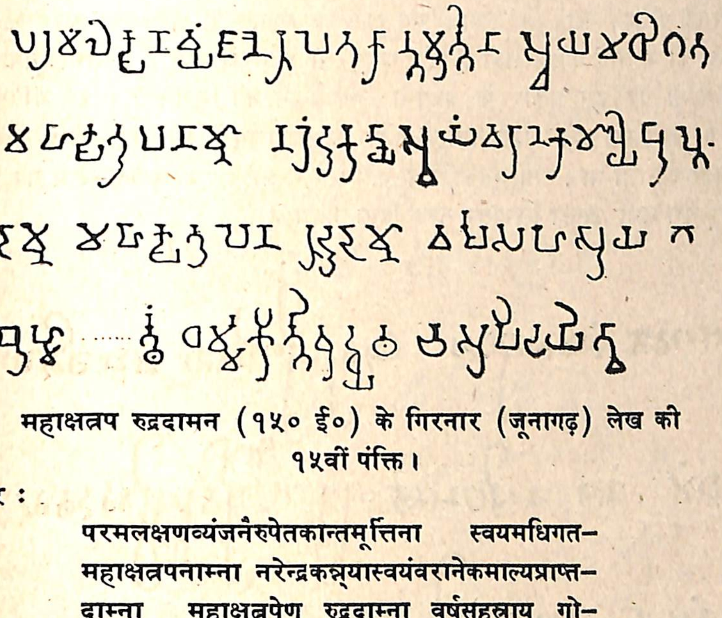

महाक्षत्रप रुद्रदामन (१५० ई०) के गिरनार (जूनागढ़) लेख की १५वीं पंक्ति।

लिप्यंतर :

परमलक्षणव्यंजनैरुपेतकान्तमूर्त्तिना स्वयमधिगत-
महाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्यास्वयंवरानेकमाल्यप्राप्त-
दाम्ना महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना वर्षसहस्राय गो-
ब्राह्म(ण) ...र्त्थं धर्म्मकीर्त्तिवृद्ध्यर्थं च अपीडयित्वा

अर्थात्,

उत्तम लक्षणों, व्यंजनों से युक्त कान्त मूर्तिवाले, अपने आप पाये महाक्षत्रप नामवाले, राजकन्याओं के स्वयंवरों में अनेक मालाएं पानेवाले महाक्षत्रप रुद्रदामन ने हजारों बरसों के लिए गौ-ब्राह्मण......के लिए तथा धर्म और कीर्ति की वृद्धि के लिए, पीडित किये बिना..

दक्षिण के अमरावती, जग्गय्यपेट, नागार्जुनकोंडा, घंटसाल आदि बौद्ध स्थानों से इस काल के अनेक लेख मिले हैं। इस क्षेत्र में सबसे प्राचीन लेख अमरावती से मिलते हैं।

सातवाहन शासन के साथ ही नाणेघाट शैली की ब्राह्मी लिपि का यहां कृष्णा के कछार में आगमन हुआ था। इन लेखों में अक्षरों को अधिक कलात्मक बनाने की कोशिश की गई है। जग्गय्यपेट तथा नागार्जुनकोंडा के लेखों में यह कलात्मक शैली अपनी चरमोन्नति पर दिखाई देती है। इस क्षेत्र में सातवाहनों का राज्य, जिसकी राजधानी धान्यकटक (प्राचीन अमरावती के समीप) थी, दूसरी-तीसरी शताब्दी तक ही कायम रहा। सातवाहनों की शक्ति क्षीण हो जाने पर तीसरी शताब्दी में वासिष्ठीपुत्र चाम्तमूल ने विजयपुरी (नागार्जुनकोंडा) में इक्ष्वाकु राजवंश की स्थापना की। इक्ष्वाकु राजाओं ने विजयपुरी से लगभग सौ वर्षों तक इस प्रदेश पर शासन किया; किंतु यही सौ वर्ष नागार्जुनकोंडा की चरमोन्नति तथा गौरव का काल है। चाम्तमूल ब्राह्मणधर्मी राजा था और कार्तिकेय का भक्त, किंतु उसकी बहन चाम्तश्री बौद्धधर्म की अनुयायिनी थी और उसी के प्रयास से विजयपुरी में एक महाचैत्य की स्थापना हुई थी।

जग्गय्यपेट तथा नागार्जुनकोंडा से इक्ष्वाकु शासकों के काफी लेख मिले हैं। इन सुंदर लेखों में 'अ', 'आ', 'क', 'ञ', 'र' तथा 'ल' अक्षरों के खड़े दण्ड और 'इ', 'ई', तथा 'उ' की मात्राएं काफ़ी लंबी हैं और खूबसूरती से मोड़ी गयी हैं। नागार्जुनकोंडा के आयक-स्तंभों पर इस प्रकार के बहुत-से लेख देखने को मिलते हैं। इन पंक्तियों के लेखक को अभी कुछ महीने पहले नागार्जुनकोंडा के संग्रहालय में इन लेखों को प्रत्यक्ष देखने का सुअवसर मिला था। नागार्जुनकोंडा के महाचैत्य से प्राप्त एक आयक-स्तंभ पर अंकित लेख का अंश तथा उसका लिप्यंतर नीचे दिया जाता है :

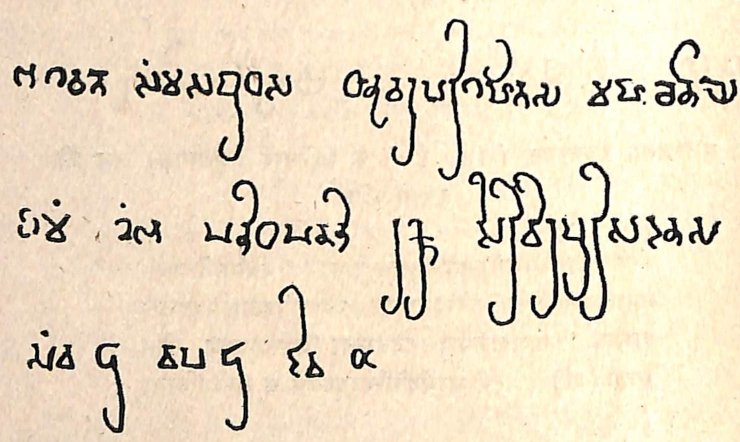

नागार्जुनकोंडा के एक आयक-स्तम्भ पर अंकित लेख का अंश

लिप्यंतर :

भगवतो संमसबुधस धातुवरपरिगहीतस महाचेतिये
इमं खंभं पतिठपनति रञो सिरिविरपुरिसदतस
संव ६ वाप ६ दिव १०

ईसा की तीसरी सदी से आठवीं सदी तक कांचीपुरम् से पल्लव शासकों ने दक्षिण भारत में शासन किया। पल्लव शासकों में शिवस्कंदवर्मन्, महेन्द्रवर्मन्-प्रथम तथा नरसिंहवर्मन्-प्रथम जैसे शासकों के नाम प्रसिद्ध हैं। समुद्रगुप्त ने अपनी दक्षिण-दिग्विजय के समय पल्लव शासक 'विष्णुगोप' को हराया था। नरसिंहवर्मन् ने सिंहल पर दो बार चढ़ाई की थी। पल्लव शासक 'धर्ममहाराज' की उपाधि धारण करते थे। शिवस्कंदवर्मन् ने 'अश्वमेध' यज्ञ भी किया था। पल्लवों के शासनकाल में शैव, जैन तथा बौद्ध धर्मों की खूब उन्नति हुई। आर्यदेव, दिङ्नाग, धर्मपाल (बाद में नालंदा के प्राचार्य), भारवि तथा दंडिन् जैसे विद्वान पल्लव शासनकाल में हुए। चीनी यात्री युवान्-च्वाङ लगभग ६४० ई० में नरसिंहवर्मन्-प्रथम के शासनकाल में कांची पहुंचा था।

पल्लवों के बहुत-से अभिलेख मिलते हैं। इनमें सारे आरंभिक लेख प्राकृत में हैं। बाद के लेखों की भाषा संस्कृत है। पल्लवों के लेखों की लिपि पर पश्चिमी घाट की गुफा-लिपि (सातवाहनों के लेख) तथा इक्ष्वाकु लेखों की लिपि का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। पल्लवों के लेखों के अक्षर अपनी स्वतंत्र विशेषताएं भी रखते हैं। इनमें और दक्षिण-

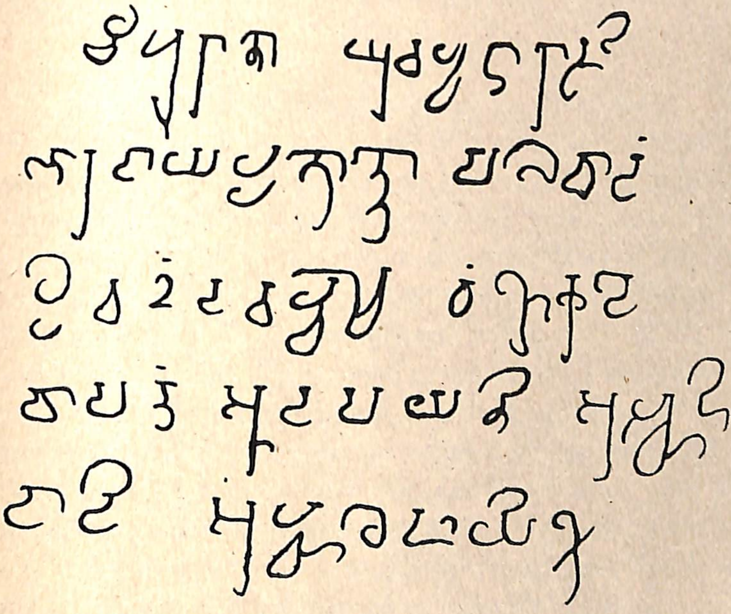

शिवस्कंदवर्मन् का मोयिडवोलु (गुंटूर) दानपत्र (चौथी सदी, पूर्वार्ध)

लिप्यंतर :

(कां)चीपुरतो युवमहाराजो
भारदायसगोत्तो पलवानं
सिवखंदवम्मो धंञकडे
वापतं आनपयति अम्हेहि
दानि अम्हवेजयिके

पूर्व एशिया के बहुत-से लेखों के अक्षरों में बड़ी समानता है। नीचे के नमूने को देखने से पता चलेगा कि पल्लव लेखों में 'ए', 'ज', 'त', 'न' तथा 'स' अक्षर कुछ विलक्षण हैं। पर यदि इन अक्षरों के उद्गम को पश्चिम भारत के गुफालेखों में और इनके विकास को दक्षिण-पूर्व एशिया के तत्कालीन लेखों में खोजा जाय, तो ये उतने विलक्षण नज़र नहीं आयेंगे।

२६

गुप्त-काल की लिपि

चौथी शताब्दी के आरंभ से उत्तर भारत के एक विशाल भू-भाग पर गुप्तवंश का शासन आरंभ होता है। लगभग दो सौ वर्षों के गुप्त शासनकाल में भारत का जो बहुमुखी विकास हुआ, उसके कारण भारतीय इतिहास के इस काल को 'वैभव का युग' माना जाता है। गुप्त सम्राट ब्राह्मणधर्म के अनुयायी थे, इसलिए उनके काल में संस्कृत भाषा को पुनः गौरव का स्थान मिला। चौथी शताब्दी के आरंभ तक भारत के विभिन्न प्रदेशों में ब्राह्मी लेखों की भाषा मुख्यतः प्राकृत ही रही है। परंतु गुप्त शासन के आरंभ होने पर हमें अब संस्कृत भाषा में लेख मिलने लगते हैं।

प्रसिद्ध पुरालिपिविद बूलर ने लग० ३५० ई० के बाद से भारतीय लेखों की लिपियों को 'उत्तरी' तथा 'दक्षिणी' इन दो भागों में विभाजित करके उत्तरी शैली को फिर ६ प्रकारों में विभाजित किया है। ओझाजी ने अधिक विश्लेषण में न जाकर 'गुप्त लिपि', 'कुटिल लिपि' जैसे लिपि-प्रकारों के नाम पसंद किये हैं। परंतु अहमद हसन दानी ने अपने आधुनिक अध्ययन में चौथी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक के लेखों की लिपियों को 'प्राक्-प्रांतीय लिपियों' का नाम देकर संपूर्ण भारत की लिपियों को प्रमुखतः चार वर्गों में विभाजित किया है: (१) उत्तर भारत की लिपियां, (२) गुजरात, राजस्थान तथा मध्यभारत की लिपियां, (३) दक्खिनी लिपियां, और (४) दक्षिण भारत की लिपियां।

यह सही है कि आठवीं शताब्दी के बाद ही हम प्रांतीय लिपियों के विकास को आगे बढा सकते हैं। उसके पहले की लिपियों में प्रांतीयता का थोड़ा-सा आभास मात्र दिखाई देता है। इसलिए दानी द्वारा दिया गया यह नाम अधिक उचित जंचता है। फिर भी, चूंकि प्रस्तुत ग्रन्थ में हमें केवल अक्षरों के विकास का दिग्दर्शन मात्र कराना है, इसलिए यहां हम सुविधा के लिए 'गुप्त-काल की लिपि' नाम ही पसंद करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि गुप्त-काल के सारे लेख एक ही लिपि-शैली के हैं।

प्रमुख विशेषताएं

चौथी से आठवीं शताब्दी तक के उत्तर भारत के लेखों की प्रमुख विशेषता यह है कि इन लेखों की प्रमुख भाषा संस्कृत है। उत्तर भारत के लेखों की दूसरी विशेषता है, कलम का उपयोग। कलम के इस्तेमाल के कारण अक्षरों के खड़े दण्डों के सिर ठोस त्रिकोण के आकार के हो गये हैं। पांचवीं शताब्दी के बाद कलम के इस्तेमाल के कारण अक्षरों के

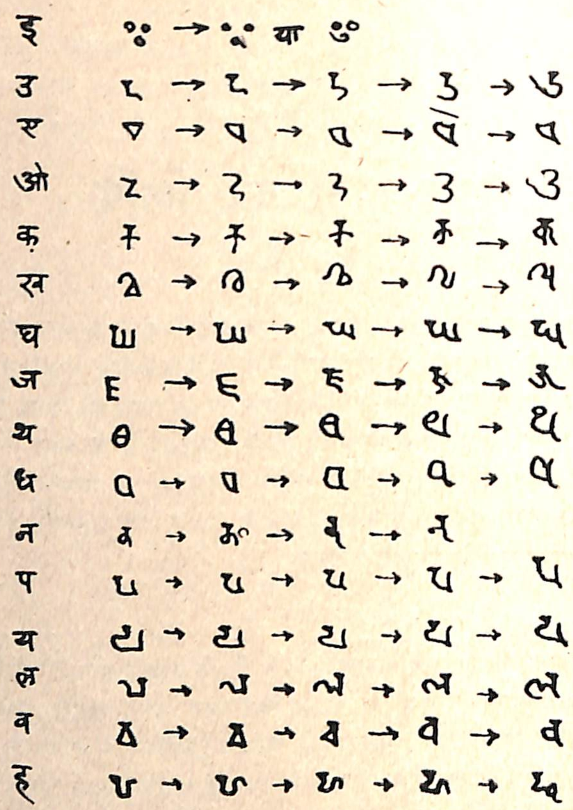

उत्तर भारत की लिपियों में अक्षरों की कलात्मकता का विकास

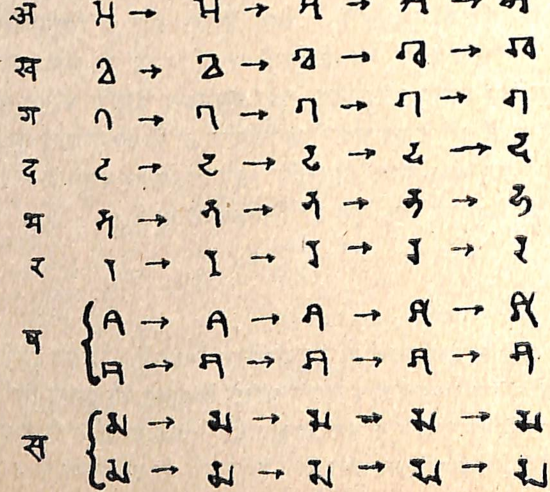

कलम शैली के कारण अक्षरों का विकास

खड़े दण्डों के नीचे एक प्रकार के 'पाद-चिह्न' दिखायी देते हैं। इन्हीं पाद-चिह्नों से कालान्तर में अक्षरों को नये स्वरूप मिलते हैं। छठी शताब्दी से अक्षरों की स्वर-मात्राओं की रेखाएं, कलम के इस्तेमाल के कारण, एक साथ मोटी तथा पतली दिखाई देती हैं। इन्हीं प्रयासों से बाद में 'कुटिल लिपि' के अक्षरों ने जन्म लिया। वस्तुतः उत्तर भारत के अक्षरों को जो यह नया स्वरूप मिला है, इसका कारण कलम का उपयोग ही है। उत्तर भारत की लिपि में और दक्षिण भारत की लिपि में शनैः शनैः जो अंतर पड़ता गया, उसका प्रमुख कारण यह है कि उत्तर भारत में प्रमुखतः लेखनी या कलम का उपयोग होता था और दक्षिण भारत में शलाका या कील का उपयोग होने लगा। दक्षिण भारत में लिखने के लिए ताडपत्र का अधिक इस्तेमाल होता था, क्योंकि वहां यह सुविधा से उपलब्ध है। ताडपत्र पर यदि सीधी रेखाएं खींची जायें, तो यह फट जायेगा। इसीलिए शलाका या कील से ताडपत्र पर लिखते समय अक्षर गोलाकार रूप धारण कर लेंगे, और इसीलिए इस काल से हम दक्षिण के लेखों के अक्षरों को अधिकाधिक गोलाकार होते देखते हैं।

अक्षरों को विभिन्न प्रकार से कलात्मक बनाने के प्रयत्नों के कारण भी इस काल में इनमें काफी बदल दिखायी देता है। विशेषतः स्वर-मात्राओं को बनाने में यह कलात्मकता स्पष्ट दिखायी देती है। उत्तर भारत से पांचवीं शताब्दी के बिलसड तथा मेहरौली (दिल्ली) के लेखों में और छठी शताब्दी के यशोधर्मन् तथा बुद्धगया के महानाम के लेखों में यह कलात्मक शैली स्पष्ट दिखायी देती है। इन लेखों में स्वर-मात्राएं अपना पूर्ण आकार ग्रहण करती हैं। सातवीं शताब्दी के आरंभ से तो यह कलात्मकता अपनी चरमोन्नति पर पहुंच जाती है, जैसा कि हर्षवर्धन के लेख तथा उसके हस्ताक्षर को देखने से ज्ञात होता है। छठी शताब्दी के अंतिम चरण से हमें और एक विशेषता स्पष्ट दिखायी देती है: अक्षरों की दायीं ओर के दण्ड बीच में भीतर की ओर कुछ मुड़ जाते हैं। इसी मुड़ाव के कारण इन अक्षरों की लिपि को 'कुटिल' नाम दिया गया है।

नये अक्षर

इस काल के लेखों में हमें कुछ और नये अक्षर-संकेत मिलते हैं। इनमें सबसे प्रमुख है, इस काल के ताम्रपत्रों में पाया जाने वाला 'ओम्' अक्षर। उत्तर भारत के लेखों में इस संकेत का सिर प्रायः गोलाकार रहता है और पूंछ बायीं या दायीं ओर को मुड़ी रहती है। दक्षिण भारत के लेखों में इस अक्षर की पूंछ सामान्यतः गोलाकार देखने को मिलती है।

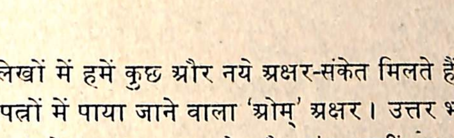

'ओम्' के विविध रूप
(चित्र दानी के आधार पर)

पहले हमने देखा है कि 'सिद्धम्' शब्द में हलन्त 'म' को 'द्ध' की दायीं ओर कुछ नीचे की ओर छोटे आकार में लिखा गया है। इस काल में स्वर-रहित व्यंजन को व्यक्त करने के लिए अक्षर के ऊपर एक चाप-नुमा चिह्न देखने को मिलता है या अक्षर के दायें दण्ड के नीचे एक टेढ़ी लकीर बनाई हुई दिखायी देती है। यह दूसरा प्रकार ही आधुनिक हलन्त चिह्न (्) का जनक है। पहले के काल की तरह इस काल में भी जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ध्वनियों के लिए संकेत मिलते हैं। जापान के होर्युजी विहार में रखी हुई एक भारतीय हस्तलिपि में 'लृ' के लिए भी अक्षर मिलता है।

गुप्त शासकों के सभी लेख एक ही लिपि-शैली के नहीं हैं। शिवराममूर्ति ने गुप्त लेखों को तीन शैलियों में विभाजित किया है—उत्तरी, मध्य और दक्षिणी। उत्तर भारत की शैली का प्रसिद्ध उदाहरण है, इलाहाबाद के स्तंभ पर खुदी हुई समुद्रगुप्त की प्रशस्ति। यहां हम इस प्रशस्ति की कुछ पंक्तियां नागरी लिप्यंतर के साथ दे रहे हैं। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त तथा लिच्छवि-कन्या कुमारदेवी का पुत्र था और आधुनिक मान्यताओं के अनुसार ३२० ई० में उसका राज्याभिषेक हुआ था। समुद्रगुप्त के इलाहाबाद-स्तंभलेख की भाषा संस्कृत है और इसका रचयिता हरिषेण नामक कवि है। हरिषेण का हमें कोई काव्य-ग्रंथ नहीं मिलता। लेकिन इस प्रशस्ति का काव्य इतनी उच्चकोटि का है कि हरिषेण सचमुच ही प्रतिभावान कवि रहा होगा, यह हमें स्वीकार करना पड़ता है। इस इलाहाबाद स्तंभ-लेख में 'इ' का अक्षर दो बिंदियों के सामने एक खड़ी लकीर रखकर बनाया गया है। इस लेख के अक्षरों के सिरों पर एक छोटी-सी लकीर स्पष्ट दिखायी देती है। 'उ' की मात्रा में वक्रता है। इस लेख में दक्षिणी शैली के 'ङ' और 'ळ' अक्षर भी मिलते हैं। पाठक देखेंगे कि इस लेख के कुछ अक्षर नागरी अक्षरों से कुछ मिलते-जुलते दिखाई देते हैं।

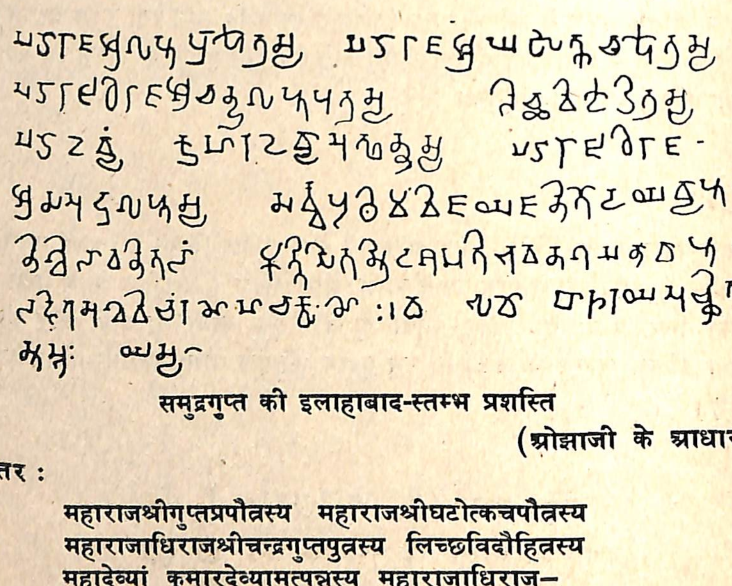

समुद्रगुप्त की इलाहाबाद-स्तम्भ प्रशस्ति

(ओझाजी के आधार पर)

लिप्यंतर :

महाराजश्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराजश्रीघटोत्कचपौत्रस्य
महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तपुत्रस्य लिच्छविदौहित्रस्य
महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज–
श्रीसमुद्रगुप्तस्य सर्व्वपृथिवीविजयजनितोदयव्याप्त–
निखिलावनितलां कीर्त्तिमितस्त्रिदशपतिभवनगमनावाप्त–
ललितसुखविचरणमाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रितः
स्तम्भः यस्य

गुप्त लिपि की मध्यभारत शैली के अच्छे नमूने समुद्रगुप्त के एरण (सागर जिला) लेख और चन्द्रगुप्त-द्वितीय के उदयगिरि लेख में देखे जा सकते हैं। समुद्रगुप्त के एरण लेख में ठोस त्रिकोण वाले सिरों के अक्षर और खोखले वर्ग वाले अक्षर (पेटिका शीर्षक), दोनों ही प्रकार देखने को मिलते हैं। यहां हम एरण के इस लेख की इन दोनों शैलियों के नमूने दे रहे हैं:

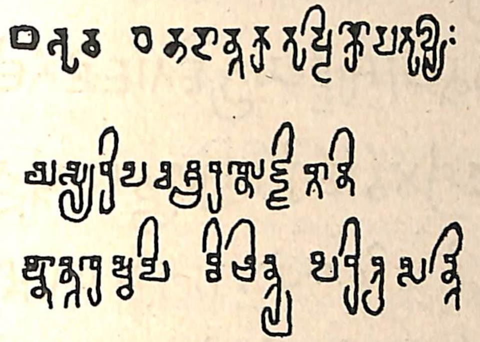

समुद्रगुप्त के एरण-लेख की दो लिपि-शैलियां

(शिवराममूर्ति के आधार पर)

लिप्यन्तर :

बभूव धनदान्तकतुष्टिकोपतुल्यः

यस्य रिपवश्चरणोज्जितानि
प्नान्तरेष्वपि विचिन्त्य परित्रसन्ति

गुप्त लिपि की दक्षिणी शैली के अक्षर चन्द्रगुप्त-द्वितीय के सांची के लेख में और स्कंदगुप्त (४५५-४६७ ई०) के गिरनार (जूनागढ़) लेख में देखने को मिलते हैं। हम पहले बता ही चुके हैं कि गिरनार में एक ही चट्टान पर अशोक, महाक्षत्रप रुद्रदामन और स्कंदगुप्त के लेख खुदे हुए मिलते हैं। गुप्त लिपि की इस दक्षिणी शैली का विकास क्षत्रपों की लिपि से हुआ है।

गुप्त लिपि की इन तीन प्रमुख शैलियों के अलावा कुछ भिन्न शैलियों के भी लेख मिलते हैं। कुमारगुप्त (४१५-४५५ ई०) का बिलसड़ का लेख है तो उत्तरी शैली की गुप्त लिपि में, परंतु इसके अक्षरों ने त्रिकोणात्मक एवं वर्गाकार आकार बना लिये हैं और इन अक्षरों के सिरों पर मोटी एवं चौड़ी रेखाएं हैं। इस लेख की एक पंक्ति को ही देखने से इस लिपि की विशेषता का अंदाजा लग जायेगा :

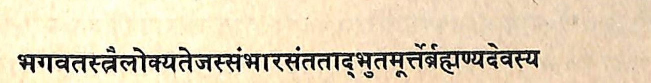

स्कन्दगुप्त के बिलसड़ स्तम्भलेख की एक पंक्ति

लिप्यंतर :

भगवतस्त्रैलोक्यतेजस्संभारसंततादृभुतमूर्त्तेब्रह्मण्यदेवस्य

गुप्त शासकों के बहुत सारे सिक्के मिले हैं। इन पर उनके विरुद अंकित हैं। नीचे हम कुछ विरुद-लेख दे रहे हैं :

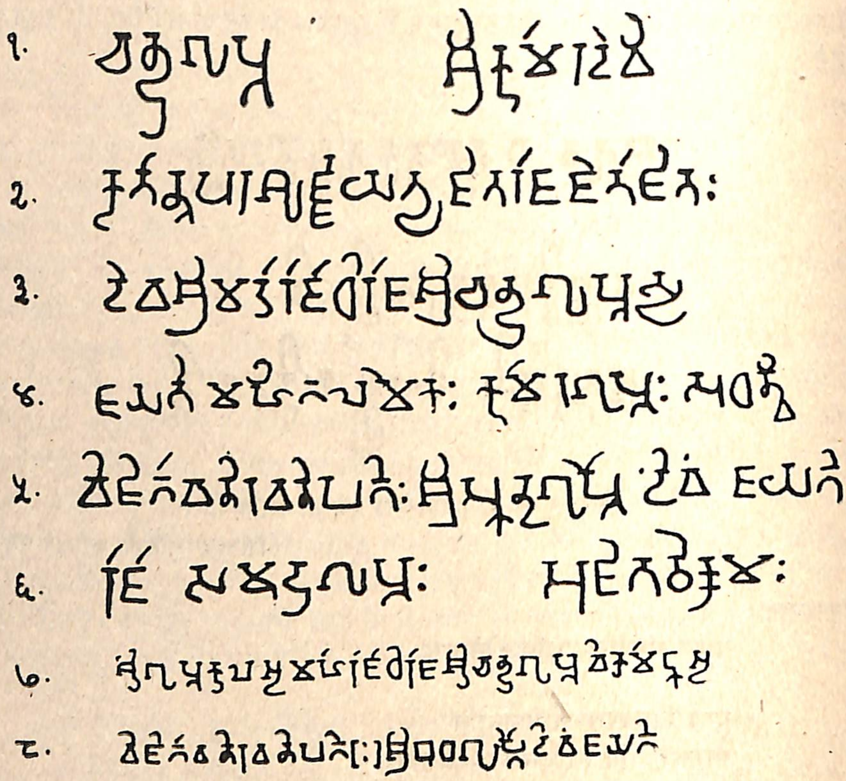

गुप्त राजाओं के सिक्कों पर अंकित कुछ विरुद-लेख

लिप्यंतर :

१. चन्द्रगुप्त (प्रथम) श्रीकुमारदेवी
२. कृतान्तपरशुर्ज्जयत्यजितराजजेताजितः (समुद्रगुप्त)
३. देवश्रीमहाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय)
४. जयति महीतलमेकः कुमारगुप्तः सुधन्वी (कुमारगुप्त प्रथम)
५. विजितावनिरवनिपतिः श्रीस्कन्दगुप्तो दिवं जयति
६. राजा समुद्रगुप्तः अजितविक्रमः
७. श्रीगुप्तकुलस्य महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्त विक्रमाङ्कस्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय)
८. विजितावनिरवनिपति[:] श्रीबुधगुप्तो दिवं जयति

गुप्तों के साथ-साथ महाविदर्भ और मध्यभारत में वाकाटकों का अस्तित्व रहा है। तीसरी शताब्दी ई० में 'विन्ध्यशक्ति' नामक पुरुष के साथ बुन्देलखंड में वाकाटक राजवंश

का उदय होता है। इस मूल पुरुष ने विदिशा और विदर्भ को अपने राज्य में मिलाकर अवन्ती भी जीत ली थी। विन्ध्यशक्ति के पुत्र प्रवरसेन-प्रथम (लग० २८०-३४०ई०) ने महाराष्ट्र, आन्ध्र, सौराष्ट्र-गुजरात आदि प्रदेश जीतकर वाकाटक राज्य को एक साम्राज्य बना दिया था। नागपुर के उत्तर में प्रसिद्ध तीर्थ रामटेक के पास नन्दिवर्धन नामक स्थान में वाकाटकों की राजधानी थी। वाकाटक शासक गुप्तों के सामने कभी नहीं झुके, बल्कि गुप्तों को ही उनसे अच्छे संबंध बनाये रखने पड़े। चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने अपनी बेटी प्रभावती का विवाह वाकाटक राजा पृथिवीषेण के पुत्र रुद्रसेन-द्वितीय से किया था। रुद्रसेन के मरने पर प्रभावती गुप्ता ने अपने नाबालिग बेटे प्रवरसेन-द्वितीय के नाम पर लगभग बीस साल राज्य किया था (लग० ४००-४२० ई०)।

वाकाटक शासकों के बहुत-से लेख मिले हैं। इनमें दानपत्रों की संख्या अधिक है। इन लेखों की लिपि गुप्त-लिपि की मध्यदेशीय शैली है, जिसमें दक्षिणी शैली का प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई देता है। इन लेखों के अक्षरों के सिरे चौखुटे या वर्गाकार हैं, जो किसी लेख में भरे हुए और किसी लेख में खाली दिखाई देते हैं। राजा प्रवरसेन-द्वितीय के दुदिया, सिवनी, चम्मक और तिरोड़ी से दानपत्र मिले हैं। यहां हम उसके तिरोड़ी (जिला बालाघाट) दानपत्र का एक अंश तथा इस दानपत्र पर लगी हुई मुहर का लेख दे रहे हैं। यह दानपत्र तिरोड़ी की अभ्रक खान के पास मिला था और अब नागपुर संग्रहालय में रखा हुआ है। इस दानपत्र में तांबे के चार पत्र हैं और इनकी कड़ी पर भी तांबे की मुहर है। प्रो० मिराशी ने इस दानपत्र का संपादन किया है (देखिए, 'एपिग्राफिया इंडिका', खंड २२)।

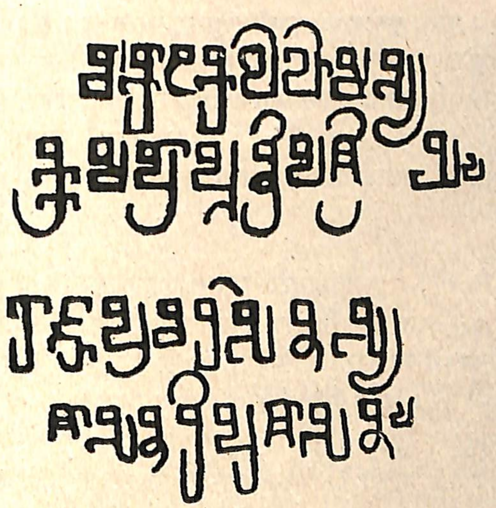

वाकाटक राजा प्रवरसेन-द्वितीय (४२०-४५० ई०) के तिरोड़ी-दानपत्र पर अंकित मुद्रा का 'पेटिकाशीर्ष' लिपि-शैली का लेख।

लिप्यंतर :

वाकाटकललामस्य
कक(क्र)मप्राप्तन्रि(नृ)पश्रियम्
राज्ञ(:) प्रवरसेनस्य
शासनं रिपुशासनम्

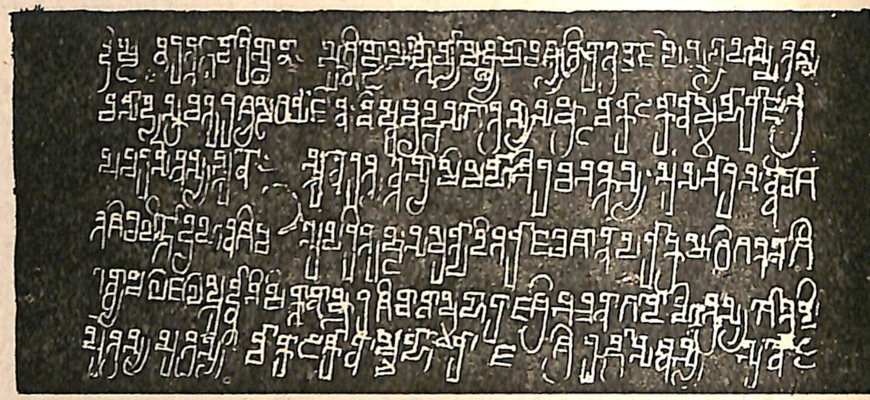

वाकाटक राजा प्रवरसेन-द्वितीय के तिरोड़ी-दानपत्र पर अंकित आरम्भिक पंक्तियां (चित्र : नागपुर संग्रहालय)

लिप्यंतर :

१. द्रिष्टम् नरत्तङ्गवारिस्थाना(त्) । अग्निष्टोमाप्तोर्य्यामोक्थ्य-षोडश्य(ति) रात्रवाजपेयबृहस्पतिस-

२. वसाद्यस्क्रचतुरश्वमेधयाजिनः विष्नु(ष्णु)वृद्धसगोत्रस्य सम्राट वाकाटकानाम्महाराजश्री-

३. प्रवरसेनस्य सूनोः सूनोरत्यन्तस्वामिमहाभैरवभक्तस्य । अंसभारसन्निवेशि-

४. तशिवलिङ्गोद्वहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादितराजवंशानां पराक्रमाधिगतभागी-

५. रथ्या मलजलमूर्द्धार्नाभिषिक्तानाम्भारशिवानाम्महाराजश्री भवनागदौहित्रस्य गौतमी-

६. पुत्रस्य पुत्रस्य वाकाटकानाम्महाराजश्रिरुद्रसेनस्य सुनोः

मेहरौली (दिल्ली) में कुतुबमीनार के पास एक लौहस्तंभ खड़ा है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि आरंभ में यह लौहस्तंभ हिमालय की तराई में 'विष्णुपद' पहाड़ी पर स्थित था और तोमरवंश का राजा अनंगपाल ११वीं शताब्दी में इसे अपनी राजधानी दिल्ली में उठा लाया था। आज कुतुबमीनार के पास जिस स्थान पर यह स्तंभ खड़ा है, वहां जनश्रुति के अनुसार पहले अनंगपाल का मंदिर था। इस लौहस्तंभ (विष्णुध्वज) पर 'चन्द्र' राजा का लेख अंकित है, जिसमें उसकी बंगाल, बलख और दक्खिन विजयों का वर्णन है। अधिकतर इतिहासकार मानते हैं कि इस लेख का 'चन्द्र' गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त-द्वितीय ही है। इस लेख की लिपि के अध्ययन से भी यही पता चलता कि, यह लेख ४०० ई० के आसपास लिखा गया था।

इस मेहरौली लौहस्तंभ-लेख को बड़ी ही सुंदरता और सावधानी से खोदा गया है। प्रत्येक अक्षर स्पष्ट है और इन्हें कोणीय रूप दिया गया है। शिरो-चिह्न तथा खड़ी रेखाएं काफी मोटी हैं। इस लेख में एक भी स्वराक्षर नहीं है। स्वरों की मात्राओं में कुषाण शैली की छाप दिखायी देती है। छह पक्तियों के इस लेख में कोई तिथि नहीं हैं।

दिल्ली की सैर करने वाले कुतुबमीनार को भी देखने जाते हैं। लौहस्तंभ पर अंकित लेख भी अधिक लंबा नहीं है। इसलिए पूरे लेख को नीचे दे रहे हैं :

यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागतान्,
वङ्गेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्त्तिर्भुजे।
तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः ॥१॥
खिन्नस्येव विसृज्य गां नरपतेर्गामाश्रितस्येतरां
मूर्त्या कर्म्मजितावनीं गतवतः कीर्त्या स्थितस्य क्षितौ ।
शान्तस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महा
नाद्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोर्यत्नस्य शेषः क्षितिम् ॥२॥
प्राप्तेन स्वभुजार्जितं च सुचिरं चैकाधिराज्यं क्षितौ
चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्रसदृशीं वक्त्रश्रियं बिभ्रता ।
तेनायं प्रणिधाय भूमिपतिना भावेन विष्णौ मतिं
प्रांशुर्व्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः ॥३॥

नीचे इस मेहरौली स्तंभलेख का एक चित्र है, जिसमें इस लेख का दायीं ओर का अंश ही आ पाया है। पाठक यदि कोशिश करें, तो उपर्युक्त लेख के रेखांकित अक्षरों को इस चित्र में पढ़ सकते हैं।

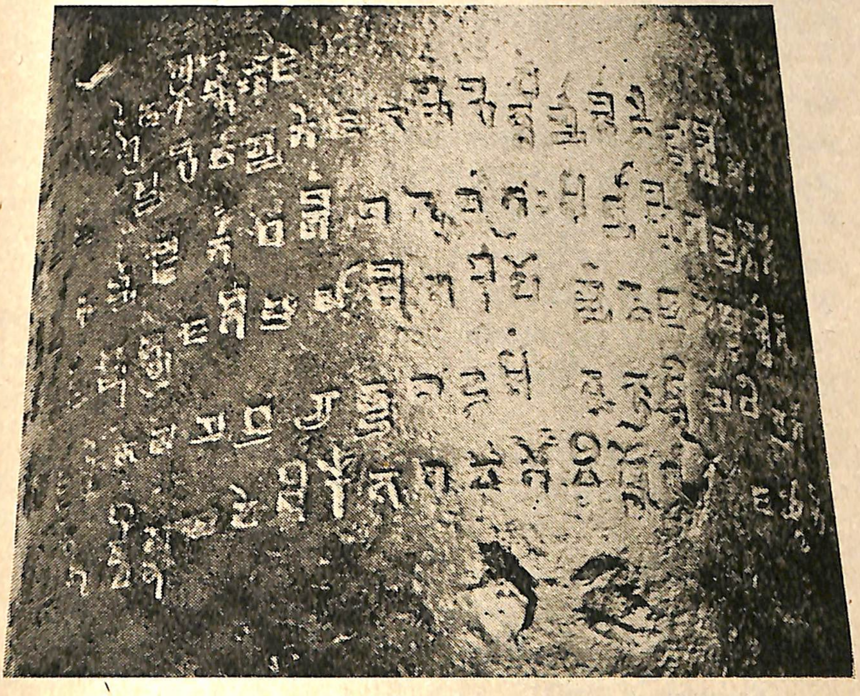

मेहरौली (दिल्ली) में कुतुबमीनार के पास खड़े लौहस्तम्भ (विष्णुध्वज) पर अंकित राजा चन्द्र (गुप्त) का लेख

मेहरौली (लौहस्तंभ) लेख का अर्थ :

जिसने शत्रुओं को परास्त कर यश प्राप्त किया अथवा जिसकी भुजाओं पर तलवार से यश लिखे गये; वङ्ग के युद्ध में जिसने अपने पराक्रम से उन शत्रुओं का पीछा किया जो संगठित रूप से उस पर आक्रमण करने के लिए तैयार थे; जिसने सिन्धु के सात मुखों को पार करके युद्ध में वाह्लिकों पर विजय प्राप्त की तथा जिसकी शक्ति से दक्षिणी सागर सुगंधित हो गये हैं।

उसने अतुलनीय उत्साह तथा तेज से शत्रुओं को पूर्णतः परास्त किया, जैसे किसी वन में अग्नि की ज्वाला प्रज्वलित होती हो। यद्यपि राजा ने संसार को त्याग दिया है और अपने सुंदर तथा दिव्य कर्मों से स्वर्ग में निवास करता है, तो भी यह प्रकट होता है कि वह राजा अभी जीवित है, क्योंकि पृथ्वी पर उसका यश अद्यावधि विद्यमान है।

जिस राजा ने अपने बाहुबल से एकछत्र राज्य स्थापित किया, जिसका नाम **चंद्र** है और जिसके मुख की शोभा चन्द्रमा की छटा के समान है, जिसकी विष्णु पर अटल भक्ति है, उस नरेश द्वारा **विष्णुपद** पर्वत पर **विष्णुध्वज** स्थापित किया गया था।

२७

कुटिल लिपि

"ई० स० की छठी से नवीं शताब्दी तक की बहुधा सारे उत्तरी भारतवर्ष की लिपि का, जो गुप्त लिपि का परिवर्तित रूप है, नाम 'कुटिल लिपि' कल्पित किया गया है। 'कुटिलाक्षर' नाम का प्राचीन प्रयोग भी मिलता है, परंतु वह भी उसके वर्णों और विशेषकर मात्राओं की कुटिल आकृतियों के कारण रक्खा गया हो ऐसा अनुमान होता है। इस लिपि के अक्षरों के सिर बहुधा ऐसे 'ठोस त्रिकोण चिह्न' होते हैं, परंतु कभी कभी छोटी-सी आड़ी लकीर से भी बनाये जाते हैं। अ, आ, घ, प, म, य, ष और स का ऊपर का अंश दो विभाग वाला होता है और बहुधा प्रत्येक विभाग पर सिर का चिह्न जोड़ा जाता है" (ओझा, भा०प्रा० लि०, पृ० ६२)।

ओझाजी ने जो यह कहा कि 'कुटिलाक्षर' और 'कुटिल लिपि' शब्दों के प्रयोग मिलते हैं, वे नवीं शताब्दी के हैं। गुहिलवंशी राजा अपराजित की एक प्रशस्ति में, जो ६६१ ई० की है, 'विकटाक्षराणि' शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है। ओझाजी ने 'कुटिल' शब्द को 'विकट' का पर्यायवाची ही माना है।

फ्लीट ने भी इस 'कुटिल' शब्द को पसंद किया था। इस काल में अक्षरों की दायीं ओर के खड़े दण्ड कुछ भीतर की ओर मुड़ जाते हैं, इसीलिए फ्लीट ने यह नाम पसंद किया था। साथ ही, खड़े दण्ड के इस मुड़ाव के कारण यह अक्षर की आधार (नीचे की)-रेखा के साथ न्यून-कोण बनाता है, इसलिए इस काल की लिपि को बूलर ने 'न्यून-कोणीय लिपि' का नाम दिया था। इस काल की लिपि के लिए 'सिद्धमातृका' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। अल्बेरूनी (भारत-यात्रा : १०१७-१०३० ई०) ने अपने "तारीख अल्-हिन्द" ग्रंथ में ग्यारह भारतीय लिपियों का उल्लेख किया है, जिनमें 'सिद्धमातृका' एक है। अल्बेरूनी के अनुसार कश्मीर, मध्यदेश (कन्नौज के आसपास का प्रदेश) और वाराणसी में इस लिपि का प्रचार था।

यहां नामकरण के अधिक झमेले में पड़ना उचित नहीं है। इस काल की उत्तरी भारत की लिपि के लिए अब 'कुटिल लिपि' (कुटिला) नाम रूढ़ हो गया है, इसलिए हम इसे ही पसंद करते हैं।

कुटिल लिपि की कुछ विशेषताओं का दिग्दर्शन हम पिछले प्रकरण में करा चुके हैं। यहां हम, पिछले प्रकरणों की तरह, इस काल के कुछ प्रमुख लेखों के उदाहरण प्रस्तुत करेंगे, और साथ-साथ इन लेखों की लिपि की प्रमुख विशेषताएं भी बताते चलेंगे। हमें यह जान लेना चाहिए कि कुटिल लिपि के काल के बाद हम लिपियों में प्रांतीयता के लक्षण स्पष्ट देखते हैं।

गुप्त सम्राटों की शक्ति क्षीण हो जाने पर हूणों ने भारत पर आक्रमण शुरू किये। छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में हूणों को भारत से उखाड़ डालने का श्रेय है, (जनेन्द्र) यशोधर्मा को। उसने "मिहिरकुलों को भी हिमालय के गढ़ में खदेड़ दिया" और गुप्तों के साम्राज्य पर भी अधिकार कर लिया था। लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) के कांठे से महेन्द्र पर्वत (उड़ीसा) तक और हिमालय से पश्चिमी समुद्र तक का सारा देश जनेन्द्र यशोधर्मा का शासन मानता था। इतना होने पर भी यशोधर्मा ने अपना कोई राजवंश स्थापित नहीं किया, और उसके बाद उसका विशाल राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

मन्दसौर (मध्य भारत) में यशोधर्मा का एक विजय-स्तंभ पड़ा हुआ है, जिस पर उसका मालव (विक्रम) सं. ५८९ (५३२ ई०) का एक लेख खुदा हुआ है। इस लेख में स्वरों की मात्राओं को कलात्मक बनाने का प्रयत्न किया गया है। मोटी कलम के इस्तेमाल के कारण ये मात्राएं मोटी-पतली हो गयी हैं। इस लेख में कुछ मात्राएं नागरी की मात्राओं जैसी हो गई हैं; कुछ व्यंजन भी नागरी से मिलने लग गये हैं। यहां नमूने के लिए हम यशोधर्मा के प्रस्तर-लेख की कुछ पंक्तियां नागरी लिप्यन्तर के साथ दे रहे हैं :

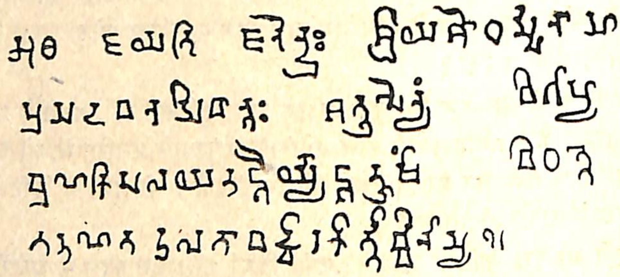

यशोधर्मा के प्रस्तर-लेख (५३२ ई०) का एक अंश

लिप्यंतर :

अथ जयति जनेन्द्रः श्रीयशोधर्म्मनामा
प्रमदवनमिवान्तः शत्र(त्रु)सैन्यं विगाह्य
व्रणकिसलयभङ्गैर्य्योऽङ्गभूषां विधत्ते
तरुणतरुलतावद्वीरकीर्तीर्व्विनाम्य ॥

जापान के होर्युजी विहार में "उष्णीषविजयधारणी" नाम की ताड़पत्र पर लिखी हुई एक हस्तलिपि रखी हुई है। यह होर्युजी मंदिर जापान का सबसे प्राचीन बौद्ध मंदिर है, और जापान के प्रसिद्ध बौद्ध सम्राट शोतोकू ने ५८६-८७ ई० में इसका निर्माण किया था। बीच में इस मंदिर की इमारत जल गई थी। आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में पुनः जो नई इमारत बनाई गई, वह आज भी मौजूद है। इस मंदिर की लकड़ी की दीवारों पर पलस्तर लगाकर चित्र अंकित किये गये थे, जिनमें से कुछ आज भी देखने को मिलते हैं। होर्युजी मंदिर के इन भित्तिचित्रों में और अजिंठा के चित्रों में काफी साम्य दिखायी देता है।

इस विहार में रखी हुई "उष्णीषविजयधारणी" हस्तलिपि के पत्रों के बारे में मैक्स मूलर ने लिखा है कि, "हमें इस बात के अच्छे प्रमाण मिलते हैं कि यह हस्तलिपि ६०९ ई० में जापान लाई गयी थी, और यह चीन से यहां पहुंची है। और, जान पड़ता है कि चीन

में यह पुस्तक याशी नाम के भिक्षु के पास थी, जिसकी ५७७ ई० में मृत्यु हुई थी। इसके भी पहले यह पुस्तक (महास्थविर) बोधिधर्म के पास थी, जो ५२० ई० में भारत से चीन पहुंचे थे।" इसी परंपरा के आधार पर बूलर ने अपना मत व्यक्त किया था कि, "यह निश्चित है कि यह हस्तलिपि, जो स्पष्टतः किसी भारतीय लिपिक द्वारा लिखी गयी है, छठी शताब्दी के पूर्वार्ध के बाद की नहीं हो सकती।" साथ ही बूलर ने यह भी कहा था कि, यदि यह ऐतिहासिक परंपरा उपलब्ध नहीं होती, तो इस हस्तलिपि का शुद्ध पुरालिपिशास्त्र के आधार पर परीक्षण करने पर यह आठवीं शताब्दी के आरंभ में लिखी हुई जान पड़ती है। दानी ने अपने अर्वाचीन अध्ययन में बूलर के इसी सुझाव के आधार पर इस हस्तलिपि का विश्लेषण किया है और वे इस परिणाम पर पहुंचे कि "संभव है कि मैक्स मूलर द्वारा निर्दिष्ट समय में इस पुस्तक की मूल प्रति किसी भारतीय लिपिक ने ही तैयार की हो, परंतु वर्तमान प्रति ७०० ई० के पहले लिखी हुई नहीं जान पड़ती।"

इस हस्तलिपि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके अंत में पूरी वर्णमाला दी हुई है। इस वर्णमाला को देखने से ज्ञात होगा कि इस लिपि के बहुत-से अक्षर नागरी लिपि के अक्षरों से मिलने लग गये हैं। इसमें 'ऋ' और 'लृ' के ह्रस्व तथा दीर्घ दोनों ही रूप मिलते हैं। 'व' और 'ब' में कोई फरक नहीं है। इसमें 'ओम्' के लिए भी चिह्न मिलता है। नीचे हम दानी और ओझा के आधार पर तैयार की गई इस हस्तलिपि की पूरी वर्णमाला दे रहे हैं :

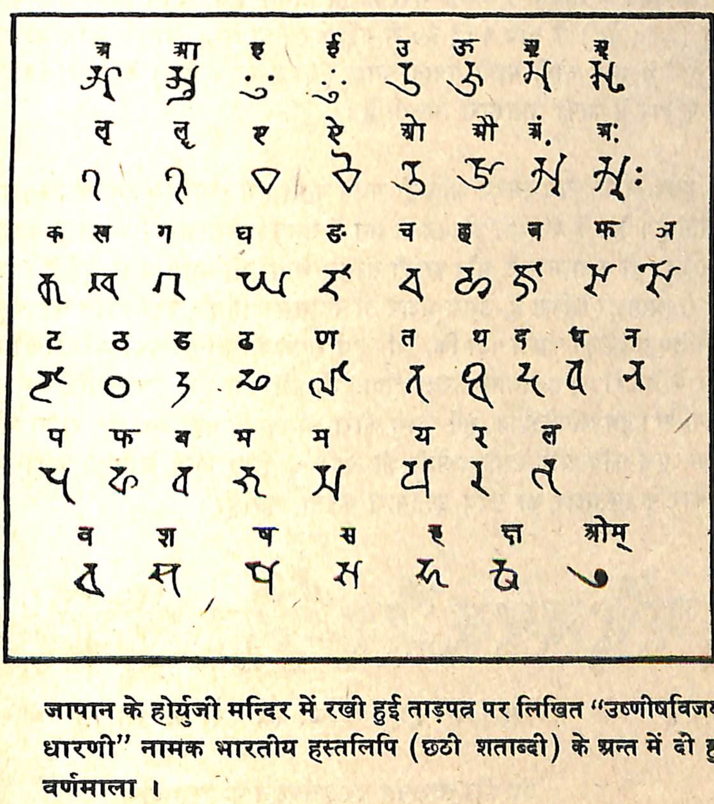

जापान के होर्युजी मन्दिर में रखी हुई ताड़पत्र पर लिखित "उष्णीषविजय-धारणी" नामक भारतीय हस्तलिपि (छठी शताब्दी) के अन्त में दी हुई वर्णमाला।

इसी काल के महानाम या महानामन् नामक व्यक्ति के दो लेख बुद्धगया से मिले हैं। इनमें से एक में संवत् २६९ दिया हुआ है। यदि यह गुप्त-संवत् है, तो महानामन् का यह लेख ३२०+२६९, अर्थात् ५८८-८९ ई० का होना चाहिए। महानामन् के इन लेखों में स्वरों की मात्राएं बहुत कलात्मक हैं, और ये अपनी पूरी लंबाई को प्राप्त कर चुकी हैं।

यशोधर्मा के बाद दक्षिण पंचाल देश की राजधानी कन्नौज में मौखरी राजवंश स्थापित हो गया था। मौखरी ईश्वरवर्मा तथा उसके पुत्र ईशानवर्मा (५५४ ई०) ने कन्नौज-राज्य को सारे उत्तर भारत का राज्य बना दिया था। इन्होंने सौराष्ट्र, आंध्र तथा गौड़ (पश्चिम बंगाल) देशों को भी अपने साम्राज्य में मिला लिया था। मौखरियों के प्रताप से कन्नौज को वही गौरव प्राप्त हुआ जो पहले पाटलिपुत्र को था। शर्ववर्मा के उत्तराधिकारी अवन्तिवर्मा के समय मौखरी साम्राज्य कुछ क्षीण होने लग गया था।

हड़हा (जिला रायबरेली) से ईशानवर्मा का एक शिलालेख मिला है। यह विक्रम सं० ६११ (५४४ ई०) का है। ईशान के पुत्र शर्ववर्मा की असीरगढ़ और नालंदा से मुहरें भी मिली हैं। बुद्धगया के पास की 'बराबर' पहाड़ी की चौथी गुफा में अनन्तवर्मा का लेख मिलता है।

हर्षवर्धन के शासन से पाठक परिचित ही होंगे। हर्ष, अपने पिता प्रभाकरवर्धन की मृत्यु (६०५ ई०) के बाद ६०६ ई० में गद्दी पर बैठा था। प्रसिद्ध कवि बाणभट्ट के "हर्षचरित" में और चीनी यात्री युवान-च्वाङ (६२९-६४४ ई०) के यात्रा-विवरण में हमें हर्ष के बारे में काफी जानकारी मिलती है।

हर्षवर्धन का नाम स्मरण आते ही सबसे पहले हमें उसके खूबसूरत हस्ताक्षर की याद आती है। हर्ष के बंसखेडा दानपत्र के अंत में उसका हस्ताक्षर मिलता है। इस लेख के अक्षर बहुत ही कलात्मक हैं, और इसकी संस्कृत भाषा भी बहुत मंजी हुई है। इस पर हर्ष का जो हस्ताक्षर अंकित है, उसके अक्षर तो कलात्मकता की चरमोन्नति पर पहुंच गये हैं। इसीलिए बूलर को कहना पड़ा कि, यदि हर्ष अपने शासन के सभी अभिलेखों में इसी हस्ताक्षर के अक्षरों का इस्तेमाल करता होगा, तो हमें उसे एक उच्चकोटि का सुलेखक मानना पड़ेगा। हम जानते हैं कि, हर्ष केवल कोरा शासक ही नहीं था, वह राजा भोज की तरह स्वयं एक कवि और साहित्य-प्रेमी भी था। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि हर्ष इसी प्रकार के हस्ताक्षर का सदैव इस्तेमाल करता रहा हो।

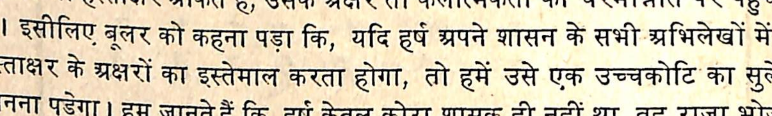

स्व ह स्तो म म म हा रा जा धि रा ज श्री ह र्ष स्य

बंसखेड़ा ताम्रपत्र पर हर्षवर्धन के हस्ताक्षर

हर्ष का यह बंसखेडा ताम्रपत्र उसके शासन के २२ वें वर्ष में तैयार किया गया था, अर्थात् यह ६०६+२२=६२८ ई० का है। यहां हम इस ताम्रपत्र की कुछ पंक्तियां दे रहे हैं :

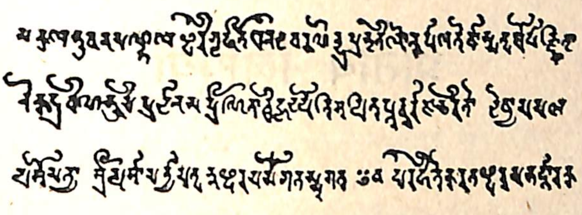

लिप्यंतर :

सकलभुवनमण्डलः परिगृहीतधनदवरुणेन्द्रप्रभृतिलोकपालतेजा-
स्सत्पथोपार्ज्जिता-
नेकद्रविणभूमिप्रदानसंप्रीणितार्थिहृदयोऽतिशयितपूर्वराजचरितो
देव्याममल-
यशोमत्यां श्रीयशोमत्यामुत्पन्नः परमसौगतस्सुगत इव परहितैकरतः
परमभट्टारक-

२८

प्रांतीय लिपियां

नागरी लिपि

गुप्त और कुटिल लिपियों से ८वीं शताब्दी में नागरी या देवनागरी लिपि का विकास देखने को मिलता है। नागरी लिपि की प्रमुख विशेषता यह है कि इसके अक्षरों के सिरों पर रेखाएं उतनी ही लंबी हैं, जितनी कि इसके अक्षरों की चौड़ाई है। उत्तर भारत में नागरी लिपि के लेख ८वीं-९वीं शताब्दी से मिलने लग जाते हैं। दक्षिण भारत में इसके लेख कुछ पहले से मिलते हैं और दक्षिण में यह 'नंदिनागरी' कहलाती थी।

इस 'नागरी' नाम की उत्पत्ति एवं अर्थ के बारे में पुराविद एकमत नहीं हैं। 'ललित-विस्तर' की ६४ लिपियों में एक 'नाग-लिपि' नाम मिलता है। किंतु 'ललित-विस्तर' (दूसरी शताब्दी ई०) की 'नाग-लिपि' के आधार पर 'नागरी लिपि' का नामकरण संभव नहीं जान पड़ता। एक अन्य मत के अनुसार, गुजरात के नागर ब्राह्मणों द्वारा सर्वप्रथम इसका प्रयोग किये जाने के कारण इसका नाम 'नागरी' पड़ा। यह मत भी उचित नहीं जान पड़ता। कुछ लोगों ने तो यहां तक कहा है कि, बाकी नगर तो केवल नगर ही हैं किंतु काशी देवनगरी है, और वहां इसका प्रचार होने के कारण इस लिपि का नाम 'देवनागरी' पड़ा! इस मत को स्वीकार करने में अड़चनें हैं। एक अन्य मत के अनुसार, नगरों में प्रचलित होने के कारण यह नागरी कहलाई। इस मत को कुछ हद तक स्वीकार किया जा सकता है।

दक्षिण के विजयनगर राजाओं के दानपत्रों की लिपि को 'नंदि-नागरी' का नाम दिया गया है। मुझे तो यही अधिक संभव लगता है कि, नंदिनगर (आधुनिक नांदेड़) की लिपि होने के कारण ही 'नागरी' नाम अस्तित्व में आया है। पहले-पहल विजयनगर राज्य के लेखों में नागरी लिपि का व्यवहार देखने को मिलता है। बाद में जब उत्तर भारत में भी इसका प्रचार हुआ, तो 'नंदि' की तरह यहां 'देव' शब्द इसके पहले जोड़ दिया गया होगा। जो भी हो, अब तो यह नागरी या देवनागरी शब्द उत्तर भारत में ८वीं शताब्दी से आज तक लिखे गये प्रायः सभी लेखों की लिपि-शैलियों के लिए प्रयुक्त होता है। दसवीं शताब्दी में पंजाब और कश्मीर में प्रयुक्त शारदा लिपि नागरी की ही बहन थी, और बंगला लिपि को हम नागरी की पुत्री नहीं तो बहन मान ही सकते हैं। आज समस्त उत्तर भारत में (नेपाल में भी) और संपूर्ण महाराष्ट्र में इसी देवनागरी लिपि का इस्तेमाल होता है।

यहां हम नागरी (देवनागरी और नंदिनागरी) लिपि के कुछ प्रमुख लेखों का विवरण देंगे और यथासंभव इसके कुछ नमूने भी देने का प्रयत्न करेंगे।

शिवराममूर्ति के मतानुसार हर्षवर्धन के समकालीन गौडदेश (पश्चिम बंगाल) के राजा शशांक के ताम्रपत्रों में पूर्वी भारत की नागरी लिपि का स्वरूप देखने को मिलता है। परंतु इन ताम्रपत्रों की लिपि को हम अभी नागरी नहीं कह सकते। अधिक से अधिक इसे हम 'प्राक्-नागरी' का नाम दे सकते हैं, क्योंकि इस लिपि के अक्षर न्यूनकोणीय (तिरछे) और ठोस त्रिकोणी सिरोंवाले हैं।

उत्तर भारत में नागरी लिपि का प्रयोग पहले-पहल कन्नौज के प्रतीहारवंशी राजा महेन्द्रपाल (८९१-९०७ ई०) के दानपत्रों में देखने को मिलता है। इसमें 'आ' की मात्रा पहले की तरह अक्षर की दाईं ओर आड़ी न होकर, खड़ी और पूरी लंबी हो गई है। 'क' का नीचे का मुड़ा हुआ वक्र इसके दण्ड के साथ मिल जाता है। इस लिपि में अक्षरों के नीचे के सिरे सरल हैं और सिरों पर, पहले की तरह ठोस त्रिकोण न होकर, अब आड़ी लकीरें हैं। यहां हम प्रतीहार राजा महेन्द्रपाल के दिघवा-दुली दानपत्र (वि० सं० ९५५) की कुछ पंक्तियां दे रहे हैं:

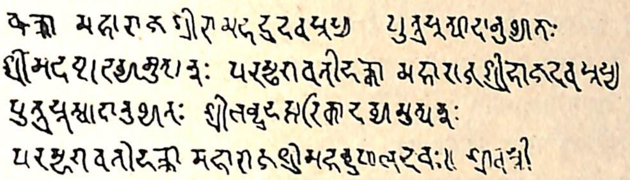

प्रतीहारवंशी राजा महेन्द्रपाल (८९१–९०७ ई०)
के दानपत्र की पंक्तियां (शिवराममूर्ति के आधार पर)

लिप्यन्तर :

भक्तो महाराजश्रीरामभद्रदेवस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यातः
श्रीमदप्पदेव्यामुत्पन्नः परम्भगवतीभक्तो महाराजश्रीभोजदेवस्तस्य
पुत्रस्तत्पादानुध्यातः श्रीचन्द्रभट्टारिकादेव्यामुत्पन्नः
परम्भगवतीभक्तो महाराजश्रीमहेन्द्रपालदेवः॥ श्रावस्ती

इसके बाद तो उत्तर भारत से नागरी लिपि के ढेर सारे लेख मिलते हैं। इनमें गुहिलवंशी, चाहमान (चौहान) वंशी, राष्ट्रकूट, चौलुक्य (सोलंकी), परमारों, चंदेलवंशी, हैहय (कलचुरि) आदि राजाओं के नागरी लिपि में लिखे हुए दानपत्र शिलालेख तथा प्रसिद्ध हैं।

दक्षिण के पल्लव शासकों ने भी अपने लेखों के लिए नागरी लिपि का प्रयोग किया था। इसी लिपि से कालान्तर में "ग्रन्थ लिपि" का विकास हुआ। तमिल लिपि की अपूर्णता के कारण इसमें संस्कृत के ग्रंथ लिखे नहीं जा सकते थे, इसलिए संस्कृत के ग्रंथ जिस नागरी लिपि में लिखे जाने लगे, उसी का कालान्तर में "ग्रन्थ लिपि" नाम पड़ गया। कांचीपुरम् के कैलाशनाथ मंदिर में नागरी लिपि में लिखे हुए बहुत-से विरुद मिलते हैं। इनमें सरल और कलात्मक दोनों ही प्रकार की लिपियों का प्रयोग देखने को मिलता है। यह लिपि हर्षवर्धन की लिपि से काफी मिलती-जुलती दिखायी देती है।

सुदूर दक्षिण में भी पाण्ड्य शासकों ने ८वीं शताब्दी में नागरी लिपि का इस्तेमाल किया है। मावलीपुरम् के अतिरणचंडेश्वर नामक गुफामंदिर में जो लेख मिलता है,

वह भी नागरी लिपि में है। सबसे नीचे दक्षिण में नागरी का जो लेख मिलता है, वह है पाण्ड्य-राजा वरगुण (९वीं शताब्दी) का पलियम-दानपत्र। इस दानपत्र की लिपि में और अतिरणचंडेश्वर के गुफालेख की लिपि में काफी साम्य है।

दक्षिण के उत्तम, राजराज और राजेन्द्र जैसे चोल राजाओं ने अपने सिक्कों के लेखों के लिए नागरी लिपि का इस्तेमाल किया है। श्रीलंका के पराक्रमबाहु, विजय-बाहु जैसे राजाओं के सिक्कों पर भी नागरी लिपि का इस्तेमाल हुआ है। १३वीं शताब्दी के केरल के शासकों के सिक्कों पर 'वीरकेरलस्य' जैसे शब्द नागरी लिपि में अंकित मिलते हैं। विजयनगर शासनकाल से तो नागरी (नंदिनागरी) का बहुतायत में उपयोग देखने को मिलता है। इस काल के अधिकांश ताम्रपत्रों पर नागरी लिपि में ही लेख अंकित हैं, हस्ताक्षर ही प्रायः तेलुगु-कन्नड़ लिपि में देखने को मिलते हैं। सिक्कों पर भी नागरी लिपि का प्रयोग देखने को मिलता है।

दक्षिणी शैली की नागरी लिपि (नंदिनागरी लिपि) का प्राचीनतम नमूना हमें राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग के समंगड दानपत्रों में, जो ७५४ ई० के हैं. दिखायी देता है। बाद में बादामी के चालुक्यों के उत्तराधिकारी राष्ट्रकूट शासकों ने तो इस नागरी लिपि का बहुतायत में इस्तेमाल किया है। राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज-प्रथम के नागरी लिपि में लिख हुए तलेगांव-दानपत्र प्रसिद्ध हैं। देवगिरि के यादववंशी राजाओं ने भी नागरी लिपि का ही इस्तेमाल किया था।

धारा नगरी का परमार शासक भोज अपने विद्यानुराग के लिए इतिहास में प्रसिद्ध है। बांसवाड़ा तथा बेतमा से प्राप्त राजा भोज के ताम्रपत्र (१०२० ई०) उसकी 'कोंकणविजय' के उपलक्ष में जारी किये गये थे। ये आरंभिक नागरी लिपि में हैं। यहां हम बांसवाड़ा ताम्रपत्र का एक अंश दे रहे हैं।

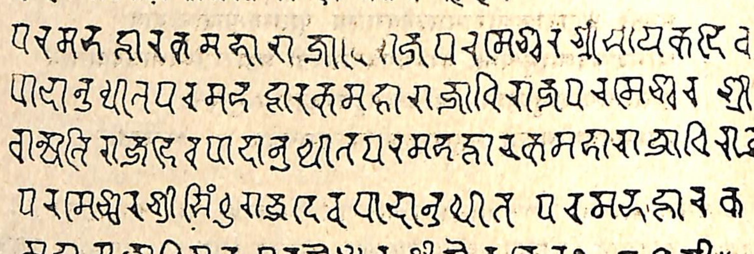

धारा नगरी के परमार शासक भोज के बांसवाड़ा ताम्रपत्र (१०२० ई०) का एक अंश

लिप्यंतर :

> **परमभट्टारक महाराजाधिराजपरमेश्वर श्रीसीयकदेव**
> **पादानुध्यात परमभट्टारक महाराजाधिराजपरमेश्वर श्री-**
> **वाक्पतिराज देवपादानुध्यात परम भट्टारक महाराजाधिराज**
> **परमेश्वर श्रीसिन्धुराजदेवपादानुध्यात परम भट्टारक**
> **महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीभोजदेवः कुशली ॥**

शारदा लिपि

ईसा की दसवीं शताब्दी से उत्तर-पूर्वी पंजाब और कश्मीर में शारदा लिपि का व्यवहार देखने को मिलता है। बूलर का मत था कि शारदा लिपि की उत्पत्ति गुप्त लिपि

की पश्चिमी शैली से हुई है, और इसके प्राचीनतम लेख ८वीं शताब्दी से मिलते हैं। बूलर ने जालंधर (कांगड़े) के राजा जयचंद्र की कीरग्राम के बैजनाथ मंदिर में लगीं प्रशस्तियों का समय ८०४ ई० मान लिया था, और इसी के अनुसार उन्होंने शारदा लिपि का आरंभ-काल ८०० ई० के आसपास निश्चित किया था। किंतु कीलहॉर्न ने अपनी गणितीय गणनाओं से सिद्ध किया है कि ये प्रशस्तियां १२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध की हैं। ओझाजी भी इसी मत के समर्थक हैं। ओझाजी शारदा लिपि का आरंभ-काल दसवीं शताब्दी से मानते हैं। उनका मत है कि नागरी की तरह शारदा लिपि भी कुटिल लिपि से निकली है। उनके मतानुसार शारदा लिपि का सबसे पहला लेख सराहां (चंबा राज्य) से प्राप्त प्रशस्ति है, और इसका समय दसवीं शताब्दी है। फोगेल ने चंबा राज्य से शारदा लिपि के बहुत-से अभिलेख प्राप्त किये हैं।

राजा विदग्ध के सुमंग गांव के दानपत्र, सोमवर्मा के कुलैत दानपत्र, जालंधर के राजा जयचंद्र के समय की बैजनाथ मंदिर की प्रशस्तियां, कुलू के राजा बहादुरसिंह के दानपत्र तथा अथर्ववेद एवं शाकुन्तल नाटक की हस्तलिखित पुस्तकों में शारदा लिपि का प्रयोग देखने को मिलता है। नीचे सरहां प्रशस्ति की दो पंक्तियां दी जा रही है:

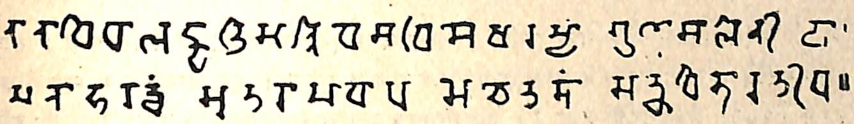

लिप्यंतर:

नानाविधालङ्कृतिसन्निविशेषरम्यां गुणशालिनी या।
मनोहरत्वं सुतरामवाप सचेतसां सत्कविभारतीय॥

कलिंग लिपि

कलिंग प्रदेश में ७वीं से १२वीं शताब्दी तक जिस लिपि का प्रयोग हुआ है, उसे कलिंग लिपि का नाम दिया गया है। इस लिपि का प्रयोग अधिकतर कलिंगनगर (मुखलिंगम्, गंजाम जिले में पर्लाकिमेडी से २० मील दूर) के गंगवंशी राजाओं के दानपत्रों में देखने को मिलता है। इन राजाओं ने 'गांगेय संवत्' का उपयोग किया है। यह संवत् ठीक किस साल से आरंभ होता है, यह अभी जाना नहीं जा सका है।

कलिंग लिपि में भी तीन शैलियां देखने को मिलती हैं। आरंभिक लेखों में मध्यदेशीय तथा दक्षिणी प्रभाव देखने को मिलता है। अक्षरों के सिरों पर ठोस चौखुटें दिखायी देती हैं। आरंभिक अक्षर समकोणीय दिखायी देते हैं। किंतु बाद में कन्नड़-तेलुगु लिपि के प्रभाव के अन्तर्गत अक्षर गोलाकार होते दिखायी देते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के अभिलेख नागरी लिपि के हैं।

नलवंश का पोड़ागढ़ से जो अभिलेख मिला है, उसके अक्षरों के सिरे वर्गाकार हैं। नलवंश का यह एकमात्र उपलब्ध लेख है। गंगवंशी राजा इन्द्रवर्मन का दानपत्र (गंग-संवत् ८७), इन्द्रवर्मन-द्वितीय का चिरकोल-दानपत्र तथा देवेन्द्रवर्मन का दानपत्र इसी वर्गाकार सिरों वाली लिपि में हैं। यहां नमूने के लिए हम हस्तिवर्मन के नरसिंहपल्ली दानपत्र का एक अंश प्रस्तुत करते हैं। यह दानपत्र गंग-संवत् ७९ (६०० ई० के आसपास) का है। इसकी लिपि दक्षिणी शैली की है। इस दानपत्र के लेखक विनयचंद्र ने हस्तिवर्मन

के अन्य दानपत्रों और इन्द्रवर्मन-द्वितीय के दानपत्रों को भी लिखा था । इसकी भाषा संस्कृत है ।

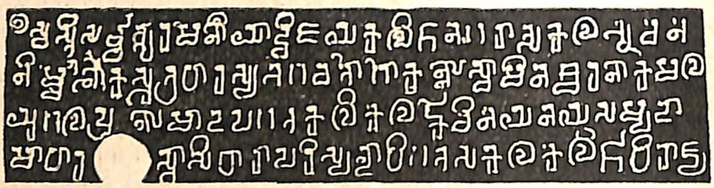

हस्तिवर्मन का गंग-संवत ७९ का एक दानपत्र

लिप्यंतर :

ओं स्वस्ति सव्वर्त्तुरमणीयाद्विजयकलिङ्गनगरात्सकलभुवन-
निम्माणैकसूत्रधारस्य भगवतो गोकर्ण्णस्वामिनश्चरणकमल-
युगलप्रणामादपगतकलिकलङ्को विनयनयसम्पदा-
माधारः स्वासिधारापरिस्पन्दाधिगतसकल कलिङ्गाधिराज-

कलिंग-प्रदेश में नागरी लिपि के दानपत्र ११वीं शताब्दी से मिलते हैं। यहां हम गंगवंशी राजा वज्रहस्त के दानपत्र का एक अंश दे रहे हैं। इस दानपत्र में शक-संवत् ९९१ (१०६८ ई०) दिया हुआ है। यह दानपत्र मद्रास संग्रहालय में रखा हुआ है, और रमेशचन्द्र मजूमदार ने इसका संपादन किया है (देखिए, एपिग्राफिया-इंडिका, खण्ड १३)।

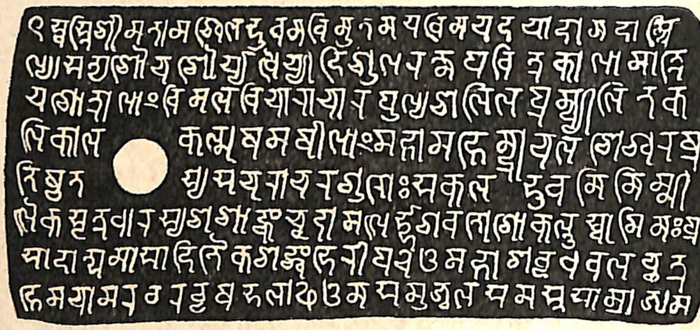

गंगवंशी राजा वज्रहस्त का नागरी लिपि में दानपत्र (मद्रास संग्रहालय)

लिप्यंतर :

ओं स्वस्ति श्रीमतामखिलभुवनविनुतनयविनयदयादानदाक्षि-
ण्यसत्यशौचशौर्य्यधैर्य्यादिगुणरत्नपवित्रकाणामात्रे
यगोत्राणां विमलविचाराचारपुण्यशलिलप्रक्षालित क-
लिकालकल्मषमषीणां महामहेन्द्राचलशिखर प्र-
तिष्ठितस्य सचाराचरगुरोः सकलभूवनिनिर्म्मा-
णैकसूत्रधारस्य शशाङ्कचूडामणेर्भ्भगवतो गोकर्ण्णस्वामिनः प्र-
सादात्समासादितैकशङ्खभेरीपञ्चमहाशब्दधवलच्छत्र
हेमचामरवरवृषभलाञ्छनसमुज्वल समस्तसाम्राज्यम

बंगला लिपि

बंगला और असमिया लिपियों में बहुत समानता है और इन दोनों लिपियों का विकास एक साथ ही हुआ है। ओझाजी का मत था कि, "बंगला लिपि भारतवर्ष के पूर्वी विभाग अर्थात् मगध की तरफ की लिपि से निकली है और बिहार, बंगाल, मिथिला, नेपाल, आसाम तथा उड़ीसा से मिलनेवाले कितने एक शिलालेख, दानपत्र, सिक्कों या हस्तलिखित पुस्तकों में पाई जाती है।" किन्तु लगता है कि कुछ पुरालिपिविद नागरी लिपि के साथ बंगला लिपि का यह रिश्ता पसंद नहीं करते। इसलिए पूर्वी भारत में ८वीं शताब्दी तक कुटिल लिपि का जो रूप यत्र-तत्र दिखाई देता है, उसी में बंगला लिपि के आद्य रूप वाले कुछ अक्षर खोजने का आजकल कुछ पुरालिपिविद प्रयत्न कर रहे हैं। सचाई तो यह है कि भारत की लिपियों पर प्रांतीयता का वेश हम बहुत दावे के साथ नहीं चढ़ा सकते। लिपियों के अध्ययन की सुविधा के लिए ही अब तक हम इनका वर्गीकरण करते चले आये हैं; वर्ना भारत की सभी लिपियां ब्राह्मी से निकली हैं। दसवीं शताब्दी के आसपास से ही भारत की वर्तमान लिपियां एक-दूसरे से थोड़ी-थोड़ी दूर हटती दिखायी देती हैं। अब यदि पूर्वी भारत के ८वीं शताब्दी के किसी अभिलेख को उठाकर एक पुराविद कहे कि, इसके बहुत-से अक्षर नागरी से मिलते हैं इसलिए यह नागरी लिपि का लेख है, तो उसकी बात स्वीकार करनी पड़ती है। दूसरी ओर, कोई अन्य पुराविद कहे कि, उसी लेख के कुछ अक्षर बंगला लिपि के आरंभिक रूप के समान हैं, तो यह बात भी हमें मान लेनी पड़ती है। वस्तुतः सभी संधिकालीन परिस्थितियों में इसी प्रकार की खींचा-तानी होती है। इसलिए हम इस प्रश्न की गहराई में न जाकर केवल उन्हीं लेखों में से कुछ का उल्लेख करेंगे, जिनमें बंगला-असमिया लिपियों का विकास देखने को मिलता है।

पूर्वी भारत के ग्यारहवीं शताब्दी के लेखों में हमें पहली बार बंगला लिपि की झलक देखने को मिलती है। ८वीं शताब्दी में गौडदेश (बंगाल) में पाल राजाओं का शासन आरंभ हुआ था। सभी पालवंशी राजा बौद्ध थे। नारायणपाल के समय (लग० ८५४-९०८ ई०) के बादल-स्तंभलेख के केवल कुछ अक्षर ही बंगला जैसे दिखायी देते हैं। परंतु विजयसेन के देवपाड़ा-लेख के अक्षरों का झुकाव स्पष्ट रूप से बंगला की ओर दिखायी देता है। यह लेख ११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का है। इस लेख में 'प' तथा 'य' और 'व' तथा 'ब' में विशेष अंतर नहीं है। इसमें अवग्रह (ऽ) का भी प्रयोग देखने को मिलता है, जो नागरी के 'इ' अक्षर-सा है। १२वीं शताब्दी के लेखों में तो बंगला लिपि अपनी स्वतंत्र विशेषताओं को ग्रहण करने लगती है। इस शताब्दी के कुछ प्रसिद्ध अभिलेख हैं---गोपाल-तृतीय के समय का मंदा-लेख, बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन का तर्पणदिघी दानपत्र, मधईनगर-शिलालेख और ढाका-मूर्तिलेख, अशोकचल्ल का ११७० ई० का बुद्धगया-लेख, ११७५ ई० का गदाधर मंदिर लेख, और कैम्ब्रिज संग्रहालय की 'पंच-रक्षा', 'योगरत्नमाला' तथा 'गुह्यावलि-विवृति' हस्तलिपियां।

कामरूप के राजाओं के भी बहुत-से दानपत्र, शिलालेख तथा अंकित मुद्राएं मिली हैं। इनमें कामरूप के राजा वैद्यदेव का दानपत्र साहित्यिक दृष्टि से इसलिए विशष महत्व का है कि, इसका रचयिता प्रसिद्ध कवि उमापतिधर है। समकालीन कवि जयदेव ने उमापतिधर के बारे में कहा था: वाचः पलवयत्युमापतिधरः। उमापतिधर द्वारा रचित इस वैद्यदेव दानपत्र में भी 'अवग्रह' का प्रयोग देखने को मिलता है। यहां हम इस दानपत्र का नमूना दे रहे हैं।

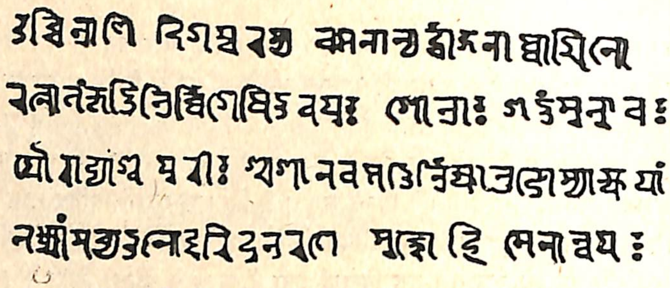

कामरूप के वैद्यदेव का दानपत्रांश (१२वीं शताब्दी)

लिप्यंतर :

उच्चित्राणि दिगम्बरस्य वसनान्यर्धाङ्गनास्वामिनो
रत्नालंकृतिभिर्व्विशोषितवपुः शोभाः शतंसुभ्रुवः
पौराद्याश्च पुरीः श्मशानवसतेर्भिक्षाभुजोस्याक्षयां
लक्ष्मीं स व्यतनोद्दरिद्रभरणे सुज्ञो हि सेनान्वयः ।।

असम से वल्लभदेव या वल्लभेन्द्र का ११८५ ई० का एक दानपत्र मिला है। इस दानपत्र के लेख में कहीं-कहीं 'न' और 'ल' में तथा 'प' और 'य' में स्पष्ट अंतर नहीं है। 'व' और 'ब' में तो बिल्कुल भेद नहीं है। कालान्तर में अन्य लिपियों से भेद स्पष्ट करने के लिए असम की लिपि को 'असमाक्षर' का नाम दिया गया था।

१२वीं शताब्दी के बाद बंगला लिपि के ताम्रपत्रों, प्रस्तरों, भूर्जपत्रों और विविध प्रकार के कागजों पर बहुत-से अभिलेख मिलते हैं। उड़िया लिपि १४वीं शताब्दी तक तो बंगला के साथ चलती है, परंतु उसके बाद इसका विकास स्वतंत्र रूप से होता है। उड़िया लिपि के अक्षर अधिकाधिक गोलाकार होते जाते हैं और इनमें गुंडियां बनती जाती हैं। इसका कारण यह है कि उडीसा के लिपिकार ताडपत्रों पर लिखते थे और लोहे की शलाका का प्रयोग करते थे।

तेलुगु कन्नड लिपि

वर्तमान तेलुगु और कन्नड लिपियों में काफी समानता है। इन दोनों लिपियों का विकास एक ही मूल लिपि-शैली से हुआ है। आज इन लिपियों का प्रयोग दक्षिणी महाराष्ट्र, आंध्र-प्रदेश तथा मद्रास के कुछ जिलों में होता है। इस लिपि का आद्य स्वरूप आरंभिक चालुक्य अभिलेखों में देखने को मिलता है। पश्चिमी दक्खन में वनवासी के कदम्बों के लेखों में और बादामी के चालुक्यों के लेखों में इस लिपि का आद्य रूप देखने को मिलता है। बादामी के प्रसिद्ध राजा पुलकेशिन-प्रथम (वल्लभेश्वर) का १९४१ में एक अभिलेख मिला है। इसमें शकाब्द ४६५ (५४३ ई०) का प्रयोग किया गया है। अल्फ्रेड मास्टर के अनुसार कन्नड लिपि का प्राचीनतम अभिलेख हलेबीद-शिलालेख है, जिसे वे पांचवीं शताब्दी का मानते हैं।

७वीं शताब्दी के मध्यकाल से इस लिपि की मध्यकालीन-शैली आरंभ होती है। दक्खन में लगभग तीन सौ वर्षों तक इस शैली का प्रयोग देखने को मिलता है। पश्चिमी दक्खन में बादामी के चालुक्यों, मान्यखेट के राष्ट्रकूटों, गंगवाड़ी के गंगो और अन्य छोटे-मोटे

राजवंशों ने इस लिपि का इस्तेमाल किया है। पूर्वी दक्खन में वेंगी के चालुक्यों ने इस लिपि का प्रयोग किया। इन सभी लेखों की लिपि एक जैसी है, ऐसी बात नहीं है। यहां से हमें एक ओर ग्रंथ लिपि में और तेलुगु-कन्नड लिपि में स्पष्ट अंतर दिखाई देता है, तो दूसरी ओर कन्नड और तेलुगु लिपियों में थोड़ा-थोड़ा अंतर झलकने लगता है।

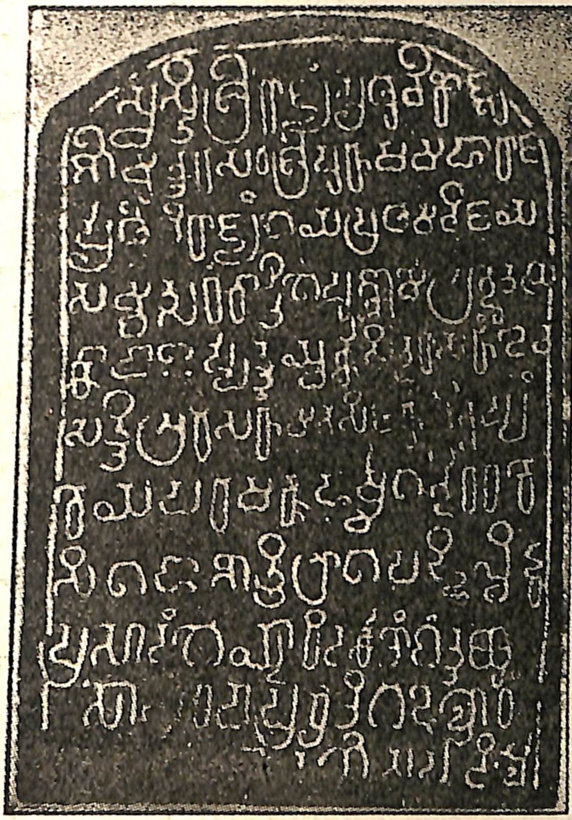

तलकाड़ (मैसूर) से प्राप्त तेलुगु-कन्नड का प्रस्तर-लेख (७२६ ई०)
इस लेख की भाषा कन्नड है।

अब तक तो अभिलेखों की भाषा संस्कृत या प्राकृत ही थी, किंतु ७वीं शताब्दी से इन लिपियों में तेलुगु और कन्नड भाषाओं के भी लेख मिलने लग जाते हैं। कन्नड भाषा का सबसे प्राचीन अभिलेख बादामी की वैष्णव गुफा के बाहर चालुक्य राजा मंगलेश (५९८-६१० ई०) का मिलता है। काकुस्थवर्मन का हलेबीद-अभिलेख भी कन्नड में ही है। कन्नड भाषा की प्राचीनतम हस्तलिपि "कविराजमार्ग" ८७७ ई० में लिखी गई थी।

तेलुगु भाषा का प्राचीनतम अभिलेख रेनदु के तेलुगु-कोदस का है। तेलुगु भाषा के आरंभिक अभिलेख आंध्र-प्रदेश के अनंतपुर और कदप जिलों में मिले हैं। ये छठी से आठवीं शताब्दी के बीच के हैं। इस काल में तेलुगु-कन्नड लिपि तो एक-सी थी, परंतु तेलुगु और कन्नड भाषाओं का हम स्वतंत्र अस्तित्व देखते हैं। तेलुगु-कोदस के कलमल्ल-अभिलेख में जिस कन्नड-तेलुगु लिपि का प्रयोग हुआ है, उस पर तमिल-ग्रंथ लिपि की छाप

स्पष्ट दिखायी देती है। एरगुडीपदु अभिलेख में तो 'ळ' का प्रयोग भी देखने को मिलता है। आज यह अक्षर-ध्वनि तमिल और मलयालम में तो मिलती है, किंतु वर्तमान तेलुगु और कन्नड में इसका प्रयोग नहीं होता।

इसके बाद की कन्नड-तेलुगु लिपि को 'संधिकालीन लिपि' का नाम दिया गया है। यह नाम इसलिए कि, एक तो इस काल की लिपि आधुनिक तेलुगु-कन्नड लिपियों से कुछ-कुछ मिलने लग जाती है, दूसरे इसके बाद हम तेलुगु और कन्नड लिपियों में स्पष्ट अंतर देखने लगते हैं। १३वीं शताब्दी में पहुंचने पर हम इन दोनों लिपियों को धीरे-धीरे एक दूसरे से दूर हटते देखते हैं। १३वीं शताब्दी का एक तेलुगु कवि मंचन अपनी लिपि को "आंध्रलिपि" का नाम देता है।

इसके बाद कन्नड और तेलुगु लिपियों का अलग-अलग स्वतंत्र विकास होता है। कन्नड में स्वरों की मात्राएं लंबी होकर व्यंजनों के दाईं ओर उसी रेखा में रखी जाने लगीं। अक्षर अधिकाधिक गोलाकार होते गये। अनुस्वार अक्षर के ऊपर केवल एक बिंदु न रहकर गोलाकार बिंदी बन गया और अक्षर के दाईं ओर रखा जाने लगा। इन लिपियों का यह संधिकाल दो शताब्दियों तक चला, और उसके बाद विजयनगर के राज्य-काल में ये दोनों लिपियां पूर्ण रूप से एक-दूसरे से अलग हो गईं। पिछली शताब्दी में मुद्रण-प्रणाली की शुरूआत के कारण इन लिपियों को वर्तमान स्थायी रूप मिला। परंतु आज भी इनमें से एक लिपि जाननेवाला व्यक्ति दूसरी लिपि को सहज ही पढ़-लिख सकता है।

ग्रंथ लिपि

तमिलनाड के आर्काट, सलेम, त्रिचनापल्ली, मदुरा, तिन्नेवेल्लि तथा पुराने त्रावनकोर राज्य में ७वीं शताब्दी से इस लिपि का व्यवहार होता रहा है। दक्षिण के पाण्ड्य, पल्लव तथा चोल राजाओं ने अपने अभिलेखों में इस लिपि का प्रयोग किया है। दक्षिण भारत की स्थानीय लिपियों की अपूर्णता के कारण संस्कृत भाषा के ग्रंथ एवं अभिलेख इन लिपियों में नहीं लिखे जा सकते थे। संस्कृत के ग्रंथ तथा अभिलेख लिखने के लिए जिस लिपि का दक्षिण भारत में उपयोग होता था, उसी को कालान्तर में 'ग्रंथ लिपि' का नाम दिया गया।

सबसे पहले दक्षिण के पल्लव राजाओं के लेखों में हमें ग्रंथ लिपि का आरंभिक रूप देखने को मिलता है। पल्लव लिपि का प्रभाव एवं प्रचार हमें सुदूर दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में भी देखने को मिलता है। सातवीं शताब्दी से दक्षिण भारत में पल्लव लिपि के दो रूप देखने को मिलते हैं: एक कलात्मक और दूसरा साधारण। महाबलिपुरम् के धर्मराजरथ पर कुछ विरुद उत्कीर्ण हैं। इनकी लिपि को 'पल्लव-ग्रंथ लिपि' का नाम दिया गया है। इस रथ पर अंकित चार पंक्तियां आगे दे रहे हैं। पाठक देखेंगे कि इन चार पंक्तियों में ही चार प्रकार के 'अ', दो प्रकार के 'म' और 'य' तथा तीन प्रकार के 'न' का प्रयोग हुआ है।

पल्लववंशी राजाओं के ग्रंथ लिपि और संस्कृत भाषा में अभिलेख मिलते हैं। इनमें प्रमुख हैं: राजा नरसिंहवर्मन् के समय के मामल्लपुरम् के कुछ लघुलेख, राजा राजसिंह (नरसिंहवर्मन्-द्वितीय) के समय के कांचीपुरम् के कैलासनाथ मंदिर के शिलालेख और राजा परमेश्वरवर्मन का कूरम से प्राप्त दानपत्र। राजसिंह का कैलासनाथ मंदिर का शिलालेख सातवीं शताब्दी की पल्लव-ग्रंथ लिपि का बढ़िया नमूना है। इस

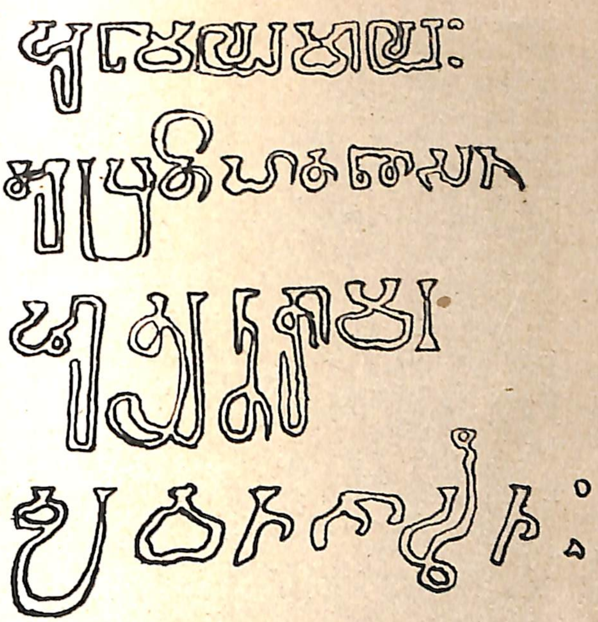

महाबलिपुरम् के धर्मराजरथ पर अंकित पल्लव-ग्रन्थ लिपि में चार पंक्तियां (शिवराममूर्ति के आधार पर)

लिप्यंतर :

अमेयमायः
अप्रतिहतशासन
अत्यन्तकाम ।
अवनभाजनः

लेख के लिखनेवाले ने अपनी कलात्मक रुचि का खूब परिचय दिया है। परमेश्वरवर्मन के कूरम-दानपत्र की लिपि कुछ जल्दी से लिखी गयी है। इस दानपत्र में हमें ग्रंथ लिपि के साथ-साथ तमिल लिपि के विकास के भी दर्शन होते हैं, क्योंकि यह दानपत्र अंशतः संस्कृत और अंशतः तमिल में है। इस दानपत्र में हमें तेलुगु-कन्नड़ लिपि के कुछ आरंभिक अक्षर भी नजर आते हैं। ८वीं शताब्दी में इस लिपि में कुछ विशेष अंतर नहीं दिखायी देता, जैसा कि नंदिवर्मन के कसाकूड़ि से मिले हुए दानपत्र की लिपि को देखने को से पता चलता है।

नौवीं और दसवीं शताब्दी में चोल राजाओं के अभिलेखों में जो ग्रंथ लिपि मिलती है, उसे बूलर ने संधिकालीन ग्रंथ लिपि का नाम दिया था। वर्तमान समय तक दक्षिण भारत में संस्कृत के ग्रंथ लिखने के लिए जिस ग्रंथ लिपि का व्यवहार होता रहा है, उसका आरंभ हम १३वीं -१४ वीं शताब्दी के अभिलेखों में देखते हैं। ग्रंथ लिपि में लिखी हुई जो सबसे प्राचीन हस्तलिपि मिलती है, वह १६वीं शताब्दी की है। वर्तमान समय तक दक्षिण में संस्कृत के ग्रंथ लिखने के लिए जिस ग्रंथ लिपि का व्यवहार होता रहा है, उसकी दो शैलियां हैं—तंजौर के ब्राह्मण 'वर्गाकार' ग्रंथ लिपि का प्रयोग करते रहे हैं और आर्कट तथा मद्रास के जैन 'गोलाकार' ग्रंथ लिपि का।

तुलु और मलयालम लिपियों का विकास ग्रंथ लिपि से ही हुआ है।

कांचीपुरम् के कच्छपेश्वर मन्दिर के सूर्यमण्डप पर चोल ग्रन्थ-लिपि में अंकित "सूर्यशतक" लेख (दसवीं शताब्दी) (मद्रास संग्रहालय)

तमिल लिपि

तमिल भाषा के प्राचीनतम लेख दक्षिण भारत की कुछ गुफाओं में मिले हैं। य लेख ई० पू० पहली-दूसरी शताब्दी के माने गये हैं और इनकी लिपि ब्राह्मी ही है। लेकिन इसके बाद सातवीं सदी तक तमिल लिपि के विकास का कोई सिलसिला हमारे हाथ नहीं लगता। सातवीं शताब्दी में पहली बार कुछ ऐसे दानपत्र मिलते हैं जो संस्कृत और तमिल दोनों ही भाषाओं में लिखे गये हैं। संस्कृत भाषा के लिए ग्रन्थ लिपि का ही व्यवहार देखने को मिलता है; तमिल भाषा की तत्कालीन लिपि भी ग्रन्थ लिपि से मिलती-जुलती है। पल्लव राजा परमेश्वरवर्मन के कूरम दानपत्र में संस्कृत और तमिल दोनों ही भाषाओं में लेख मिलते हैं। इसी प्रकार, पल्लव राजा नंदिवर्मन के कसाकूडि-दानपत्र और उदयेंदिरम् के दानपत्र में तमिल अंश देखने को मिलते हैं। कूरम दानपत्र ७वीं शताब्दी का है और इसके तमिल लेख के 'अ', 'आ', 'इ', 'उ', 'ओ', 'च', 'ञ', 'ण', 'त', 'न', 'प', 'य' और 'व' अक्षर उसी दानपत्र के संस्कृत लेख के अक्षरों से मिलते हैं। कसाकूडि दानपत्र ८वीं शताब्दी का है, और इसके भी बहुत-से अक्षर ग्रन्थ लिपि से मिलते-जुलते हैं।

पल्लव शासक, अपने उत्तराधिकारी चोल और पाण्ड्यों की तरह, संस्कृत के साथ स्थानीय जनता की तमिल भाषा का भी आदर करते थे; इसलिए उनके अभिलेख

इन दोनों भाषाओं में मिलते हैं। नौवीं-दसवीं शताब्दी के अभिलेखों को देखने से पता चलता है कि तमिल लिपि ग्रन्थ लिपि के साथ-साथ स्वतंत्र रूप से विकसित हो रही थी। इन दो शताब्दियों के तमिल लेखों में प्रमुख हैं—पल्लवतिलकवंशी राजा दंतिवर्मन के समय का तिरुवेळ्ळरै लेख, राष्ट्रकूट राजा कण्णदेव (कृष्णराज तीसरे) के समय के तिरुक्कोवलूर और वेल्लोर लेख। इनमें दंतिवर्मन् के समय का तिरुवेळ्ळरै लेख सुंदर तमिल काव्य में है।

पल्लवों की तरह चोल राजाओं के अभिलेख भी संस्कृत और तमिल दोनों में मिलते हैं। चोल राजा राजराज ९८५ ई० में तंजौर की गद्दी पर बैठा था। उसने दक्षिण भारत के अधिकांश प्रदेश पर अधिकार करके सिंहल के साथ-साथ लक्कादिव-मालदिव द्वीपों को भी अपने राज्य में मिला लिया था। उसके बाद १०१२ ई० में राजेन्द्र चोल राजा बना। राजेन्द्र ने एक जंगी बेड़े से श्रीविजय (सुमात्रा) पर आक्रमण करके शैलेन्द्रों को पराजित किया था। उसने गौड़ देश को भी अपने राज्य में मिला लिया था। इन दो चोल राजाओं का शासन दक्षिण भारत के इतिहास का एक गौरवशाली अध्याय है। इन्होंने संस्कृत के साथ-साथ तमिल भाषा को भी प्रश्रय दिया था। इनकी विजयों की तरह इनका कृतित्व भी भव्य है। इनके अभिलेख संस्कृत भाषा (ग्रन्थ लिपि) और तमिल भाषा (तमिल लिपि) दोनों में ही मिलते हैं। राजेन्द्र चोल का ग्रन्थ लिपि में लिखा हुआ संस्कृत भाषा का तिरुवालंगाडु दानपत्र तो अभिलेखों के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखता है। इसमें तांबे के बड़े-बड़े ३१ पत्र हैं और इन्हें छेद करके एक मोटे कड़े से बांधा गया है। इस कड़े पर एक बड़ी-सी मुहर है। इस पूरे दानपत्र का वजन आठ मन है!

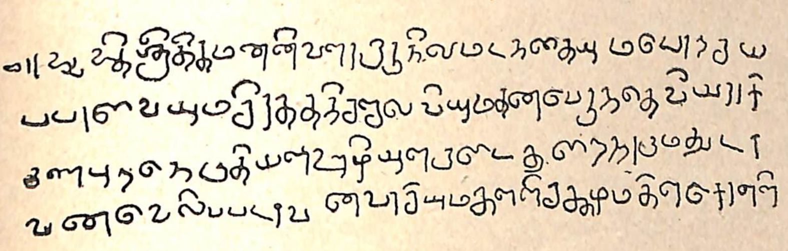

चोल राजा राजेन्द्र (१०१२-१०४४ ई०) का तंजौर के बृहदीश्वर मंदिर में उत्कीर्ण तमिल लेख।

तमिल लिपि में राजेन्द्र चोल का तिरुमलै की चट्टान पर एक लेख मिलता है। उसी प्रकार, तंजौर के बृहदीश्वर मंदिर में भी उसका लेख मिलता है। इन लेखों की तमिल लिपि में और तत्कालीन ग्रन्थ लिपि में स्पष्ट अंतर दिखाई देता है।

विजयनगर के राजाओं ने भी ग्रन्थ लिपि के साथ-साथ तमिल लिपि का इस्तेमाल किया है। शक सं० १३०८ (१३८७ ई०) का विजयनगर के राजा विरूपाक्ष का शोरेक्कावुर से तमिल लिपि में दानपत्र मिला है।

१५वीं शताब्दी में तमिल लिपि वर्तमान तमिल लिपि का रूप धारण कर लेती है। हां, पिछली शताब्दी में, मुद्रण में इसका रूप स्थायी होने के पहले, इसके कुछ अक्षरों में थोड़ा-सा फरक पड़ा है। शकाब्द १४०३ (१४८२ ई०) के महामंडलेश्वर

वालककायम के शिलालेख के अक्षरों में और वर्तमान तमिल लिपि के अक्षरों में काफी समानता है ।

वट्टेळुत्तु लिपि

वट्टेळुत्तु लिपि का विकास, तमिल लिपि की तरह, ब्राह्मी से ही हुआ है । तमिल लिपि को त्वरा से घसीटी लिखने के कारण ७वीं शताब्दी के आसपास दक्षिण के प्रदेशों में यह लिपि अस्तित्व में आयी थी । पाण्ड्य शासकों ने अपने अभिलेखों में इस लिपि का उपयोग किया है । तंजौर के दक्षिण में और मलाबार तथा त्रावणकोर में इस लिपि का बहुत व्यवहार हुआ है । त्रावणकोर में तो अभी पिछली शताब्दी तक इस लिपि का व्यवहार देखने को मिलता था । दक्षिण भारत की लिपियों के विशेषज्ञ बर्नेल का मत था कि आरंभ में तमिल भाषा के ग्रन्थ इसी लिपि में लिखे जाते थे । इस लिपि के गोलाकार अक्षरों को देखने से पता चलता है कि ताडपत्रों पर लोहे की कील से लिखने के लिए ही यह लिपि उपयुक्त थी । पत्थरों पर गोलाकार अक्षरों को खोदने में बड़ी कठिनाई होती है । इसीलिए राजराज चोल ने इस वट्टेळुत्तु लिपि के स्थान पर इसके सीधे अक्षरों वाली 'कोल-एळुत्तु' लिपि को पसंद किया था ।

२६

विदेशों में भारतीय लिपि

समय-समय पर भारत ने विदेशों को बहुत कुछ दिया है; ब्राह्मणधर्म और बौद्धधर्म दिये, और इनके साथ संस्कृत तथा पालि भाषाएं भी। परन्तु विदेशों को भारत की लिपि की देन इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण और चिरस्थायी रही। सबसे पहले हम सिंहल (श्रीलंका) को बौद्धधर्म के साथ ब्राह्मी लिपि अपनाते देखते हैं। वर्तमान सिंहल लिपि भारतीय लिपियों के प्रभाव में ही विकसित हुई है। नेपाल तो सांस्कृतिक दृष्टि से भारत से अभिन्न रहा है। पूर्वी मध्य-एशिया में, विशेषत: चीनी तुर्किस्तान में, चौथी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक हम गुप्त लिपि की शैलियों का व्यवहार देखते हैं। सातवीं शताब्दी में मध्य एशिया की या भारत की कुटिल लिपि के आधार पर तिब्बती लिपि बनायी गयी थी।

दक्षिण-पूर्व एशिया में धर्म (ब्राह्मण और बौद्ध) और वाणिज्य-व्यापार के साथ भारतीय संस्कृति तथा उपनिवेशों का विस्तार हुआ। इन भारतीय उपनिवेशिकों के साथ एशिया के इस भू-भाग में संस्कृत भाषा तथा भारतीय लिपि का भी प्रवेश हुआ। भारतीय उपनिवेशिकों ने बाद में वहां के विभिन्न राज्यों पर शताब्दियों तक राज्य किया। आज वे वहां के निवासियों के साथ एकमय हो गये हैं। भारत की तरह ही दक्षिण-पूर्व एशिया के विभिन्न राज्यों से हमें सस्कृत-प्राकृत भाषा के भारतीय लिपि में लिखे हुए बहुत-से अभिलेख मिले हैं। जावा और कम्बुज (कंबोडिया) से तीसरी-चौथी शताब्दी के शिलालेख मिले हैं। दक्षिण-पूर्व एशिया के इन देशों में हमारे देश की तरह ही संस्कृत भाषा का पठन-पाठन होता था। बाद में इन सभी देशों में बौद्धधर्म का विस्तार होने से वहां पालि का भी अध्ययन होता रहा, आज भी होता है।

दक्षिण-पूर्व एशिया की अपनी भाषाएं आर्य परिवार की नहीं हैं। इन देशों में ऑस्ट्रिक-एशियाई, चीनी-बर्मी तथा मोन्-ख्मेर भाषा-परिवारों की बहुत सारी भाषाओं का आज व्यवहार होता है। किन्तु इन सभी भाषाओं के लिए आज जिन अनेक लिपियों का व्यवहार होता है, उनका विकास या निर्माण भारतीय लिपि के आधार पर ही हुआ है।

आगे के पृष्ठों में विदेशों में पाये जानेवाले भारतीय लिपि के लेखों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ की सीमा में सभी प्राप्त अभिलेखों का विशद विवेचन सम्भव नहीं है। यहां आरंभ काल के कुछ प्रमुख अभिलेखों का ही दिग्दर्शन कराया गया है। आशा है, पाठक इतने से ही विदेशों में भारतीय लिपि के प्रचार एवं प्रसार के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

श्रीलंका

श्रीलंका भारत का सबसे प्राचीन उपनिवेश है । ज्ञात होता है कि जिस वर्ष भगवान बुद्ध का निर्वाण (४८३ ई०पू०) हुआ, उसी वर्ष 'लाळ' देश का राजकुमार विजयसिंह अपने साथियों के साथ ताम्रपर्णी (लंका) द्वीप में पहुंचा था । विजयसिंह के 'सिंह' नाम के कारण इस द्वीप का नाम 'सिंहल' पड़ा है । इस 'सिंहल' से ही पुर्तगालियों का 'सिलोन' शब्द बना । अशोक के शिलालेखों में और प्राचीन बौद्ध साहित्य में इस द्वीप के लिए तंबपन्नी (ताम्रपर्णी) शब्द मिलता है ।

पालि ग्रन्थों में यद्यपि यह लिखा हुआ है कि विजयसिंह लाळ देश से लंका पहुंचा था, परन्तु इस 'लाळ' शब्द के अर्थ के बारे में विद्वानों में काफ़ी मतभेद है । यदि यह शब्द 'राढ़' का द्योतक है, तो यह बंगाल की ओर निर्देश करता है, और यदि इसे 'लाट' माना जाय तो यह गुजरात का प्राचीन नाम है। पालि ग्रन्थों से यह भी पता चलता है कि विजय के जहाज सूप्पारक से लंका पहुंचे थे । यह सूप्पारक आधुनिक सोपारा (ठाना जिला) ही है । इसलिए अधिक सम्भव यही जान पड़ता है कि विजय और उसके साथी पश्चिम भारत के निवासी थे, न कि बंगाल के। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या भी, सिंहल भाषा के अध्ययन के अनन्तर, इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि सिंहल भाषा का सम्बंध मागधी भाषाओं से नहीं, बल्कि पश्चिम भारत की भाषाओं से अधिक है । बहुत-से लोग भ्रमवश सोचते हैं कि, दक्षिण भारत की भाषाएं द्रविड परिवार की हैं, और क्योंकि लंका और अधिक दक्षिण में है, इसलिए वहां की भाषा भी द्रविड परिवार की होगी । परन्तु यह धारणा गलत है । सिंहल भाषा आर्य-परिवार की है, और इसमें पालि भाषा के शब्दों की भरमार है । हां, सिंहल के उत्तर भाग में तमिल लोग काफी संख्या में हैं, और उनकी भाषा तमिल है । सिंहल में विजय के आगमन के पहले वहां के मूल निवासी पाषाण-युग के आदिम मानव थे, जिनके वंशज आज 'वेद्दा' कहे जाते हैं और अल्प संख्या में आज भी लंका के जंगलों में रहते हैं ।

सिंहल में भारतीय लिपि का प्रवेश बौद्धधर्म के साथ होता है । पहले-पहल अशोक (२७२-२३२ ई०पू०) के समय में लंका में बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ । अशोक-पुत्र महेन्द्र भिक्षु बनकर धर्म प्रचारार्थ सिंहल गये थे । बाद में अशोक-पुत्री संघमित्रा भी बोधिवृक्ष की एक शाखा लेकर वहां पहुंची थी । उस समय वहां राजा 'देवानांप्रिय' तिस्स राज्य कर रहा था और उसकी राजधानी अनुराधपुर में थी । राजा के साथ जनता ने भी बौद्धधर्म स्वीकार किया । महेन्द्र और संघमित्रा के समय में सिंहल में भिक्षु-संघ और भिक्षुणी-संघ की स्थापना हो चुकी थी । महेन्द्र के समय में ही वहां अनुराधपुर में सिंहल के प्रथम 'महाविहार' की स्थापना हुई थी । इसी महाविहार में राजा वट्टगामणी (८९-७७ ई०पू०) के समय में सिंहल के भिक्षुओं का एक महासम्मेलन हुआ था, जिसमें बुद्ध-वचनों का पारायण हुआ था, और बाद में भिक्षुओं ने कण्ठस्थ चले आते बुद्ध-वचनों को मातले के पास की अलुलेणा (गुफा) में इन्हें लिपिबद्ध किया था। यही लिपिबद्ध बुद्ध-वचन 'त्रिपिटक' के नाम से आज हमें उपलब्ध हैं ।

सिंहल में प्राचीनतम शिलालेख अशोक के काल के मिलते हैं, और इनकी लिपि ब्राह्मी है । सबसे पहले १८८३ में डा० एडवर्ड मिलेर ने सिंहल के पुरालेखों के बारे में

एक ग्रन्थ प्रकाशित किया था। बाद में "एपिग्राफिया इंडिका" की तरह "एपिग्राफिया झेलनिका" नाम का एक शोधपत्र भी वहां से प्रकाशित होने लगा। सिंहल के पुरालेखों को प्रकाशित व सम्पादित करने में डा० परणवितान तथा डा० विमलानंद जैसे सिंहल विद्वानों ने प्रमुख सहयोग दिया है। विमलानंद ने सिंहल के प्राचीन अभिलेखों को चार कालों में विभाजित किया : (१) २४७-३ ई०पू०, (२) ३ ई०पू०-४६० ई०, (३) ४६०-७०३ ई०, और (४) ७०३-१०७३ ई०।

बौद्धधर्म के साथ ई०पू० तीसरी शताब्दी के उत्तरार्ध में सिंहल में ब्राह्मी लिपि का प्रवेश हुआ था। इसका यह अर्थ नहीं है कि वर्तमान सिंहल लिपि का विकास सीधे अशोक कालीन ब्राह्मी लिपि से हुआ। समय-समय पर भारत के अन्य प्रदेशों की लिपियों का भी सिंहल में प्रवेश देखने को मिलता है। इनमें अमरावती-नागार्जुनकोंडा की लिपि और बाद में दक्षिण की ग्रन्थ-लिपि का सिंहल लिपि के विकास में प्रमुख योग रहा है।

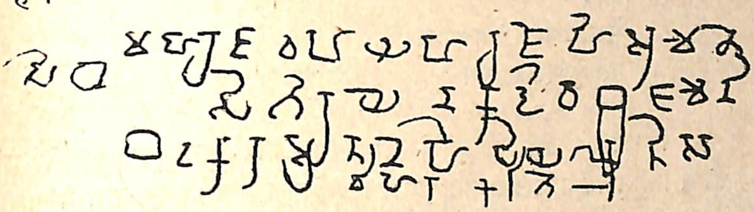

राजा वसभ के समय (६७-१११ ई०) का वेल्लिपुरम् (जाफना, प्राचीन नागदीव) से प्राप्त स्वर्णपत्र पर अंकित लेख।

लिप्यंतर :

सिध, महरज बहयह रजेहि अमेते
(इ)सिगिरये नकदीव बुजमेनि
बदकर अतनेहि पियगुकतिस
विहर करिते—

सिंहल के प्राचीनतम लेख गुफाओं में और चट्टानों पर मिलते हैं। इनमें वेस्सगिरि, रिटिगल, केरम्ब हिना और नवलपट के गुफालेख प्राचीनतम जान पड़ते हैं। सबसे प्राचीन लेख सम्भवतः नवल-निरवी-मलेई में (उत्तरी सिंहल में विलानकुलम् के ८ मील उत्तर-पूर्व में) है। यह ई०पू० तीसरी शताब्दी के तीसरे चरण का है, और इस प्रकार अशोक का समकालीन है। सिंहल में कुछ शिलालेख दायीं ओर से बायीं ओर को लिखे हुए मिलते हैं, इसकी चर्चा हम पहले कर आये हैं। दुवे-गल की गुफा नं० ७ का इस प्रकार का लेख प्रकाशित हो चुका है। इसके बारे में प्रसिद्ध भारतीय पुरालिपिविद दिनेशचंद्र सरकार ने लिखा है :

"इस विचित्र लेख को देखकर, जो कि ई०पू० पहली शताब्दी का जान पड़ता है, लगता है कि या तो ब्राह्मी लिपि का सिंहल में प्रवेश अशोक के पहले हो चुका था या कुछ सम्भावना यह भी है कि दक्षिण भारत की किसी आरंभिक लिपि का प्रभाव इस पर पड़ा हो। येर्रागुडी के बेढंगे शिलालेख के अलावा अशोक के शेष सभी ब्राह्मी शिलालेख बायीं ओर से दायीं ओर को लिखे गये हैं। इस अभिलेख से यही सिद्ध होता

है कि खरोष्ठी की तरह, आरंभ में ब्राह्मी भी दायीं ओर से बायीं ओर का लिखी जाती थी।"

इस मत के खंडन में पहले हम काफी लिख चुके हैं। एक तो अशोक के पहले का सिंहल में कोई लेख नहीं मिलता; दूसरे, दक्षिण भारत का कोई भी लेख अशोक के पहले का नहीं है। इसलिए सरकार का यह मत उचित नहीं जान पड़ता।

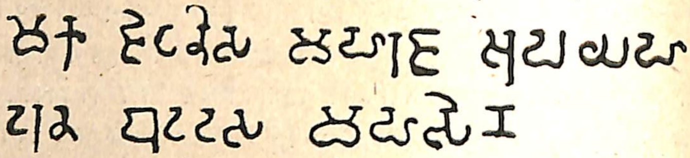

बुद्धदास महासेन के शासनकाल (३३७-३६५ ई०) के रुवनवेलिसाय स्तम्भलेख का एक अंश।

लिप्यंतर :

मेक जेटतिस महरज अपयह
पुत बुददस महसेन

ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी में अमरावती और नागार्जुनकोंडा के प्रसिद्ध बौद्ध-केन्द्रों से सिंहल का घनिष्ट सम्बंध रहा है। तोणिगल, तिबिरिवन तथा वेस्सगिरिय के शिलालेखों में इक्ष्वाकु शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। बुद्धदास के समय के रुवनवेलिसाय स्तम्भलेख में, जेतवनाराम के खंडित लेख में और किरि विहारे तथा अनुराधपुर के स्तम्भलेखों में चौथी-पांचवीं शताब्दी के कदम्बों के लेखों की लिपि का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। अंत में सातवीं-आठवीं शताब्दी में सिंहल में पल्लवों की ग्रन्थ लिपि का प्रवेश हुआ।

विभिन्न कालों में भारत के विभिन्न प्रदेशों की इन लिपि शैलियों के प्रभावों से ही वर्तमान सिंहल लिपि का विकास हुआ है।

पूर्वी मध्य-एशिया

सामान्यत: सोवियत तुर्किस्तान और चीनी तुर्किस्तान दोनों मिलकर मध्य-एशिया कहे जाते हैं। जहां तक इस भू-भाग में भारतीय लिपि के प्रचार का सवाल है, हमें पूर्वी मध्य-एशिया से ही अधिक सरोकार है। इसका अर्थ यह नहीं ही है कि पश्चिमी मध्य-एशिया पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव देखने को नहीं मिलता। असल में संपूर्ण मध्य-एशिया में किसी समय भारतीय संस्कृति, विशेषत: बौद्ध संस्कृति, का बोलबाला था। पश्चिमी मध्य-एशिया के प्रसिद्ध बुखारा नगर का नाम 'विहार' शब्द से ही बना है। फारसी का 'बुतपरस्त' शब्द भी 'बुद्ध-परस्त' (बुद्ध-पूजक) शब्द का ही रूपान्तर है। परन्तु पूर्वी मध्य-एशिया में भारतीय संकृति की जड़ें अधिक गहरी जम गयी थीं। मध्य-एशिया से ही चीन में बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ था। बौद्धधर्म के साथ इस प्रदेश में संस्कृत और पालि भाषाओं के साथ-साथ भारतीय लिपि का भी प्रवेश हुआ। यह लिपि गुप्त लिपि जैसी थी और बाद में पूर्वी मध्य-एशिया की स्थानीय बोलियों के लिए भी कुछ परिवर्तनों के साथ इस लिपि को अपना लिया गया था।

खरोष्ठी लिपि की चर्चा करते समय हम बतला चुके हैं कि चीनी तुर्किस्तान से आरेल स्टाइन जैसे पुराविद-पर्यटकों ने खोतन, नीया आदि स्थानों से खरोष्ठी लिपि में लिखी हुई ढेर सारी पुस्तकें तथा काष्ठ-पट्टिकाएं प्राप्त की हैं। खरोष्ठी के अलावा, ब्राह्मी से निकली हुई गुप्त लिपि से मिलती-जुलती लिपि में भी चीनी तुर्किस्तान से बहुत-सी पोथियां मिली हैं। सबसे पहले १८७० ई० में लेफ्टिनेंट बावर को काशगर (पूर्वी तुर्किस्तान) से एक हस्तलेख मिला था। १८६० ई० में बंगाल एशियाटिक सोसायटी की सभा में इस हस्तलेख की जानकारी दी गयी। बाद में डा० हर्नले के अनुसंधानों से ज्ञात हुआ कि यह हस्तलेख भारतीय भाषा में और गुप्त लिपि में लिखा हुआ है। यह उस समय का लिखा हुआ है जब कि भारत में समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त शासन कर रहे थे, अर्थात् चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध का। बाद में १८६१ में बावर ने चीनी तुर्किस्तान से और भी कई हस्तलेख प्राप्त किये, जो 'बावर-हस्तलेख' के नाम से प्रसिद्ध हैं। काशगर के रूसी कोंसुल-जनरल ने भी १८६१ में बहुत-से हस्तलेखों को खोजा, जो उसके नाम पर 'पेत्रोव्स्की-हस्तलेख' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके बाद तो अनेक देशों के पुरातत्व-अभियान चीनी तुर्किस्तान में आये और यहां से उन्होंने बहुत-सी पोथियां प्राप्त कीं। ये हस्तलेख अब ब्रिटिश, जापानी, फ्रेंच तथा रूसी संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

चीनी तुर्किस्तान से प्राप्त विविध हस्तलेखों में गुप्त लिपि की जिस शैली का प्रयोग हुआ है, वह तीन प्रकार की है: (१) जो हस्तलेख भारत से यहां पहुंचे थे, उनमें खड़ी रेखाओं वाली गुप्त लिपि का प्रयोग देखने को मिलता है। (२) मध्य-एशिया की तिर्छी गुप्त लिपि, और (३) मध्य-एशिया की घसीटी गुप्त लिपि। इनमें दूसरी और तीसरी प्रकार की लिपि, गुप्त लिपि के आधार पर, स्थानीय भाषाओं को लिखने के लिए बनायी गयी थी।

मध्य-एशिया की तिर्छी गुप्त लिपि में लिखे हुए हस्तलेखों का अध्ययन आरेल स्टाइन ने प्रकाशित किया है। डा० हर्नले ने भी १८६३ में इनमें से कुछ हस्तलेखों को प्रकाशित किया था। इन्हें पढ़ने का काम किया जर्मन विद्वान लेउमान ने। जापानी विद्वान डा० वतनाबे ने इन हस्तलेखों को पढ़ने में लेउमान की सहायता की थी।

इन हस्तलेखों को पढ़ने से चीनी तुर्किस्तान की तत्कालीन भाषा के बारे में विशेष जानकारी मिली है। इन हस्तलेखों के अध्ययन से पता चला है कि उस समय मध्य-एशिया (तरिम उपत्यका) में तुखारी भाषा की दो बोलियां प्रचलित थीं। सबसे अद्भुत बात तो यह है कि, ये बोलियां, ईरानी और संस्कृत की तरह भारत-ईरानी भाषा परिवार की न होकर, यूरोप की भाषाओं की तरह केन्तुम् भाषा-परिवार की हैं! ईसा की आरंभिक शताब्दियों में मध्य-एशिया में 'शतम् के समुद्र में केन्तुम् का यह द्वीप' भाषाशास्त्रियों को सचमुच ही विलक्षण लगा। इस चिरविलुप्त तुखारी भाषा में बहुत-से ग्रन्थ मिले हैं।

हस्तलेखों के अध्ययन से तुखारी भाषा की जिन दो बोलियों का पता चला, उन्हें तुखारी बोली (अ) और तुखारी बोली (ब) का नाम दिया गया था। बाद के अध्ययन से पता चला कि तुखारी (ब) प्राचीन कूचा राज्य की भाषा थी, इसलिए अब तुखारी (ब) को "कूची भाषा" भी कहते हैं। आगे के अध्ययनों से यह भी पता चला

कि तुखारी (अ) का स्थानीय नाम 'आर्शी' था। प्रो० बेली ने इस बोली को 'अग्नि-भाषा' का नाम दिया है, क्योंकि यह अग्निदेश की भाषा थी।

पहले हम बतला ही चुके हैं कि इन तुखारी भाषाओं के लिए गुप्त लिपि के आधार पर एक नयी शैली की तिर्छी लिपि का जन्म हुआ। तुखारी भाषा की अपनी विशेष ध्वनियों के अनुरूप गुप्त लिपि के कुछ अक्षरों को त्याग दिया गया और स्थानीय ध्वनियों के अनुरूप कुछ नये अक्षरों को गढ़ लिया गया।

खोतनी भाषा की लिपि घसीटी गुप्त लिपि जैसी दिखायी देती है। तरिम के दक्षिण में खोतन का प्रसिद्ध नगर है। यह शब्द संस्कृत के 'कुस्तन' से बना हो सकता है, और ईरानी के 'ख्वतन' (स्वतन) शब्द से भी। तिब्बती परम्पराओं से पता चलता है कि तीसरी शताब्दी में खोतन के राजा विजयसंभव के राजगुरु आर्यवैरोचन ने ब्राह्मी लिपि के आधार पर खोतनी भाषा के लिए एक लिपि तैयार की थी। खोतन से जो हस्तलेख मिले हैं वे कुछ बाद के हैं, परन्तु अन्य प्रमाणों से ज्ञात होता है कि तीसरी शताब्दी में खोतन में भारतीय लिपि का व्यवहार होता था। जर्मन विद्वान लेउमान ने खोतनी भाषा को 'उत्तरी आर्यभाषा' का नाम दिया; फ्रेंच विद्वानों ने इसे 'पूर्वी ईरानी' का नाम दिया। कुछ अन्य विद्वानों ने, जिनमें कोनोव और लेउदेर प्रमुख हैं, इसे 'शक भाषा' का नाम दिया है। खोतनी भाषा आर्य परिवार की होने पर भी इसके व्यंजनों के उच्चारण कुछ भिन्न हैं। इसलिए जो लिपि बनायी गयी उसमें इन नयी ध्वनियों के अनुरूप परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। हर्नले जैसे विद्वानों का मत है कि इस लिपि पर खरोष्ठी लिपि का भी काफी प्रभाव दिखायी देता है।

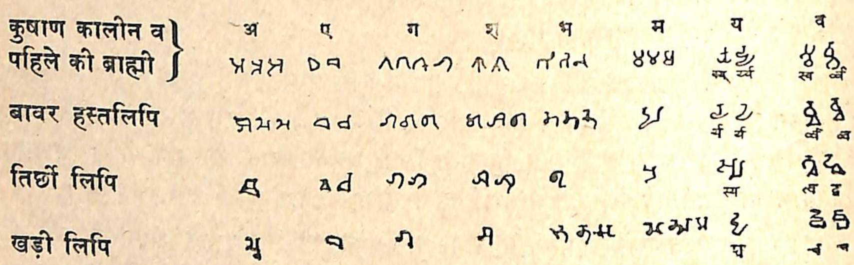

मध्य एशिया की ब्राह्मी लिपि के कुछ अक्षरों का विकास
(एफ० डब्ल्यू० थॉमस के आधार पर)

पूर्वी चीनी तुर्किस्तान से इस घसीटी गुप्त लिपि में लिखे हुए बहुत-से हस्तलेख मिले हैं। इनमें से एक हस्तलेख में ११०८ पंक्तियां हैं।

मध्य-एशिया की घसीटी गुप्त लिपि में लिखा हुआ एक चीनी भाषा का भी हस्तलेख मिला है। एफ० डब्ल्यू० थॉमस ने १९३७ में "ब्राह्मी लिपि में एक बौद्ध चीनी हस्तलेख" शीर्षक से एक जर्मन पत्रिका में एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने कहा था कि 'घसीटी गुप्त लिपि में लिखा हुआ ९३ पंक्तियों का यह हस्तलेख खोतनी नहीं, बल्कि चीनी भाषा में लिखा हुआ जान पड़ता है। इसकी लिपि शक-खोतनी हस्तलेखों में प्रयुक्त घसीटी गुप्त लिपि है और यह हस्तलेख ८वीं-९वीं शताब्दी का है।'

तिब्बत

ईसवी सन् की आरम्भिक शताब्दियों में बौद्धधर्म मध्य-एशिया से होता हुआ चीन तक पहुंच गया था। चौथी शताब्दी में वह कोरिया और छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में जापान भी पहुंच गया था। लेकिन हमारे पड़ोसी देश तिब्बत में उसका प्रवेश ६४० ई० के पहले नहीं हो सका। इसका एक कारण यह है कि तिब्बत हिमालय की दुर्गम पर्वत-शृंखलाओं से घिरा हुआ है; दूसरे, तिब्बत का सांस्कृतिक जीवन बहुत ही पिछड़ा हुआ था। ७वीं शताब्दी के पहले तिब्बत के लोग घुमन्तू कबीलों में बंटे हुए थे और उन पर किसी एक शक्तिशाली राजा का शासन नहीं था। भारत में जब हर्षवर्धन का शासन आरम्भ हुआ और जब उसी समय चीनी पर्यटक युवान्-चाङ भारत में पहुंचा, तब भी तिब्बती लोग घुमन्तू जीवन ही बिता रहे थे।

लेकिन यह स्थिति अधिक दिनों तक कायम नहीं रही। ब्रह्मपुत्र (चङ-पो) नदी की उपत्यका के ल्होखा-प्रदेश में ६१५ ई० में एक सामन्त परिवार में तिब्बत के भावी राजा स्रोङ-चन् का जन्म हुआ। बाप के मरने पर उसने तिब्बत के विभिन्न कबीलों का एकीकरण करके एक बड़ी सेना तैयार की। इस संगठित सेना के बल पर उसने पश्चिम में कश्मीर से लेकर पूर्व में चीनी राज्य की सीमा तक अपने राज्य का विस्तार किया। उसने अपने विशाल राज्य के लिए एक राजधानी भी बनायी। पहले यह रा-सा (अजभूमि) कहलाती थी, लेकिन स्रोङ-चन् ने इसे ल्हासा (देवभूमि) बना दिया। स्रोङ-चन् की इतनी धाक थी कि, नेपाल के शासक अंशुवर्मा ने अपनी पुत्री भृकुटी देवी (ख्री-चुन्) उसे ब्याह दी। उधर चीन के सम्राट ने भी अपनी पुत्री कोङ्-जो उसके पास भेज दी। चीनी राजकुमारी अपने साथ दहेज में बुद्ध की एक प्रतिमा लायी थी। स्रोङ-चन् ने इन दोनों राजकुमारियों के लिए ल्हासा में बौद्ध-मन्दिर बनवाये। यही तिब्बत में बौद्ध-धर्म का आरम्भिक प्रवेश था। बाद में तो यह राजधर्म बन गया और जनता ने भी इसे अपना लिया।

अब स्रोङ-चन् को राजकाज के लिए एक लिपि की आवश्यकता प्रतीत हुई। उसने भोट भाषा के लिए एक लिपि बनाने का काम अपने मंत्री थोन-निवासी (थोन्मी) सम्भोटा को सौंपा। एक परम्परा से ज्ञात होता है कि थोन्मी संभोटा भारतीय लिपि के अध्ययन के लिए भारत भी आया था। लेकिन इसके लिए कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता। तिब्बत के उत्तर में तिब्बतियों के भाई-बन्द तंगुत् लोग भारतीय लिपि में और बौद्धधर्म में उनसे पहले ही दीक्षित हो चुके थे। इसलिए सम्भव यही जान पड़ता है कि, संभोटा ने तरिम उपत्यका में व्यवहृत भारतीय लिपि के आधार पर ही तिब्बती भाषा के लिए नयी लिपि बनायी होगी। फ्रांके और रुडोल्फ हर्नले का भी यही मत है कि, खोतन में प्रचलित लिपि के आधार पर तिब्बती लिपि का निर्माण हुआ है। राहुलजी ने लिखा है कि, "थोन्मी ने तत्कालीन उत्तर भारतीय लिपि और मध्य-एशिया में भी प्रचलित भारतीय लिपि से भोट भाषा के लिए लिपि बनायी।"

तिब्बती भाषा तिब्बती-चीनी और तिब्बती-बर्मी भाषा-परिवारों से सम्बन्धित है। 'घ', 'झ', 'ढ', 'ध', 'भ' और 'ष' इन छह अक्षरों के उच्चारण भोट भाषा में नहीं हैं, इसलिए थोन्मी ने इनको छोड़ दिया। परन्तु भोट भाषा में 'च', 'छ', 'ज़' 'स' जैसे कुछ अक्षरों के अपने भिन्न उच्चारण हैं, इसलिए इनके लिए नये अक्षरों का निर्माण किया

गया। तिब्बती भाषा के अक्षर दो प्रकार के हैं: साहित्यिक लिपि 'उ-चान्' अर्थात् 'शिरोरेखा-युक्त' कहलाती है और पुस्तकों की सुन्दर लिखायी एवं मुद्रण के लिए इसी लिपि का इस्तेमाल होता है। दूसरे प्रकार की लिपि 'उ-मेद्', अर्थात् 'शिरोरेखा-विहीन' कहलाती है और इस घसीट लिपि का इस्तेमाल दैनन्दिन जीवन के कामकाजों में होता है। राहुलजी का मत है कि, "शिरोरेखा-विहीन लिपि तंगुत् लोगों में पहिले ही से प्रचलित थी, इसलिए शिरोरेखा-युक्त ही थोन्मी और स्रोङ-चन् की देन है।"

		ཨི་	ཨུ་	ཨེ་	ཨོ་		
		इ	उ	ए	ओ		
ཀ་	ཁ་	ག་	ང་	ཅ་	ཆ་	ཇ་	ཉ་
क	ख	ग	ङ	च	छ	ज	ञ
ཏ་	ཐ་	ད་	ན་	པ་	ཕ་	བ་	མ་
त	थ	द	न	प	फ	ब	म
ཙ་	ཚ་	ཛ་	ཝ་	ཞ་	ཟ་	འ་	ཡ་
च	छ	ज़	व	ज	ज़	अ	य
ར་	ལ་	ཤ་	ས་	ཧ་	ཨ་		
र	ल	श	स	ह	अ		

वर्तमान भोट (तिब्बती) लिपि के मुद्रणाक्षर

इस लिपि में चार स्वर (आलि) हैं--'इ', 'उ', 'ए' 'ओ'--जो ह्रस्व लिखे जाते हैं, किन्तु इनका उच्चारण डेढ़ मात्रा के बराबर होता है। व्यंजनवर्ण (कालि) तीस हैं। भोट भाषा में 'अ' के दोनों संकेत व्यंजन माने जाते हैं और इनका उच्चारण भी डेढ़ मात्रा के बराबर होता है। इनमें अंतिम 'अ' का उच्चारण 'अ' और 'ह' का मध्यवर्ती होता है।

थोन्मी ने, न केवल तिब्बती भाषा के लिए एक लिपि का निर्माण किया, बल्कि तिब्बती भाषा का पहला व्याकरण बनानेवाला भी वही था। यह व्याकरण आज भी विद्यमान है, और अब इसका हिन्दी भाषा में भी अनुवाद हो चुका है, (देखिये, के० अंगरूप लाहुली, संभोट व्याकरण, लाहुल)। कहते हैं कि स्रोङ-चन् ने चार साल तक एक गुफा में रहकर थोन्मी द्वारा बनायी गयी लिपि और व्याकरण का अध्ययन किया था।

कालान्तर में भारतीय पंडितों की मदद से बहुत-से भारतीय ग्रंथों का तिब्बती भाषा में अनुवाद हुआ। इनमें कुछ ऐसे भी ग्रन्थ मिलते हैं जो आज भारत में उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु इनके तिब्बती अनुवाद उपलब्ध हैं। राहुल सांकृत्यायन जैसे पुराविदों ने तिब्बत की यात्राएं करके ऐसे बहुत-से ग्रन्थों को खोज निकाला है।

तिब्बत के धर्माचार्यों ने ही मंगोलिया में बौद्धधर्म का प्रचार किया था। कुबिले खान ने तिब्बत के प्रसिद्ध सा-स्क्य विहार के फग्स-पा (१२३४-७६ ई०) को चीन बुलाया

था और उसे कूवो-सी (राजगुरु) की उपाधि से विभूषित किया था। उसने तिब्बती लिपि के आधार पर मंगोल भाषा के लिए एक लिपि भी बनायी थी। लेकिन यह लिपि अधिक दिनों तक नहीं चली। इसमें केवल कुछ अभिलेख और आज्ञापत्र ही लिखे गये।

सिक्किम में रहने वाले लेप्चा लोगों की लिपि भी तिब्बती लिपि के आधार पर बनायी गयी थी।

बर्मा

हमारे प्राचीन साहित्य में बर्मा के लिए 'सुवर्णभूमि' नाम मिलता है। अशोक ने धर्मदूत सोण और उत्तर को २५३ ई०पू० में सुवर्णभूमि में धर्म-प्रचार के लिए भेजा था। बुद्ध के समय से ही सुवर्णभूमि के साथ हमारे देश के वाणिज्य सम्बन्ध रहे हैं। लेकिन बर्मा में हमें बहुत प्राचीन पुरातत्व सामग्री नहीं मिलती। इसका प्रमुख कारण यह है कि वहां समय-समय पर अनेक जातियों का शासन रहा है। यही कारण है कि आज के बर्मा में हम कई जातियों का मिश्रण देखते हैं। वहां भाषाओं की तो खिचड़ी ही देखते हैं। भाषा शास्त्रज्ञ बताते हैं कि बर्मा में सौ के लगभग बोलियों का अस्तित्व है। ये सारी बोलियां प्रमुखतः तीन भाषा-परिवारों में रखी जा सकती हैं: (१) तिब्बती-चीनी परिवार, जिसके अन्तर्गत बर्मी भाषा भी है, (२) ऑस्ट्रिक-एशियाई परिवार, जिसके अन्तर्गत मोन्-ख्मेर भाषाएं भी हैं, और (३) मलय-पोलिनेसी भाषाएं। बर्मा में बर्मी-भाषियों का आगमन एवं प्रभुत्व १००० ई० के बाद हुआ। बर्मा शब्द 'म्रम्म' शब्द से बना है, जो इस जाति का नाम था। इस म्रम्म (बर्मी) जाति के आगमन के पहले दक्षिण बर्मा के इरावदी (अचिरावती) कांठे में तलैङ लोग बसे हुए थे। ये मोन्-ख्मेर जाति के लोग थे। किसी समय मोन्-ख्मेर जाति के लोग असम से लेकर हिन्द-चीन तक फैले हुए थे, और आज भी हैं। तलैङो के पहले दक्षिण बर्मा में बसी हुई प्यू जाति भी मोन्-ख्मेर परिवार की थी। इसी प्यू जाति को पहले-पहल हम भारतीय संस्कृति को अपनाते हुए देखते हैं।

बर्मा में सबसे पहले इसी प्यू जाति में हम बौद्धधर्म का प्रचार देखते हैं। एक फ्रेंच पुरातत्ववेत्ता ने वर्तमान शताब्दी के तीसरे दशक में वर्तमान प्रोम नगर से पांच मील दक्षिण में प्यू लोगों की पुरानी राजधानी श्रीक्षेत्र के ध्वंसावशेष ह्मावज़ा में खोज निकाले हैं। प्यू शासनकाल के बहुत-से अभिलेख मिले हैं। इनमें से कुछ पालि भाषा में हैं, कुछ प्यू भाषा में और कुछ इन दोनों भाषाओं के द्वैभाषिक लेख हैं। कुछ लेख संस्कृत भाषा में भी हैं। ह्मावज़ा के पास के मौङ-गन् गांव से दो स्वर्णपत्र मिले हैं, जिनपर पालि भाषा में बुद्ध-वचन उत्कीर्ण हैं। इनकी लिपि दक्षिण भारत की पांचवीं शताब्दी की कदंबों की लिपि से मिलती है। इन स्वर्णपत्रों पर पालि भाषा के लेख हैं:

(पत्र १): ये धम्मा हेतुप्रभवा तेसं हेतुं तथागतो आह।
तेसञ्च यो निरोधो एवंवादी महासमणो ति।
चत्वारो इद्धिपादा चत्वारो सम्मप्पधाना...

(पत्र २): ये धम्मा हेतुप्रभवा (ते)सं हेतु तथागतो आह।
तेसञ्च यो निरोधो एवंवादी महासमणो ति
इति पि सो भगवा अरहं सम्मासंबुद्धो विज्जाचरणसंपन्नो सुगतो...

ह्मावज़ा (प्रोम) से १९१०–११ में एक शिलालेख के कुछ खण्ड मिले हैं। इसी स्थान से १९२६–२८ में छठी शताब्दी का एक स्तूप मिला है और पाली-प्यू भाषाओं का

एक द्वैभाषिक लेख भी। यहीं से बीस स्वर्णपत्रों की एक पोथी मिली है, जिसपर आन्ध्र-पल्लवों की छठी शताब्दी की लिपि में बुद्ध-वचन उत्कीर्ण हैं। अगले वर्ष १९२७–२८ में यहां से स्वर्णपत्र पर और एक लेख मिला और बुद्ध की एक कांस्य-मूर्ति पर गुप्त लिपि में लेख मिला।

द्वैभाषिक लेखों के कारण भाषाशास्त्रियों ने प्यू लेखों को पढ़ने का भी प्रयत्न किया है। प्रो० ब्लाग्देन् ने प्यू लेखो के अन्वेषण में विशेष काम किया है। प्यू लिपि भी भारतीय अक्षरों से बनी थी, परन्तु इनके ध्वनिमानों में कुछ फेर-बदल किया गया था। ब्लाग्देन् का तो मत था कि, प्यू लोगों ने ईसा की चौथी शताब्दी में अपनी भाषा के लिए भारतीय लिपि को अपनाया था; किन्तु जो प्यू लेख हमें मिले हैं, वे छठी शताब्दी के पहले के नहीं जान पड़ते। प्यू भाषा के बारे में अभी बहुत ही कम बातें मालूम हो पायी हैं।

प्यू की तरह दक्षिण बर्मा में तलैङ जाति का भी निवास था। इनकी भाषा बर्मी की तरह चीनी-तिब्बती परिवार की नहीं, बल्कि मोन्-ख्मेर भाषा परिवार की है। आज भी बर्मा के गांवों में यह भाषा बोली जाती है। ११वीं शताब्दी के पहले तलैङ जाति काफी विकास कर चुकी थी और बौद्धधर्म को स्वीकार कर चुकी थी। थातोन् (सुधर्मावती) और पेगू (हंसावती) तलैङों के प्रसिद्ध सांस्कृतिक नगर-केन्द्र थे। वस्तुतः तलैङ लोगों से ही बाद के आनेवाले म्रम्म (बर्मी) लोगों ने सभ्यता और संस्कृति के पाठ पढ़े। परन्तु आरम्भ में इन नवागत बर्मियों ने तलैङों को बेदर्दी से कुचला था, इसीलिए आज हमें तलैङों के बारे में अधिक ऐतिहासिक जानकारी नहीं मिलती।

ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में तिब्बती-म्रम्म जाति के बर्मी लोग उत्तरी बर्मा में रहते थे। उस समय पगान (अरिमर्दनपुर) में धर्म-प्रेमी अनुरुद्ध (अनवरहत्) बर्मी राजा का राज्य था। एक तलैङ भिक्षु शिन्-अर्हन् के प्रयासों से अनुरुद्ध ने बौद्धधर्म को राजधर्म बना दिया। त्रिपिटक बड़े ठाट-बाट से तलैङ-देश से म्रम्म-देश में लाये गये। बर्मियों ने तलैङों को तो कुचल दिया था, परन्तु उन्होंने तलैङों की उच्च संस्कृति को सम्मान के साथ स्वीकार किया। इस काल के बारे में फ्रेंच विद्वान दुरोसेल ने लिखा है:

"युद्धक्षेत्र में विजयी बर्मी बौद्धिक स्तर पर पराजित हो गये। इस समय से अद्भुत वास्तुविद्या और साहित्य का सृजन होने लगा। पगान बौद्ध राजधानी बन गयी। उत्तरी और उत्तर-पूर्वी भारत के प्रायः तीन शताब्दियों के पड़ते प्रभावों ने धीरे-धीरे बर्मी लोगों को इस योग्य बना दिया कि राजा अनुरुद्ध की विजय से प्राप्त तलैङ सभ्यता को अपना सके। उसी समय से बर्मी स्वरों और पत्थर तथा ईंटों के अभिलेखों के लिए विदेशी वर्णमाला से साधारण बर्मी वर्णमाला तैयार की गयी।.... इस नयी वर्णमाला में त्रिपिटक लेखबद्ध हुआ। बर्मी राजधानी पगान में धार्मिक शिक्षा के लिए संस्कृत को हटा पालि ने स्थान लिया। तलैङ भिक्षुओं के चरणों में बैठकर बर्मी जनता और राजदरबार ने हीनयान की शिक्षा ली और जल्दी-जल्दी एक के बाद एक अतिभव्य विहार और मन्दिर भारतीय तथा तलैङ शिल्पाचार्यों के तत्वावधान में बनने लगे।"

इसके बाद तो बर्मी काल के बहुत सारे अभिलेख मिलते हैं। उन सबका विवेचन इस पुस्तक की सीमा में सम्भव नहीं है। फिर भी, काफी अर्वाचीन एक अद्भुत महालेख की चर्चा करना अप्रासंगिक नहीं होगा। बर्मी राजा मिन्-दोन्-मिन् (१८५२–७७ ई०)

ने तीन वर्षों (१८६८-७१) तक भिक्षुओं के संघ को अपने ही सभापतित्व में एकत्रित करके त्रिपिटक की एक-एक पंक्ति को पढ़ते-पढ़ाते हुए इस महाग्रन्थ का एक शुद्ध-उच्चारण-युक्त संस्करण तैयार करवाया था। इसके बाद उसने इस सारे त्रिपिटक को संगमर्मर की शिलाओं पर अंकित करवाया। सारा त्रिपिटक आज भी ७२९ संगमर्मर-शिलाओं पर मांडले के पास कुथो-दाच् विहार के प्रांगण में देखा जा सकता है।

स्याम (थाई-भूमि)

थाई लोग पहले युन्-नन् (चीन) प्रदेश में रहते थे। चीनियों से सतत संघर्ष करते रहने और अन्त में मंगोलों द्वारा खदेड़ दिये जाने के कारण १३वीं शताब्दी में ये दक्षिण की ओर शान् राज्यों और मेकाङ की उपत्यका में आकर बस गये। इन्हीं में से एक शाखा असम पहुंची थी। स्याम (श्याम) शान शब्द से व्युत्पन्न है। शान शब्द से ही हानहाम > अहोम > अहाम > असाम > असम शब्द बना है।

थाई लोगों के आगमन के पहले थाई भूमि में कम्बुजों का राज्य था। इस कम्बुज-युग के स्याम से तीन शिलालेख मिले हैं। इनमें से एक प्रा-पथोम् अभिलेख मोन् भाषा में है। यह लेख ७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध की भारतीय लिपि में है। शेष दो अभिलेख---श्रीदेव और वात्-महेयाङ अभिलेख--संस्कृत भाषा में हैं। श्रीदेव अभिलेख पल्लव-लिपि में है और इसके अक्षरों के अध्ययन के आधार पर इसे छठी शताब्दी के पूर्वार्ध का माना गया है। वात्-महेयाङ अभिलेख की लिपि कुछ कलात्मक है और अक्षरों के स्वरूप के आधार पर इसका काल ७वीं शताब्दी का पूर्वार्ध निर्धारित किया गया है।

कम्बुज की ओर से नियुक्त एक थाई सरदार ने १२१८ ई० में सुखोदया में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। यही प्रथम थाई राजा इन्द्रादित्य था। इन्द्रादित्य के बाद उसका तीसरा पुत्र फ्राः राम (खम्हेङ) राजा बना। इसी राम-खम्हेङ राजा का शकाब्द १२१४ (१२९२ ई०) का स्यामी भाषा का एक महत्त्वपूर्ण शिलालेख मिला है। एक सूच्याकार प्रस्तर-स्तम्भ पर अंकित इस लेख में १५०० शब्द हैं। इस शिलालेख का महत्त्व इसलिए भी है कि इसमें वर्तमान स्यामी लिपि के आरम्भ के बारे में हमें जानकारी मिलती है। इसी शिलालेख में लिखा है कि, "पहले स्यामी लिखने के लिए कोई अक्षर नहीं थे। संवत् १२०५ (१२८३ ई०) अजवर्ष में राजकुमार खुन-राम खम्हेङ के दिल में इच्छा हुई और उसने स्यामी लिपि के लिए अक्षर बनाये।" वर्तमान स्यामी लिपि का इसी तरह आरम्भ हुआ। यह स्यामी लिपि कम्बुज में प्रचलित लिपि की सहायता से बनायी गयी थी।

स्यामी भाषा एकाक्षरी है। चीनी भाषाओं की तरह स्यामी में भी सुरों का महत्व है। इसमें पांच-छह सुर पाये जाते हैं। वर्तमान स्यामी भाषा में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों की भरमार है। उदहारण के लिए, मौन्त्री (मंत्री), अमंच (अमात्य), छत्तखाहो (छत्रग्राह), छतन्थ (छद्दन्त), असुसव (अश्व), अक्खमहेसी (अग्रमहिषी), यम्मरात (यमराज), इत्यादि।

बैंकाक के राष्ट्रीय संग्रहालय में महेन्द्रवर्मन द्वारा खुदवाया हुआ एक शिलालेख है। चार पंक्तियों का यह शिलालेख सातवीं शताब्दी की पल्लव-ग्रंथ लिपि में है और इसकी भाषा संस्कृत है। यह शिलालेख बैंकाक से करीब ३५० किलोमीटर दूर स्याम के अरण्यप्रदेश जिले से प्राप्त हुआ था। डा० छाबरा ने अपने ग्रंथ में इस लेख का विवेचन

प्रस्तुत किया है। जिस समय का यह लेख है, उस समय स्याम पर कम्बुज के राजाओं का शासन था। इस कम्बुज राजवंश की स्थापना भववर्मन ने की थी। भवमर्मन के बाद उसका छोटा भाई चित्रसेन गद्दी पर बैठा। इसी चित्रसेन का दूसरा नाम था महेन्द्रवर्मन्। इस चित्रसेन-महेन्द्रवर्मन् के और भी लेख मिले हैं। स्पष्ट उल्लेख तो नहीं है, किन्तु मान लिया जा सकता है कि बैंकाक के राष्ट्रीय संग्रहालय वाला यह शिलालेख इसी कम्बुज राजा महेन्द्रवर्मन् ने खुदवाया था।

प्रस्तुत शिलालेख में 'शंकर-तटाक' नामक जलाशय के निर्माण का उल्लेख है। नीचे हम इस लेख को लिप्यंतर के साथ दे रहे हैं :

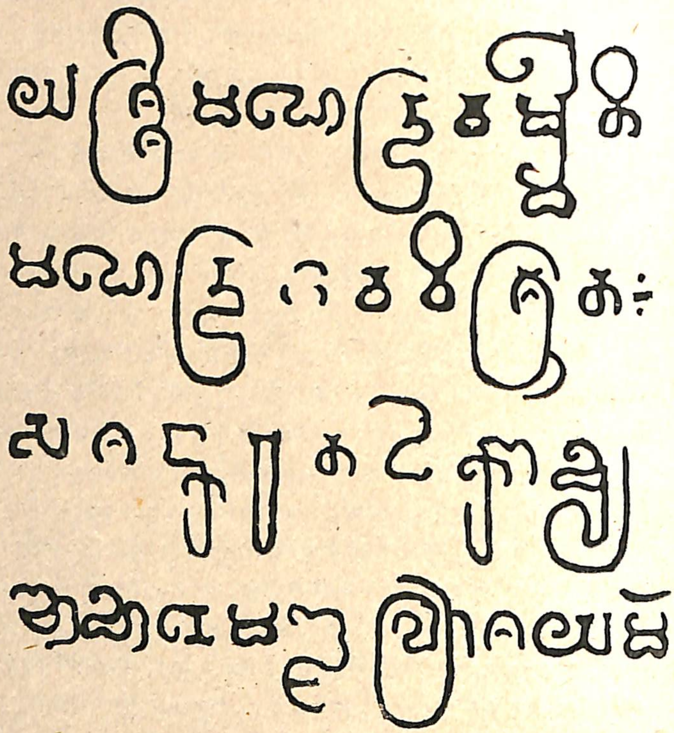

महेन्द्रवर्मन् का शिलालेख (राष्ट्रीय संग्रहालय, बैंकाक)

लिप्यंतर :

यशश्री महेन्द्रवर्म्मेति
महेन्द्र इव विश्रुतः
स शङ्करतटाकाख्या-
ञ्चखानेमञ्जलाशयम्

जावा

बौद्ध जातकों में भारतीय व्यापारियों के यवद्वीप जाने के उल्लेख मिलते हैं। 'जावा' शब्द 'यव' (जौ) शब्द से बना है। चीनी इतिहास-लेखकों के विवरणों से पता चलता है कि, ईसा की पहली शताब्दी में जावा में एक भारतीय राजा का राज्य था। जावा का पहला राजा अजि-शका पश्चिम भारत से जावा पहुंचा था। चीनी उल्लेखों से

दूसरी शताब्दी के तिया-वपि-येन (देववर्मा) राजा का उल्लेख मिलता है। किन्तु ५वीं शताब्दी से हम जावा के इतिहास की ठोस भूमि पर पहुंचते हैं। ४१४-१५ ई० में सिंहल से चीन जाते समय फा-शि-यान (फाहियान) जावा द्वीप में उतरा था। पांचवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हम कश्मीर के भिक्षु गुणवर्मा को जावा में बौद्धधर्म का प्रचार करते देखते हैं।

जावा के सबसे प्राचीन शिलालेख हमें पश्चिमी जावा में मिलते हैं। ये लेख राजा पूर्णवर्मा के हैं, जिसकी राजधानी तारुमा (आधुनिक बताविया) में थी। इस प्रदेश से पांच लेख मिले हैं, जिनमें से चार प्रकाशित हो चुके हैं। ये चार लेख हैं: चि-अरुतान, जम्बू, केबोन्-कोपी और तुगु शिलालेख। इनकी भाषा शुद्ध संस्कृत है और लिपि पांचवीं शताब्दी की पल्लव-लिपि से समानता रखती है। ये सभी लेख तारुम-राजा पूर्णवर्मा के हैं। इन चार शिलालेखों में चि-अरुतान, जम्बू और केबोन्-कोपी के लेखों के अक्षरों के सिरे ठोस चौखटों वाले हैं, परन्तु तुगु लेख के अक्षरों के सिरों पर केवल लकीरें पायी जाती हैं। इन शिलालेखों में संवत् दिया हुआ नहीं है। इसलिए अक्षरों के आधार पर ही इनका समय निर्धारित किया जा सकता है। कुछ पुराविद इन लेखों को चौथी शताब्दी का भी मानते हैं, और कुछ (दानी) इन्हें छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में रखते हैं।

चि-अरुतान शिलालेख के साथ राजा पूर्णवर्मा के पदचिह्न भी खुदे हुए हैं।

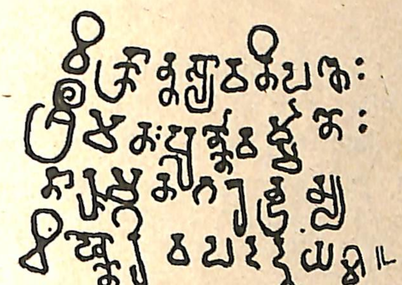

जावा के राजा पूर्णवर्मा का चि-अरुतान शिलालेख (पांचवीं शताब्दी ई०)

लिप्यन्तर :

विक्क्रान्तस्यावनिपतेः
श्रीमतः पूर्ण्णवर्म्मणः
तारूमनगरेन्द्रस्य
विष्णोरिव पदद्वयम् ॥

पूर्णवर्मा के उपर्युक्त चि-अरुतान लेख के पास ही, उसी शिला पर, दो पैरों के निशान खुदे हुए हैं। उसके जम्बू लेख में भी इसी प्रकार पैरों के निशान खुदे हुए हैं। किस के पैरों के हैं ये निशान? कुछ पुराविदों का कहना है कि ये निशान खुद पूर्णवर्मा के पैरों के हैं, और कुछ पुराविदों की मान्यता है कि ये निशान विष्णु के पैरों के द्योतक हैं। पूर्णवर्मा के केबोन्-कोपी लेख में हाथी के पैरों के निशान खुदे हुए हैं।

पूर्णवर्मा के चि-अरुतान लेख के पास उपर्युक्त पादों के सामने, लेख के ऊपर, बहुत ही कलात्मक अक्षरों में पूर्णवर्मा के हस्ताक्षर भी खुदे हुए हैं। डा० जायसवाल का

दृढ़ मत था कि ये पूर्णवर्मा के ही हस्ताक्षर हैं। इस हस्ताक्षर को देखकर हमें हर्षवर्धन के खूबसूरत हस्ताक्षरों की याद आती है। इस प्रकार के कलात्मक शंखाकार अक्षर पल्लव शासकों के कांचीपुरम् के कैलासनाथ मन्दिर के विरुदों में भी मिलते हैं। राजीम के राजीवलोचन मन्दिर के एक स्तम्भ पर भी इसी प्रकार के कलात्मक अक्षरों में "श्री पूर्णादित्य" का नाम खुदा हुआ है।

पूर्णवर्मा के चि-अरुतान शिलालेख के पास उत्कीर्ण उसके हस्ताक्षर

सातवीं शताब्दी में मध्य जावा में कलिंग राज्य का उदय होता है। इसी राज्य के समय में देअोङ के मन्दिर बनाये गये थे। कलिंग राज्य के पूर्व में जंगल राज्य था। यहीं से सबसे प्राचीन संवत्सरांकित लेख मिला है। यह शकाब्द ६५४ (७३२ ई०) का है। इसकी लिपि पल्लवों की आरम्भिक ग्रन्थ लिपि से मिलती-जुलती है। इसमें लिखा है कि कुंजरकुञ्ज (दक्षिण भारत) के मन्दिर की अनुकृति पर एक शैव-मन्दिर का पुनर्निर्माण किया गया।

आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से जावा पर श्रीविजय (पलैम्बङ, सुमात्रा) के प्रसिद्ध राजा शैलेन्द्र का शासन आरम्भ होता है। शैलेन्द्र का एक ताम्रपत्र नालन्दा की खुदाई में मिला है, जिससे उसके बारे में बहुत-सी बातों की जानकारी मिलती है। आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक शैलेन्द्र राजवंश का शासन, न केवल इन्डोनेशिया, बल्कि हिन्द-चीन पर भी रहा है। बरोबुडूर का महाचैत्य शैलेन्द्रों की ही कृति है, लेकिन इसका कोई लिखित प्रमाण नहीं मिलता। शैलेन्द्र-वंश के बहुत-से शिलालेख भी मिलते हैं। इतना होने पर भी इस गौरवशाली राजवंश के बारे में अब भी बहुत-सी बातें विवादास्पद हैं। अब भी हम ठीक-ठीक नहीं जानते कि सुवर्णभूमि में इस वंश का प्रादुर्भाव कैसे हुआ, और यह कहां से वहां पहुंचा।

आठवीं शताब्दी तक जावा में संस्कृत भाषा का प्रचलन था, किन्तु उसके बाद जावा की अपनी भाषा साहित्यिक क्षेत्र में पैर रखती है। इस भाषा को प्राचीन जावी या "कवि" भाषा का नाम दिया गया है। कविता की भाषा या कवियों द्वारा अपनायी भाषा होने के कारण ही इसका यह नाम पड़ा है। कवि लिपि (संस्कृत भाषा) का सबसे प्राचीन लेख दिनय (पूर्वी जावा) से मिला है और यह शकाब्द ६८२ (७६० ई०)

का है। इस लेख की लिपि (कवि लिपि) ८वीं शताब्दी के गुजरात के लेखों से मिलती है। १०वीं-११वीं शताब्दी में रामायण, भारतयुद्ध आदि भारतीय कथानकों का कवि भाषा में अनुवाद हो चुका था। कवि भाषा का सबसे प्राचीन अभिलेख परंबन उपत्यका में चण्डीकलसन् (कलसन-मन्दिर) में मिला है। यह शिलालेख राजा शैलेन्द्र का है और ७७० ई० का है। इस लेख की लिपि भारत की ९वीं-१०वीं शताब्दी की नागरी लिपि से मिलती है। मध्य जावा के पारेङ स्थान से संस्कृत भाषा और कवि लिपि में लिखा हुआ शकाब्द ७८५ (८६२ ई०) का और एक शिलालेख मिला है।

दसवीं शताब्दी में मध्य जावा का शासन-केन्द्र पूर्वी जावा में पहुंचता है। ११वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में वहां एरलाङ नाम का एक प्रतापी राजा हुआ। इस राजा के शासन में जावा में कला और साहित्य के क्षेत्र में काफी उन्नति हुई। राजा एरलाङ का एक शिलालेख पेनाङ-गुंगेङ स्थान से मिला है। यह शकाब्द ९६३ (१०४१ ई०) का है और कवि तथा संस्कृत दोनों ही भाषाओं में है।

इसके बाद जावा पर कदिरी राज्य (१०४२-१२२२ ई०), सिंहसारि राजवंश (१२२२-९२ ई०) और महपहित राजवंश (१२९२-१४७८) ई० का शासन रहा। इन लगभग चार सौ वर्षों के जावा में बहुत-से लेख मिलते हैं, जो अधिकतर कवि भाषा में हैं। अन्तिम कवि लेख शकाब्द १४०८ (१४८६ ई०) का मिलता है। इसी समय के आसपास जावा में भारतीय वंश के शासकों का राज्य समाप्त होता है। इसके बाद जावा पर मुसलमानी शासन आरम्भ होता है।

जावा में अब रोमन लिपि का काफी प्रचार है, किन्तु जावी लिपि, जो कि प्राचीन लेखों की लिपि से विकसित हुई है, अभी भी जावी, सुन्दानी, मदुरी तथा बाली भाषाओं के लिए इस्तेमाल होती है। आधुनिक जावी लिपि में २० 'अक्षर' (व्यंजन) हैं और ५ स्वराक्षर। ये २५ संकेत 'अक्षर-जावा' कहे जाते हैं। इनले अलावा २० अतिरिक्त पसङ-आन अक्षरों का भी इस्तेमाल होता है। अक्षर-जावा को स्वर-उच्चारण-रहित बनाने के लिए ही उन अक्षरों के साथ इन पसङ-आन अक्षरों का इस्तेमाल होता है। यह जावी लिपि नागरी की तरह बायीं ओर से दायीं ओर को लिखी जाती है। प्रत्येक अक्षर स्पष्ट लिखा जाता है और शब्दों के बीच प्रायः अन्तर नहीं रहता। बाली द्वीप में अब भी कुछ लोग ताडपत्रों पर लोहे की कील (कलम) से लिखते हैं। स्पष्टतः यह दक्षिण भारत की लेखन-पद्धति का ही प्रभाव है।

मलयद्वीप

परम्परा से ज्ञात होता है कि ईसा के पहले ही मलयद्वीप के साथ भारत के सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे। स्थानीय आख्यानों से पता चलता है कि ई०पू० तीसरी शताब्दी में पाटलिपुत्र का एक राजकुमार, जिसे मलयवासी मरोङ नाम देते हैं, मलय या सुवर्णभूमि में आया था। मरोङ ने मलयद्वीप में अपनी एक बस्ती कायम की थी और उसने वहां एक पाठशाला खोलकर लोगों को पढ़ना-लिखना सिखाया था।

अशोक ने धर्मप्रचारार्थ विभिन्न देशों में जो धर्मदूत भेजे थे, उनमें से सोण और उत्तर नाम के प्रचारक सुवर्णभूमि को गये थे, इस बात की जानकारी बौद्ध-ग्रन्थों से मिलती है।

पांचवीं शताब्दी से हमें मलाया में भारतीयों के अस्तित्व के बारे में लिखित प्रमाण मिलने लग जाते हैं। मलाया के प्राचीन स्थानों में कामलंका या कर्मरंग (कमरंगा-

फल), कलशपुर तथा कला (केद्दा) विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। केद्दा से पांचवीं शताब्दी के संस्कृत भाषा में लिखे हुए बहुत-से लेख मिले हैं। केद्दा के पास ही पांचवीं शताब्दी के एक बौद्ध-मन्दिर के अवशेष मिले हैं। इन अवशेषों में संस्कृत का एक शिलालेख भी मिला है। वेल्ज़ेली जिले के उत्तर में भी कुछ बौद्ध-मन्दिरों के अवशेष मिले हैं। इनके पाषाण-स्तम्भों पर जो लेख मिले हैं उनकी लिपि पांचवीं शताब्दी की जान पड़ती है। कंबोडिया से कुछ अक्षरांकित मुद्राएं मिली हैं, जो पांचवीं शताब्दी के अक्षरों में हैं। उसी प्रकार की एक मुद्रा या मुहर मलाया के शैलिनसिङ स्थान से भी मिली है। इस मुद्रा पर पांचवीं शताब्दी की लिपि में विष्णुवर्मा का नाम लिखा हुआ है ("श्री विष्णुवर्म्मस्य")।

उत्तरी मलाया के पश्चिमी तट पर तकुआ-पा ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। पूर्वी तट पर भी बंदोन की खाड़ी के पास बहुत पुराने उप-निवेशिकों की बहुत-सी बस्तियां थीं। यहां से संस्कृत में लिखे हुए काफी शिलालेख मिले हैं। इनकी लिपि पांचवीं शताब्दी की गुप्त लिपि से मिलती है। इन्हीं लेखों में महानाविक बुद्धगुप्त का भी एक लेख मिला है: "महानाविक बुद्धगुप्तस्य रक्तमृत्तिका वास् (तव्यस्य)"। बुद्धगुप्त का यह रक्तमृत्तिका निवास-स्थान आज भी मुर्शिदाबाद जिले (बंगाल) में रांगामाटी नामक गांव के रूप में विद्यमान है। इस लेख की लिपि जावा के राजा पूर्णवर्मा के पांचवीं शताब्दी के लेखों से मिलती है।

महानाविक बुद्धगुप्त का लेख

मलयद्वीप से प्राप्त थोड़े से लेखों में बुद्धगुप्त के लेख का विशेष महत्त्व है, इसीलिए इसे हम यहां नमूने के लिए दे रहे हैं। यह खण्डित लेख मलाया के वेल्लेस्ले प्रान्त से प्राप्त

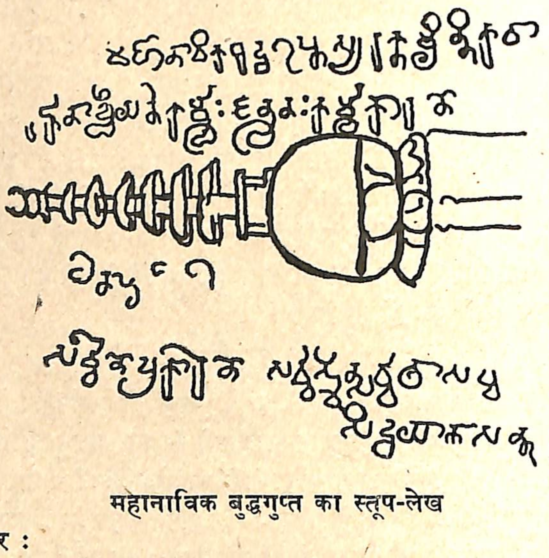

महानाविक बुद्धगुप्त का स्तूप-लेख

लिप्यंतर :

महानाविकबुद्धगुप्तस्य रक्तमृत्तिक वास्(तव्यस्य ?)
(अ)ज्ञानाच्चीयते कर्म्मः जन्मनः कर्म्म कारण(म्)
ज्ञानान्न चीयते(क्रियते) [कर्म्म कर्म्माभावान्न जायते]
सर्व्वेण प्रकारेण सर्व्वस्मिन् सर्व्वथा स(र्)व्व....
सिद्धयात्राः सन्तु

हुआ था और अब कलकत्ता के संग्रहालय में सुरक्षित है। यह लेख एक स्तूप-प्रस्तर पर खुदा हुआ है। इस पर स्तूप भी उत्कीर्ण है। लेख का कुछ अंश गायब है, पर इसी प्रकार के लेख अन्यत्र भी प्राप्त हुए हैं (देखिए, बोर्नियो से प्राप्त लेख), इसलिए इसे पूरा किया जा सकता है। इस लेख के 'सिद्धयात्रा' 'महानाविक' और 'रक्तमृत्तिका' शब्द विशेष महत्व के हैं। इस लेख की लिपि पश्चिमी जावा के पूर्णवर्मा के लेखों की लिपि से मिलती-जुलती है, इसलिए बुद्धगुप्त के इस लेख का काल ईसा की पांचवीं शताब्दी माना जा सकता है।

सुमात्रा (सुवर्णद्वीप)

सुमात्रा का प्राचीन राज्य 'श्रीविजय' के नाम से प्रसिद्ध था। यह श्रीविजय आजकल का कंपर नदी के तट पर बसा हुआ पलेम्बङ नगर माना जाता है। श्रीविजय राज्य (चीनियों का "सान्-फोत्-सी") की स्थापना चौथी शताब्दी में हो चुकी थी। सातवीं शताब्दी में इस श्रीविजय राज्य ने मलाया के कुछ प्रदेश पर भी अधिकार कर लिया था। ६८४ ई० में श्रीविजय राज्य का बौद्ध राजा श्रीजयनाग था। चीनी यात्री ई-चिङ, जो कि यहां सात साल (६८८–९५ ई०) रहा था, लिखता है कि, चीन से भारत जानेवाले भिक्षु श्रीविजय में ठहरकर संस्कृत पढ़ा करते थे। इसके बाद आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से शैलेन्द्रवंश के शासनारम्भ से श्रीविजय का वैभवशाली युग आरम्भ होता है। शैलेन्द्रों के काल में श्रीविजय राज्य के अन्तर्गत मलय, जावा, आसपास के कुछ द्वीप और कम्बुज का भी समावेश था। इस समय श्रीविजय अपनी चरमोन्नति पर था। श्रीविजय महायान बौद्धधर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था। इसके कुछ विहार बंगाल और दक्षिण भारत में भी थे।

सुमात्रा से बहुत अधिक अभिलेख नहीं मिले हैं। शैलेन्द्रों के कुछ अभिलेख मध्य-जावा से मिले हैं, जिनकी चर्चा वहां की जा चुकी है।

बोर्नियो

बोर्नियो दक्षिण-पूर्व एशिया का सबसे बड़ा और संसार का चौथा बड़ा द्वीप है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार, प्राचीन संस्कृत साहित्य में बोर्नियो के लिए 'वारुणद्वीप' नाम मिलता है।

पूर्वी बोर्नियो में सबसे प्राचीन अभिलेख महकम नदी के किनारे कोतेई (कूती) जिले के मउराकामङ स्थान से १८७९ में मिले थे। यहां से सोने की एक छोटी विष्णु मूर्ति भी मिली है। लेकिन सबसे प्रसिद्ध हैं, यहां से मिले हुए कुछ यूप (यज्ञस्तम्भ) लेख। इनमें से चार लेखों को फोगेल ने संपादित किया है। इन यूप-लेखों में राजा मूलवर्म्मा के नाम का उल्लेख मिलता है। जैसे :

१. राजा मूलवर्म्मा ने पशु, भूमि और वृक्ष आदि के दान (कल्पवृक्ष भूमिदान सहस्रिका) जैसे बहुत से पुण्यकार्य किये, इसलिए ब्राह्मणों ने इस यूप को स्थापित किया।

२. राजा कन्दुङ का पुत्र प्रख्यात अश्ववर्म्मा था, जो अंशुमान् की भांति वंशकर्ता था। अश्ववर्म्मा के तीन पुत्रों में मूलवर्म्मा जेष्ठ था, जो अपनी तपस्या के लिए प्रसिद्ध था। उसने एक बहुसुवर्णक यज्ञ किया। उसी यज्ञ के इस यूप को ब्राह्मणों ने खड़ा किया। प्रमुख राजा मूलवर्म्मा ने बप्रकेश्वर की पुण्यभूमि में ब्राह्मणों को बीस हजार गायें दीं। उसी पुण्यकार्य के लिए ब्राह्मणों ने यह यूप यहां स्थापित किया।

इस दूसरे यूप-लेख से ज्ञात होता है कि मूलवर्म्मा की तीन पीढ़ियां यहां राज्य कर चुकी थीं। इन यूप-लेखों में कोई संवत्सर दिया हुआ नहीं है। परन्तु इन लेखों की लिपि-शैली का अध्ययन करने पर पुरालिपिविद इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि, ये लेख पांचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के होने चाहिए। इन यूप-लेखों की लिपि पल्लव लेखों जैसी ही हैं। जावा से प्राप्त पूर्णवर्म्मा के शिलालेखों की लिपि में और इन यूप-लेखों की लिपि में काफी समानता है।

पश्चिमी बोर्नियो में कयुअस नदी के किनारे भी भारतीय उपनिवेशों के बारे में कुछ पुरानी सामग्री मिली है। इनमें कुछ अभिलेख भी हैं। यहां सुगुङ इतेकारेक के पास

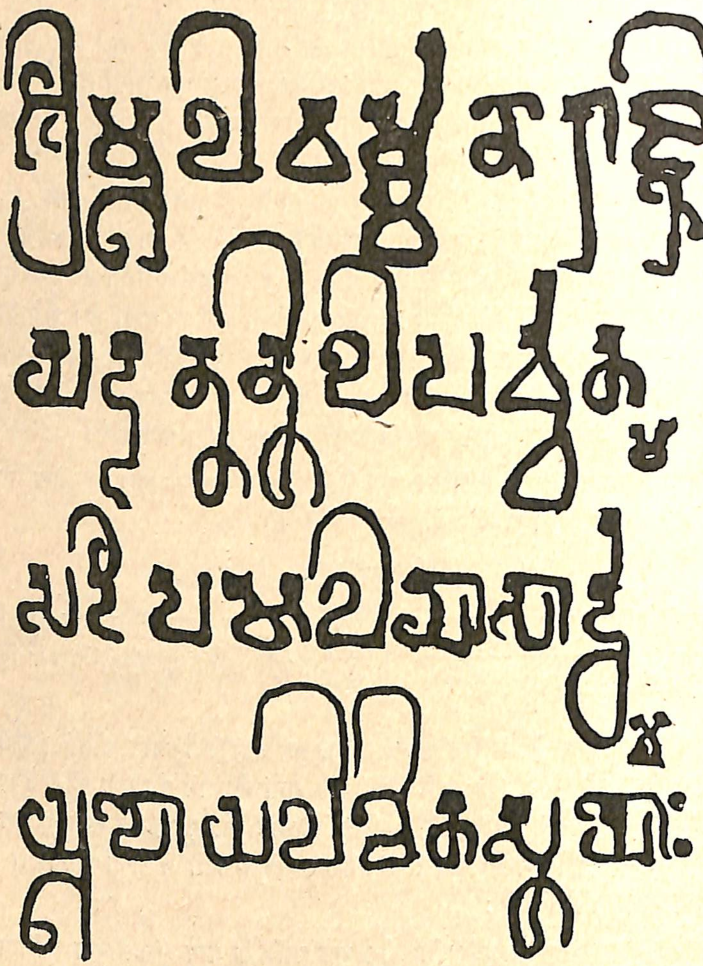

राजा मूलवर्मन् का कोतेई (पूर्वी बोर्नियो) यूप-लेख (लग० ४०० ई०)

लिप्यंतर :

श्री-मूलवर्म्मणा राज्ञा
यद्दत्तन्तिलपर्व्वतम्
सदीपमालया सार्द्धम्
यूपोयलिखितस्तयोः

के चश्मों के समीप एक चट्टान पर उत्कीर्ण मूर्तियों के साथ सात अभिलेख मिले हैं। इन अभिलेखों में से चार में ये पंक्तियां हैं :

अज्ञानाच्चीयते कर्म जन्मनः कर्मकारणम्
ज्ञानान्न क्रियते कर्म कर्माभावान्न जायते।

शेष तीन लेखों में लिखा है :

ये धर्माहेतुप्रभवा हेतु तेषां तथागतोऽह्यवदत्
तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः।

पूर्वी बोर्नियो के कोतेई स्थान से राजा मूलवर्मन् के अब तक सात यूप-लेख मिले हैं। यज्ञों के अवसर पर इन यूप-स्तम्भों की स्थापना की जाती थी। भारत में भी इस प्रकार के कई यूप-लेख मिले हैं। इनमें सबसे प्राचीन (१०२ ई०) है ईसापुर (मथुरा) से प्राप्त यूप-लेख। इस प्रकार के अधिकांश यूप-लेख राजस्थान से प्राप्त हुए हैं। पूर्वी बोर्नियो में इस प्रकार के यूप-लेख प्राप्त होना यही व्यक्त करता है कि वहां वैदिक धर्म को पुनः जीवित करने की कोशिश की जा रही थी।

हिन्द-चीन

चम्पा :

हिन्द-चीन में भारत का सबसे प्राचीन उपनिवेश शायद चम्पा ही था। यह उपनिवेश आधुनिक अनाम के दक्षिण में दक्षिण-विएतनाम के पूर्वी किनारे पर न्हामे नगर के आसपास था। चीनी इतिहासकारों के उल्लेखों के अनुसार चम्पा राज्य की स्थापना भारतीय राजकुमारों ने १९२ ई० में की थी। यहां से प्राप्त शिलालेखों से इस बात की पुष्टि होती है कि, ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में चम्पा में भारतीयों का राज्य था।

चम्पा से सबसे प्राचीन शिलालेख मिला है वो-कान्ह स्थान से। यह न केवल चम्पा का, बल्कि सम्भवतः सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया से प्राप्त लेखों में प्राचीनतम है। यह लेख संस्कृत भाषा में है और इसमें किसी श्री मार राजा का उल्लेख है। इस शिलालेख के काल के बारे में पुरालिपिविदों में काफी मतभेद है। कुछ पुराविद इसे दूसरी-तीसरी शताब्दी का मानते हैं। दिनेशचन्द्र सरकार इसे कुछ कालान्तर का इसलिए मानते हैं कि इसमें संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ है। परन्तु सरकार महाशय का यह मत उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि १५० ई० के रुद्रदामन के जूनागढ़ के लेख में संस्कृत भाषा का हम प्रयोग देखते हैं। इस वो-कान्ह लेख की लिपि का यदि परीक्षण किया जाय तो यह चौथी शताब्दी के भारतीय लेखों से मिलती हुई जान पड़ती है। यह शिलालेख खण्डित अवस्था में है। दानी द्वारा दिये गये इस लेख के अक्षरों को नीचे दिया जाता है।

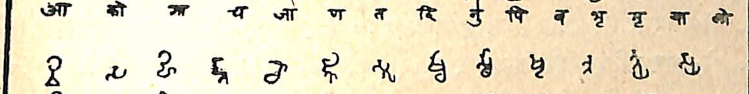

चम्पा के राजा श्रीमार के (वो-कान्ह) शिलालेख (चौथी शताब्दी ई०) के अक्षर

क्योंकि यह सुदूर दक्षिण-पूर्व एशिया से प्राप्त भारतीय लिपि का सबसे प्राचीन लेख है, इसलिए कुछ अस्पष्ट इस संस्कृत लेख को यहां देना उचित जान पड़ता है :

......प्रजानां करुण...प्रथमविजय......
णर्णमस्याम् ।
आज्ञापितं सदसि राजवरेण......
............राजगण-बागमृतं पिवन्तु ॥
श्री-मार-राजकुल-व......... न्
श्री मार लो न्.........कुलनन्दनेन ।
आज्ञापितं स्वजन स......मध्ये
वाक्यं प्रजाहितकरं करिणोर्व्वरेण ॥

लोकस्यास्य गतागति पि...न सिंहासनाध्यासीनेन पुत्रे भ्रातरि नान्त्यके स्वसमीकरणछन्देन(तृ)प्तेषु यत्किञ्चिद् रजतं सुवर्ण्णमपि वा सस्थावर-जङ्गमं कोष्ठागारक...नं प्रियहिते सर्व्वं विसृष्टं मया तदेवं मयानुज्ञातं भविष्यैरपि राजभिरनुमन्तव्यं विदितमस्तु च मे भृत्यस्य वीरस्य...

चम्पा से और भी बहुत-से अभिलेख मिले हैं। इनमें से कुछ में शकाब्द भी दिया हुआ है। इनमें से कुछ प्रमुख अभिलेख हैं :

१. चो-दिन्ह शिलालेख, 'धर्ममहाराज' भद्रवर्म्मन का। इसमें संवत्सर नहीं है। पर इसकी लिपि के आधार पर इसे ४०० ई० के आसपास का माना जा सकता है।

२. होन्-चुक् शिलालेख, 'धर्ममहाराज' भद्रवर्मन का। इसमें संवत् का उल्लेख नहीं है।

३. मय-सोन् शिलालेख, भद्रवर्म्मन का ही। इसमें भी संवत् नहीं है।

उपर्युक्त तीनों शिलालेख एक ही राजा के हैं। हम जानते हैं कि पल्लव राजा 'धर्ममहाराज' उपाधि का प्रयोग करते थे। इन तीनों शिलालेखों के अक्षरों के सिरे ठोस त्रिकोण या वर्ग के हैं। इन लेखों के कुछ अक्षर भी पल्लवों और वाकाटकों के लेखों से मिलते-जुलते हैं। इसलिए इन शिलालेखों का काल पांचवीं शताब्दी का पूर्वार्ध हो सकता है।

४. मय-सोन् शिलाफलक-लेख, राजा प्रकाशधर्म का। यह लेख भी, ऊपर के लेखों की तरह, संस्कृत में है। यह शकाब्द ५७९ (६५७ ई०) का है। इस लेख में राजा की विस्तृत वंशावली दी गयी है।

५. याङ-तिकुल् शिलाफलक-लेख, शकाब्द ७२१ (७९९ ई०), राजा इन्द्रवर्मा प्रथम का।

६. ग्लाइ-लमो शिलाफलक-लेख, शकाब्द ७२३ (८०१ ई०) राजा इन्द्रवर्मा का।

७. बो-नाङ शिलाफलक-लेख, शकाब्द ८११ (८८९ ई०) इन्द्रवर्मा द्वितीय का।

८. पो-नगर शिलाफलक-लेख, शकाब्द ८४० (९१८ ई०) इन्द्रवर्मा तृतीय का।

९. पो-नगर मन्दिर-लेख, शकाब्द ९७२ (१०५० ई०) परमेश्वरवर्मा द्वितीय का।

१०. मय-सोन् मन्दिर-लेख, शकाब्द १०८५ (११६३ ई०) जय इन्द्रवर्मा चतुर्थ का।

उपर्युक्त सभी लेख संस्कृत भाषा में हैं। इनके अलावा चम्पा की अपनी स्थानीय भाषा (चाम) में भी एक प्राचीन अभिलेख मिला है। यह अनाम के कुआङ-नाम प्रान्त के दौङ-येन-चाउ स्थान से मिला है। प्रो० कोएदेस् के अनुसार यह लेख, न केवल चाम भाषा का, बल्कि सारी मलय-पोलिनेशी भाषाओं का प्राचीनतम उपलब्ध अभिलेख है। इसकी लिपि पांचवीं शताब्दी के मालव तथा गुजरात के शिलालेखों की लिपि से मिलती है। इस लेख के अक्षरों के सिरों पर ठोस चौखुटे हैं। इसलिए इसकी लिपि के आधार पर यह अभिलेख पांचवीं शताब्दी का माना जा सकता है।

फोनन् :

चम्पा के पश्चिम में जो प्रदेश था, उसे चीनी लोग फूनान कहते थे। पता चलता है कि यहां का राजवंश-संस्थापक कौण्डिन्य नामक व्यक्ति था। उसने यहां की रानी को हराकर, उससे विवाह करके, इस राज्य पर अधिकार कर लिया था। चीनी इतिहास से ही इस राज्य के आरम्भिक दिनों के बारे में अधिक जानकारी मिलती है। कौण्डिन्य के बाद तीसरी शताब्दी के पूर्वार्ध के फोन्-चे-मन् राजा ने इस राज्य का विस्तार किया और मलाया को भी जीता। ४३८ ई० में जयवर्मा-कौण्डिन्य फूनान में राज्य करता था। इस राजा ने अपने देश के कुछ व्यापारियों को वाणिज्य के लिए कंतान भी भेजा था।

छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में फूनान पर कम्बुज राज्य का अधिकार हो जाता है। इस प्रदेश (कंबोडिया) से प्राप्त अभिलेखों का वर्णन हम कम्बुज के अन्तर्गत ही करेंगे।

कम्बुज (ख्मेर) :

सम्भव है कि भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश के प्राचीन कम्बोज देश के नाम पर इस देश का यह नाम पड़ा हो। परन्तु यहां से प्राप्त शकाब्द ८६९ (९४७ ई०) के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि कंबु ऋषि और अप्सरा मेरा के संयोग से कुंबज-राजवंश का उदय हुआ था।

इस देश का तथा इसकी स्थानीय भाषा का नाम ख्मेर है। मोन् भाषाओं के साथ मिलकर यह मोन्-ख्मेर भाषा-उपवर्ग आग्नेय-एशियाई भाषा-परिवार का एक प्रमुख वर्ग है। किसी समय इस भाषा परिवार का क्षेत्र बहुत ही विशाल था। मलय और जावा की भाषाएं भी इसी परिवार से सम्बन्ध रखती हैं। इसी परिवार के अन्तर्गत छोटा नागपुर की मुंडा, असम की खासी, निकोबारी आदि भाषाओं का समावेश होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में कम्बुज के तटवर्ती प्रदेशों में भारतीयों की बहुत-सी बस्तियां थीं। आरम्भ में इन उपनिवेशिकों का प्रमुख व्यवसाय व्यापार ही रहा होगा। ये व्यापारी भारत के किस प्रदेश से आये, इसके बारे में हमें दक्षिण कम्बोडिया के ओक्-एओ स्थान से मिलीं कुछ प्रस्तर-मुद्राओं के अध्ययन से जानकारी मिलती है। इस प्रकार की एक प्रस्तर-मुद्रा मलाया से भी मिली है। मध्य-भारत से भी इस प्रकार की कुछ मुद्राएं मिली हैं, जिन्हें प्रो० मिराशी ने प्रकाशित किया है। मध्य-भारत से प्राप्त इन मुहरों पर 'अप्रमाद', 'जितं भगवता' जैसे शब्द अंकित हैं, और इनके अक्षरों के अध्ययन के आधार पर मिराशी इन्हें चौथी शताब्दी ई० की मानते हैं।

दक्षिण कम्बोडिया के ओक्-एओ स्थान से जो मुद्राएं मिली हैं, उनमें से कुछ को हम यहां दे रहे हैं :

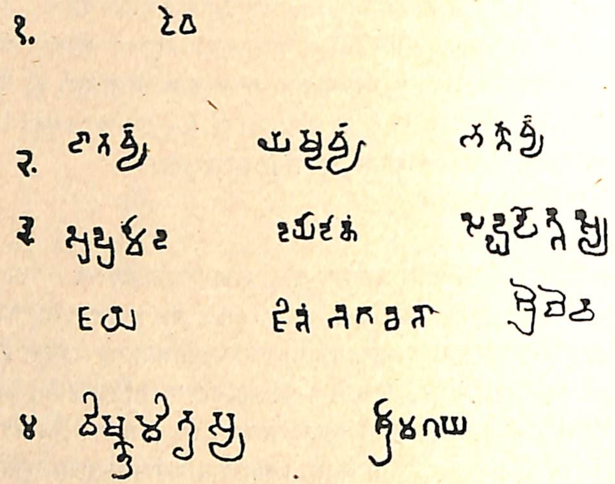

दक्षिण कंबोडिया के ओक्-एओ स्थान से प्राप्त कुछ मुद्राएं (दानी के आधार पर)

(१)	देव		
(२)	दातव्यं	यष्टव्यं	भक्तव्यं
(३)	अप्रमाद	दयादानं	सङ्घपोत्तस्य
	जय	जितं भगवता	श्रीबिच
(४)	विष्णुमित्रस्य		श्रीमगय

चूंकि भारत में भी इस प्रकार की मुद्राएं मिली हैं, इसलिए माना जा सकता है कि ये कम्बोडिया में नहीं, बल्कि भारत में ही बनायी गयी होंगी। इन पर अंकित अक्षरों की शैलियों का अध्ययन करके यह भी पता लगाया जा सकता है कि भारत के किस भाग से ये मुद्राएं गयी हैं। और, इस बात का भी अन्दाजा लगाया जा सकता है कि ये किस काल में बनायी गयी हैं।

वर्ग (१) के अन्तर्गत इस प्रकार के अक्षरों की यह एक ही मुद्रा मिली है। इन दो अक्षरों--'देव'--को देखने से पता चलता है कि यह मुद्रा उत्तर भारत से गयी है, और यह सम्भवतः तीसरी शताब्दी ई० की है। इन दोनों अक्षरों के सिरों पर शिरो-रेखाएं हैं, 'ए' की मात्रा बायीं ओर टेढ़ी है। इस प्रकार के अक्षर क्षत्रपों के लेखों में मिलते हैं।

वर्ग (२) के अक्षरों पर भी शिरोचिह्न हैं। 'आ' की मात्रा नीचे मुड गयी है और अनुस्वार का चिह्न, केवल एक बिन्दु न होकर, छोटी आड़ी लकीर है। इस प्रकार की विशेषताएं हमें पांचवीं शताब्दी के गुजरात के लेखों में देखने को मिलती हैं।

वर्ग (३) के अन्तर्गत यहां ६ मुद्राएं दी गयीं हैं। इन सभी मुद्राओं के अक्षरों के सिरों पर ठोस चौकोण हैं। प्रो० मिराशी ने मध्य-भारत से प्राप्त जिन मुहरों को प्रकाशित किया है, वे भी इसी प्रकार की हैं। इस प्रकार के सिरों वाले अक्षर वाकाटकों के लेखों में देखने को मिलते हैं। इसलिए इन्हें चौथी-पांचवी शताब्दी का माना जा सकता है।

वर्ग (४) के अन्तर्गत यहां दो मुद्राएं दी गयी हैं। 'विष्णुमित्रस्य' मुद्रा के अक्षरों के सिरे ठोस त्रिकोण के हैं। ठोस त्रिकोणवाले सिरों के अक्षर हमें उत्तर भारत के लेखों में चौथी शताब्दी से मिलने लग जाते हैं।

उपर्युक्त सभी मुद्राओं की अक्षर-शैलियों पर विचार करने पर यही परिणाम निकलता है कि, इन मुद्राओं का निर्माण उत्तर भारत में, विशेषतः गुजरात और मालव प्रदेश में हुआ था। वस्तुतः सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया के आरम्भिक अभिलेखों में हम पश्चिम भारत की लिपि-शैली का ही अधिक प्रभाव देखते हैं।

जयवर्मा (मृत्यु ५१४ ई०) का पुत्र रुद्रवर्मा फूनान का अन्तिम राजा था। इसी रुद्रवर्मा को भववर्मा तथा उसके अनुज चित्रसेन (महेन्द्रवर्मा) ने पराजित करके कम्बोज राज्य की स्थापना की थी। भववर्मा के दो लेख मिले हैं। इनमें से हान्-चे वाले शिलालेख में भववर्मा के सामन्त उग्रपुर के अधिपति ने अपने स्वामी की प्रशंसा की है। भववर्मा का दूसरा शिलालेख फ्नोम्-प्राह् (विहार) से मिला है। इन दोनों लेखों में संवत्सर नहीं है। किन्तु इनकी लिपि के आधार पर इन्हें छठी शताब्दी के उत्तरार्ध का माना जा सकता है। भववर्मा का फ्रोम बनतेग्रई-नेग्राङ (स्यामी सीमा पर स्थित बतेबंग प्रान्त में) से शिवलिङ्ग की पीठिका पर उत्कीर्ण एक लेख मिला है, जिसमें लिखा है: (संस्कृत में)

"धनुष्य के पराक्रम से जीती निधियों को प्रदान कर उभयलोक-करधारी राजा श्री भववर्मा ने इस लिङ्ग की प्रतिष्ठा की।"

इसी प्रकार, भिग्रल्कन्तेल से भी उसका एक लेख मिला है, जिसकी केवल तीन पंक्तियां ही पढ़ी जा सकी हैं। ये सभी लेख छठी शताब्दी के उत्तरार्ध के हैं।

भववर्मा के बाद उसका अनुज चित्रसेन, महेन्द्रवर्मा के नाम से, कम्बोज की गद्दी पर बैठा। बयाङ या ब्याङ स्थान से महेन्द्रवर्मा का एक शिलालेख मिला है। इसमें संवत् दिया हुआ है। इस शिलालेख से पता चलता है कि महेन्द्रवर्मा का शासन शकाब्द ५२६–४६ (६०४–२४ ई०) में रहा है। संस्कृत भाषा में लिखे गये इस शिलालेख में शिवपद के दान का वर्णन है। इस लेख की और एक विशेषता यह है कि इसमें शकाब्द ५४६ को शब्दांक "ऋतु अब्धि इन्द्रिय" से व्यक्त किया गया है। शिलालेखों में यहां पहली बार हमें शब्दांकों का व्यवहार देखने को मिलता है। (शब्दांकों की विस्तृत जानकारी के लिए देखिए इसी लेखक की **अंक-कथा** पुस्तक)।

महेन्द्रवर्मा के बाद उसका पुत्र ईशानवर्मा कम्बोज की गद्दी पर बैठा। ईशानवर्मा के वत्-चक्रेत और आङ-पौ स्थानों से शिलालेख मिले हैं। ईशान के बाद ६४७ ई० में भववर्मा द्वितीय का शासन था। सम्भवतः यह शासक विशेष प्रसिद्ध नहीं था। उसके बाद ६६५ ई० में जयवर्मा-प्रथम गद्दी पर बैठा। जयवर्मा के दो अभिलेखों की जानकारी मिलती है। उसके वत्-प्रे-वियर स्थान से मिले हुए अभिलेख में शब्दांकों में शकाब्द ५८६ (६६४ ई०) दिया हुआ है। दूसरा लेख जयवर्मा के राजवैद्य तथा आढ्यपुर (आङ-चुम्निक) के अधिपति हिंसदत्त का है। इस आङ-चुम्निक अभिलेख में शकाब्द ५८९ (६६७ ई०) दिया हुआ है। यह लेख सुन्दर संस्कृत में लिखा हुआ है।

जयवर्मा प्रथम के बाद लगभग सौ वर्षों तक कम्बोज पर शैलेन्द्र-वंश का शासन रहा। इसके बाद कम्बोज के प्रसिद्ध राजा जयवर्मा-द्वितीय (८०२–६९ ई०) का शासन-काल कम्बोज के इतिहास का वैभवशाली युग माना जाता है। मरने के बाद इस राजा को "परमेश्वर" नाम दिया गया था। इसी राजा के काल में बायोन् के विशाल मन्दिर

तथा अङ्कोरथोम् जैसे सुन्दर नगर का निर्माण हुआ था। जयवर्मा द्वितीय की प्रशंसा में कुछ शिलालेख मिलते हैं, जिनमें स्दोक्-काक्-थोम् का शिलालेख और शकाब्द ८१७ (९०५ ई०) का सोमशिव मुनि के एक शिष्य का लेख प्रसिद्ध है।

इसके बाद जयवर्मा-तृतीय (८६९-७७ ई०) ने कम्बोज पर शासन किया। तदनन्तर इन्द्रवर्मा प्रथम का ८७७ ई० से शासन आरम्भ होता है। इन्द्रवर्मा के कुछ राजकीय लेख मिलते हैं।

इन्द्रवर्मा का पुत्र यशोवर्धन, यशोवर्मा के नाम से, ८८९ ई० में गद्दी पर बैठा। उसके बहुत-से अभिलेख मिलते हैं। उसके शकाब्द ८११ के लेख में अंकों को "चन्द्र-चन्द्र-अष्ट" से व्यक्त किया गया है। उसका बन्तेइछमार-लेख ८९३ ई० का है और ख्मेर भाषा में लिखा गया है। यशोवर्मा के शिलालेखों की लिपि उत्तर भारत की शैली की है।

इसके बाद कम्बोज पर और भी बहुत-से भारतीय राजाओं ने शासन किया। बहुत-से शिलालेख मिलते हैं, जिन सबका विवरण यहां देना सम्भव नहीं है। ख्मेर भाषा का भी शिलालेखों में उपयोग देखने को मिलता है। लेकिन संस्कृत का भी साथ-साथ प्रयोग देखने को मिलता है। कम्बोज से संस्कृत का जो अन्तिम शिलालेख मिलता है, वह १४वीं शताब्दी का है। आज यद्यपि कम्बोज में संस्कृत का प्रचार नहीं है, किन्तु वहां के बौद्ध आज भी पालि भाषा का अध्ययन-अध्यापन करते हैं। वर्तमान ख्मेर वर्णमाला भी भारतीय लिपि से ही निकली है। कम्बोज भाषा में बहुत-से संस्कृत शब्द भी मिलते हैं, जिन्हें वहां के निवासियों ने अपने उच्चारणों में ढाल लिया है। पहले हम बतला ही चुके हैं कि ख्मेर भाषा ऑस्ट्रिक-एशियाई भाषा परिवार के मोन्-ख्मेर उपवर्ग की है। ख्मेर भाषा का प्राचीनतम नमूना ६२९ ई० के एक शिलालेख में देखने को मिलता है।

३०

उपसंहार

इस ग्रन्थ में हमने अधिकतर पुरालिपियों की ही चर्चा की है; जीवित लिपियों का यत्र-तत्र ही थोड़ा-सा विवरण दिया है। संसार की पुरालिपियों में कुछ ऐसी हैं जिनका नाम-निशान अब केवल संग्रहालयों में ही देखने को मिल सकता है। कुछ पुरालिपियां ऐसी भी हैं जिन्होंने अपने विकास के अन्तर्गत बहुत-सी वर्तमान जीवित लिपियों को जन्म दिया है। जीवित लिपियों के उद्भव एवं विकास को लेकर पुराविदों में काफी खींचा-तानी होती रहती है। इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ में जिन पुरालिपियों का हमने विवरण दिया है, उनके आपसी सम्बन्धों पर पुनः एक बार दृष्टिपात कर लेना जरूरी है।

उपलब्ध पुरावशेषों के आधार पर सबसे प्राचीन लिपि है, सुमेरी लिपि। सुमेरी लिपि आरम्भ में चित्रलिपि थी। बाद में इसने भावचित्रात्मक लिपि का रूप धारण कर लिया था। सुमेरी काल में ही इसमें कुछ ध्वनि-संकेत अस्तित्व में आ गये थे। सेमेटिक भाषा-परिवार के अक्कदियों (बेबीलोनवासियों) ने इसके कीलाक्षर स्वरूप को अपनाकर इस लिपि को तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय लिपि की स्थिति पर पहुंचा दिया था। शनैः-शनैः इस लिपि में ध्वनि-संकेतों की संख्या बढ़ती गयी और इसके भाव-संकेतों की संख्या घटती गयी। अन्त में इसी लिपि के आधार पर एलामी लोगों ने एक अर्ध-अक्षरमाला और ईरान के हख़ामनी शासकों ने एक अर्ध-वर्णमाला को जन्म दिया था। दूसरी ओर, हित्ती लिपि तथा उगारिती लिपि को जन्म देने में इस लिपि का हाथ है। लेकिन ईसा के समय तक कीलाक्षर लिपि तथा उससे व्युत्पन्न सारी लिपियां प्रायः मिट चुकी थीं। पश्चिम एशिया के क्षेत्र में कीलाक्षर लिपि का स्थान लिया आरमेई लिपि ने। कीलाक्षर लिपि ने दूसरी लिपियों को तो प्रभावित किया है, किन्तु आज ऐसी किसी लिपि का अस्तित्व नहीं है, जिसे हम कीलाक्षर लिपि के साथ जोड़ सकें।

मिस्र की प्राचीन हाइरोग्लिफिक लिपि से ही इसके दो घसीटे लिपि-रूप, हिराटिक और देमोतिक, अस्तित्व में आये थे। इस लिपि की इन तीनों शैलियों का साथ-साथ अस्तित्व रहा है। मिस्र की इस प्राचीन लिपि का आरम्भ भी चित्रलिपि से ही हुआ था। विकास के क्रम से गुजरने पर इस लिपि में ध्वनि-संकेत—व्यंजन-संकेत—भी अस्तित्व में आ गये थे। मिस्र के पुरोहित-पण्डित चाहते तो एक वर्णमालात्मक लिपि बना सकते थे। वस्तुतः वे एक प्रकार की 'व्यंजनमाला' बना भी चुके थे, परन्तु पुरातन के मोह में पड़कर वे अधिकतर अपने भाव-संकेतों से ही चिपके रहे। मिस्रियों ने तो पुरातन

का मोह नहीं छोड़ा, किन्तु उनके पड़ोसी मेरोई राज्य ने आजादी के उत्साह में मिस्री लिपि के आधार पर एक वर्णमालात्मक लिपि--मेराइटिक लिपि--को जन्म दिया था। मिस्र पर टॉलमियों के शासनकाल में मिस्री लोग यूनानी वर्णमाला के सम्पर्क में आये, फिर भी उन्होंने पुरातन का मोह नहीं छोड़ा। परिणाम यह हुआ कि मिस्र की लिपियां मर गयीं।

चीनी लिपि का आरम्भ भी चित्रलिपि से हुआ था। किसी भी विकसित संस्कृति का काम बहुत दिनों तक चित्रलिपि से नहीं चल सकता; यह जल्दी ही भावचित्रात्मक रूप धारण कर लेती है। चीनी भावचित्र-लिपि पिछले लगभग तीन हजार वर्षों के दीर्घकाल में यथावत बनी हुई है। चीनी लिपि अब भी मूलतः भावचित्रात्मक है। कोरिया तथा जापान की लिपियों के संकेत चीनी संकेतों के आधार पर ही बने हैं। इन लिपियों में चीनी भावचित्रों का काफी संख्या में अस्तित्व है; किन्तु इन लिपियों की अक्षरमालाएं भारतीय लिपि के प्रभाव के अन्तर्गत अस्तित्व में आयी थीं। भारत की वर्णमालात्मक लिपि का ज्ञान होने पर ही जापान में काताकाना और हिराकाना अक्षरमालाएं अस्तित्व में आयी थीं। चीन का नया साम्यवादी शासन अब अपनी लिपि की कठिनाइयों को समझता है; इसलिए वहां अब एक वर्णमालात्मक लिपि को अपनाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। जापान और कोरिया वाले भी देर-सबेर एक वर्णमालातमक लिपि को अपनायेंगे ही।

ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी के उत्तरार्ध में पश्चिमी एशिया के समुद्र-तटवर्ती देशों में हम पहली बार वर्णमालात्मक लिपियों के प्रयोगों के दर्शन करते हैं। कनानी लिपियों की 'व्यंजनमालाओं' को वर्णमालाएं ही मानना चाहिए। सेमेटिक भाषा को केवल व्यंजन संकेतों से ही आसानी से व्यक्त किया जा सकता है, इसीलिए ये व्यंजनमालाएं अस्तित्व में आयी थीं। कनानी लिपियों के उद्भव के बारे में अभी हमारा ज्ञान काफी अधूरा है। कुछ पुराविद सिनाई लिपि को प्राचीनतम वर्णमाला मानते हैं, तो कुछ और पीछे जाकर इसके उद्भव को मिस्री लिपियों के ध्वनि-संकेतों में खोजते हैं। वस्तुतः पश्चिमी एशिया में वर्णमालात्मक लिपि का स्रोत अभी तक पूर्ण रूप से ज्ञात नहीं हो पाया है। अधिकांश पाश्चात्य पुराविदों की मान्यता है कि वर्णमालात्मक लिपि का आरम्भ एक स्थान पर एक ही समय में हुआ है।

कनानी या उत्तरी सेमेटिक लिपि का दो तरफ विकास हुआ है--एक तो पूर्व की ओर, दूसरा पश्चिम की ओर। पश्चिम की ओर--यूरोप में--इसने सर्वप्रथम यूनानी लिपि को जन्म दिया। एत्रुस्कन तथा लैटिन लिपियां यूनानी लिपि के आधार पर ही बनी थीं। संक्षेप में, यूरोप की सभी वर्तमान लिपियां यूनानी, एत्रुस्कन और लैटिन लिपियों से विकसित हुई हैं।

सेमेटिक लिपियों ने पूर्व की ओर--एशिया में--हिब्रू लिपि, आरमेई लिपि, अरबी लिपि आदि को जन्म दिया। मूलतः सेमेटिक भाषाओं के लिए निर्मित इन लिपियों के आधार पर बाद में अ-सेमेटिक भाषाओं के लिए भी लिपियां बनायी गयीं। पहलवी, अवेस्ता, सोग्दी, उइगुर, खरोष्ठी, मंगोल, मंचू आदि ऐसी ही लिपियां हैं। सेमेटिक लिपियों के विकास को आगे की तालिका से अधिक आसानी से समझा जा सकता है।

मिस्र की हाइरोग्लिफिक लिपि

(?)

सिनाई लिपि

प्राचीन सेमेटिक लिपि

- उत्तरी सेमेटिक
  - फिनीशियन
    - यूनानी लिपि
      - यूनानी लिपि से निर्मित कुछ वर्ण-मालाएं, गोथिक (वुल्फिला)
      - स्लाव लिपियां
        - ग्लगोलित्सा
        - किरिल्ली
        - रूसी वर्णमाला
      - एत्रुस्कन लिपि
        - रूनी लिपि
        - रोमन या लैटिन लिपि
  - आरमेई लिपि
    - सेमेटिक भाषा की लिपियां
      - हिब्रू लिपि
      - सीरियाई लिपियां : एस्ट्रांगला, नस्तोरी
      - अरबी लिपि : कुफी, नस्ख़ी
    - अ-सेमेटिक भाषाओं की लिपियां
      - ईरानी लिपियां : पहलवी, अवेस्ता
      - खरोष्ठी लिपि
      - मध्य-एशिया की लिपियां : सोग्दी, उइगुर, मंगोल, मंचू
- दक्षिणी सेमेटिक
  - १. साबी, हिम्यरिती, मीनी आदि प० एशिया की कुछ लिपियां
  - २. प्राचीन इथोपिई और अमहरी लिपियां

उत्तरी सेमेटिक लिपि के आधार पर यूनानियों ने १००० ई०पू० के आसपास एक स्वर-संकेत युक्त वर्णमाला को जन्म दिया था। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यूनानी वर्णमाला का निर्माण उत्तरी सेमेटिक व्यंजनमाला के आधार पर हुआ था। दूसरी ओर, तीसरी शताब्दी ई०पू० के अशोक के शिलालेखों में हम ब्राह्मी लिपि का अस्तित्व देखते हैं। साहित्यिक तथा अन्य प्रमाणों से यह सिद्ध किया जा सकता है कि ब्राह्मी लिपि की वर्णमाला ई०पू० आठवीं शताब्दी में अस्तित्व में आ चुकी थी। पाश्चात्य पुराविदों की यह मान्यता है कि वर्णमाला का जन्म एक ही स्थान तथा एक ही समय में हुआ है, इसलिए ब्राह्मी वर्णमाला का निर्माण, यूनानी वर्णमाला की तरह, उत्तरी सेमेटिक लिपि से हुआ होना चाहिए।

पहले तो इसी कल्पना के लिए कि, वर्णमाला का जन्म एक स्थान पर और एक ही समय में हुआ है, कोई ठोस प्रमाण नहीं दिया जा सकता। अनेक पाश्चात्य पुराविदों ने ब्राह्मी लिपि को उत्तरी सेमेटिक लिपि से जोड़ने का प्रयत्न किया है। जहां तक यूनानी लिपि की बात है, न केवल इसके संकेत उत्तरी सेमेटिक लिपि से लिये गये हैं, बल्कि अक्षर-नाम भी (अलफा, बीटा, गामा, इत्यादि) सेमेटिक भाषा के शब्द हैं। विपरीत, भारतीय लिपि के अक्षर-नाम इनके उच्चारणों के निकट हैं। भारतीय लिपि के अक्षरों की ध्वनियां पूर्णतः भारोपीय भाषा-परिवार की ध्वनियां हैं। जिस प्रकार यूनानी लिपि के संकेत स्पष्ट रूप से उत्तरी सेमेटिक लिपि के संकेतों से साम्य रखते हैं, उस प्रकार का साम्य ब्राह्मी लिपि के संकेतों में नहीं खोजा जा सकता। इसलिए, जब तक ठोस प्रमाण प्राप्त नहीं होते, तब तक हम ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति किसी सेमेटिक लिपि से नहीं मान सकते।

तो ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति कैसे हुई? क्या हम यह नहीं मान सकते कि, जिस प्रकार पश्चिमी एशिया में वर्णमालात्मक लिपि के प्रयोग हुए थे, उसी प्रकार भारत में भी १००० ई०पू० के आसपास वर्णमालात्मक लिपि के प्रयोग हुए होंगे? इस परिकल्पना के समर्थन के लिए आज हमारे पास कोई पुरातात्विक प्रमाण नहीं हैं। हम यह भी मान सकते हैं कि सिंधु लिपि से ब्राह्मी लिपि का विकास हुआ है, किन्तु सिंधु लिपि का सही स्वरूप आज हमें ज्ञात नहीं है। इधर अधिकांश पुराविद मानने लग गये हैं कि ब्राह्मी लिपि का विकास सिंधु लिपि से हुआ है। सिंधु लिपि का पूर्ण रूप से उदघाटन होने पर ही ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति का प्रश्न सुलझ सकता है।

सेमेटिक लिपि की तरह ब्राह्मी लिपि ने भी देश तथा विदेशों में अनेक लिपियों को जन्म दिया है। कोरिया तथा जापान की अक्षरमालाओं ने ब्राह्मी लिपि के प्रभाव के अन्तर्गत ही जन्म लिया है। भारत की सभी वर्तमान लिपियां ब्राह्मी से व्युत्पन्न हैं। तिब्बत, श्रीलंका तथा दक्षिण-पूर्व एशिया की प्रायः सभी लिपियां ब्राह्मी से बनी हैं। ब्राह्मी लिपि से निर्मित लिपियों की स्पष्ट जानकारी आगे की तालिका से हो सकती है।

सिंधु लिपि

|

(?)

↓

अशोक की ब्राह्मी ←——ब्राह्मी लिपि——→ भट्टिप्रोलु की दक्षिणी शैली

↓

(स्वदेश में)	(विदेशों में)
	श्रीलंका
गुप्त लिपि, कुटिल लिपि }	———— मध्य-एशिया और तिब्बत
	बर्मा
नागरी लिपि, नंदिनागरी,	स्याम
शारदा, ग्रन्थ लिपि,	मलयद्वीप
बंगला, तमिल,	जावा
देवनागरी, तेलुगु-कन्नड,	सुमात्रा
(संक्षेप में, सभी भारतीय लिपियां)	बोर्नियो
	हिन्द-चीन

इस समय संसार में लगभग ४०० प्रमुख लिपियों का अस्तित्व है। हजारों भाषाओं और बोलियों के अस्तित्व की बात तो काफी हद तक समझ में भी आती है, लेकिन इस बीसवीं शताब्दी में भी हम इतनी सारी लिपियों का बोझ किसलिए ढो रहे हैं, समझ में नहीं आता। १५वीं शताब्दी के मध्यकाल में यूरोप में टाइपों से छपाई प्रारम्भ हो जाने से रोमन लिपि के अक्षरों में स्थिरता आ गयी थी। बाद में जहां-जहां भी मुद्रण का आरम्भ हुआ वहां लिपि का विकास रुक गया। मुद्रण का आविष्कार हो जाने पर संसार में किसी भी नयी लिपि को जन्म नहीं दिया गया। जो इक्के-दुक्के प्रयोग हुए हैं, वे सीमित रूप में ही हैं। जिन लोगों की भाषाओं या बोलियों के लिए अपनी कोई लिपि नहीं थी, उन्होंने अधिकतर रोमन लिपि को अपनाया है। जैसे, अफ्रीका की बहुत-सी बोलियों के लिए रोमन लिपि अपनाई गयी। हां, इन बोलियों के लिए रोमन लिपि को अपनाते समय इस लिपि में उन-उन बोलियों की कुछ विशिष्ट ध्वनियों के लिए भी कुछ नये संकेतों का समावेश कर लिया गया। कुछ देशों में रोमन लिपि को कानूनी तौर पर भी अपना लिया गया है। इस शताब्दी के प्रथम चरण में टर्की में कमाल अतातुर्क ने अरबी लिपि के स्थान पर रोमन लिपि की स्थापना करके कमाल के साहस का परिचय दिया था। चीन का साम्यवादी शासन भी अपनी चीनी लिपि के स्थान पर रोमन लिपि को अपनाने के प्रयोग कर रहा है।

पिछली शताब्दी से यूरोप के साम्राज्य-विस्तारवादी देशों के प्रयासों से एशिया के अनेक देशों में रोमन लिपि का प्रचार बढ़ा है। अमरीका-महाखण्ड और आस्ट्रेलिया में अब रोमन लिपि का ही साम्राज्य है। इस समय रोमन लिपि का व्यवहार करने वालों की संख्या संसार में सबसे अधिक है। इसका अर्थ यह नहीं है कि रोमन लिपि पूर्णतः वैज्ञानिक है। वस्तुतः रोमन लिपि में अनेक त्रुटियां हैं। यह लिपि ध्वन्यात्मक नहीं है। असल में, संसार की कोई भी लिपि पूर्णतः ध्वन्यात्मक नहीं है। किसी लिपि को हम तभी पूर्णतः वैज्ञानिक मान सकते हैं जब उसमें भाषा की सभी ध्वनियों का समावेश हो। इस दृष्टि से रोमन लिपि में अनेक न्यूनताएं हैं, यह तथ्य पाश्चात्य विद्वान भी स्वीकार करते हैं। रोमन लिपि का प्रयोग करने वाले स्वयं यह अनुभव करते हैं कि उनकी लिपि में सुधार आवश्यक है। रोमन लिपि की एक विशेषता यह है कि उसमें स्वरों के लिए स्वतन्त्र संकेत हैं। लेकिन ये स्वर-संकेत सभी स्वर-ध्वनियों को व्यक्त करने में समर्थ नहीं हैं।

भारत की वर्तमान सभी लिपियां (उर्दू भाषा के लिए प्रयुक्त अरबी-फारसी लिपि को छोड़कर) ब्राह्मी लिपि से ही निर्मित हैं। इतना ही नहीं, तिब्बती, सिंहली तथा दक्षिण-पूर्व एशिया की बहुत-सी लिपियां भी भारतीय लिपि से ही विकसित हुई हैं। आज इन लिपियों में इतना अधिक अन्तर पड़ गया है कि, इन सब लिपियों का मूल स्रोत एक ही है, इस बात पर एकाएक यकीन नहीं होता। उत्तर भारत की लिपियां, मुद्रण तथा कागज के प्रचार के पहले, अधिकतर भूर्जपत्र पर लिखी जाती थीं। भोजपत्र पर सीधी रेखाएं खींची जा सकती हैं, इसलिए उत्तर भारत की लिपियों में खड़ी या आड़ी लकीरें पायी जाती हैं। दक्षिण भारत में ताड़पत्र पर लोहे की नुकीली शलाका से लिखा जाता था। ताड़पत्र पर सीधी रेखाएं नहीं खींची जा सकतीं, क्योंकि यह फट जायेगा। इसीलिए दक्षिण भारत की लिपियों के अक्षर शनैः-शनैः गोलाकार बनते गये।

अब प्रश्न है: हम सारे भारत के लिए एक वैज्ञानिक लिपि का निर्माण क्यों नहीं करते ?

भारत की आर्य भाषा-परिवार की सभी भाषाओं के लिए एक लिपि बड़ी आसानी से बनायी जा सकती है। हिन्दी और मराठी भाषाओं की लिपि एक ही है। मराठी में केवल एक ही 'ळ' अक्षर अतिरिक्त है। गुजराती तथा बंगला लिपियां भी देवनागरी के लगभग समान हैं। उत्तर भारत की और सारी लिपियां देवनागरी के निकट हैं। दक्षिण भारत की द्रविड़ भाषा-परिवार की वर्तमान लिपियां भी ब्राह्मी से निकली हैं। फरक है तो केवल इतना ही कि इनमें अपनी-अपनी भाषाओं की कुछ विशिष्ट ध्वनियों के लिए कुछ अतिरिक्त अक्षर हैं।

बहुतों की राय है कि सारे भारत के लिए यदि कोई एक लिपि हो सकती है, तो वह है देवनागरी लिपि। केन्द्रीय सरकार की ओर से हिन्दी निदेशालय ने भारत की सभी भाषाओं के लिए अपनायी जा सकनेवाली देवनागरी लिपि का एक प्रारूप भी प्रस्तुत किया है। परन्तु, जैसी आज समारे देश की स्थिति है, कोई भी अहिन्दी (मराठी भाषाभाषी छोड़कर) भाषाभाषी अपनी भाषा के लिए देवनागरी लिपि को सहज स्वीकार नहीं करेगा। हिन्दीवालों की कुछ गलत नीतियों के कारण दक्षिण भारत के हमारे भाइयों को अब हिन्दी भाषा ही नहीं बल्कि देवनागरी लिपि को भी अपनाने में हिचकिचाहट होना स्वाभाविक है। मैं समझता हूं कि इसमें तथाकथित हिन्दीवालों का ही अधिक दोष है। हिन्दीवाले

सोचते हैं कि उनकी भाषा बोलने और समझनेवालों की संख्या देश में सबसे अधिक है, इसलिए इसे अहिन्दी भाषाभाषियों पर लादना कोई गुनाह नहीं है। हिन्दीवाले अहिन्दी भाषाभाषियों से तो यह आशा रखते हैं कि वे हिन्दी सीखें, किन्तु स्वयं हिन्दीवाले हिन्दी के अलावा दूसरी भारतीय भाषाएं सीखने से कतराते हैं। मुझे विश्वास है कि देवनागरी लिपि में स्वयं हिन्दीवाले यदि वैज्ञानिक तथा तकनीकी दृष्टियों से परिवर्तन करने के लिए तैयार हो जाते हैं, तो अहिन्दी भाषाभाषी भी देर-सबेर इस परिवर्धित देवनागरी को स्वीकार कर लेंगे। हिन्दी निदेशालय ने दक्षिण की ध्वनियों का समावेश करने के लिए देवनागरी अक्षरों में जो दो-चार अतिरिक्त चिह्न जोड़े हैं, उनसे किसी को भी सन्तोष नहीं हो सकता——दक्षिण भारत वालों को भी नहीं और नई वैज्ञानिक लिपि के समर्थकों को भी नहीं।

सारे भारत के लिए एक लिपि का प्रश्न, सारे भारत के लिए एक भाषा के प्रश्न से भी अधिक महत्व का है। सारे देश को एक सूत्र में बांधने के लिए एक लिपि का होना परमावश्यक है। सारे भारत के लिए एक राष्ट्रभाषा हिन्दी ही हो सकती है—यह बात सही है और एक दिन यही होगा भी। परन्तु देवनागरी लिपि में आमूल परिवर्तन किये बिना इसका राष्ट्रलिपि बनना सम्भव नहीं है, उचित भी नहीं है। देवनागरी लिपि ध्वनियों की दृष्टि से धनी है, रोमन लिपि से भी अधिक धनी है, यह सभी स्वीकार करते हैं। परन्तु यह लिपि भी पूर्णतः ध्वन्यात्मक नहीं है——इसमें भी हम जैसा बोलते हैं, ठीक वैसा ही हमेशा नहीं लिखा जा सकता। और फिर, इसमें मुद्रण की दिक्कतें तो बहुत ही हैं। देवनागरी की व्यंजन-ध्वनियों को स्वर-रहित बनाना और इसकी स्वर-ध्वनियों के लिए——मात्राओं के लिए भी——स्वतन्त्र संकेतों का निर्माण करना अत्यन्त जरूरी है। ऐसा करने से ही देवनागरी में आधी वैज्ञानिकता आ जायेगी और मुद्रण की कठिनाइयों में भी काफी कमी होगी। ध्वनिशास्त्र की दृष्टि से विचार करके देवनागरी लिपि के कुछ अक्षरों को नये मान दिये जायं और कुछ नये संकेतों का समावेश किया जाय तो यह लिपि और भी अधिक वैज्ञानिक बन सकती है। मुद्रण तथा लेखन की दृष्टि से अक्षरों को नये सरल एवं आकर्षक रूप दिये जायं, तो यह लिपि और भी अधिक पूर्ण बन सकती है। इस प्रकार, इस लिपि में पूर्ण संशोधन करके इसे एक नया नाम दिया जाय, तो मैं समझता हूं इसे हम अपने देश की राष्ट्रलिपि बना सकते हैं। हां, इसमें दक्षिण की भाषाओं की ध्वनियों का भी समावेश होना चाहिए। देवनागरी में सुधार करते समय हमें विदेशी भाषाओं की ध्वनियों पर भी विचार करना चाहिए। संसार की प्रमुख भाषाओं को व्यक्त करने का सामर्थ्य भी इसमें होना चाहिए।

यह काम कठिन जरूर है, लेकिन असम्भव नहीं है। संसार के लिए एक ही लिपि के निर्माण के पिछली शताब्दी से दर्जनों प्रयास हुए हैं। किन्तु किसी भी प्रयास को सफलता नहीं मिली है। केवल भाषाशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में ही अन्तर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि का प्रयोग देखने को मिलता है। लेकिन किसी जीवित लिपि को संसार की अन्तर्राष्ट्रीय लिपि बनाने में अब सफलता नहीं मिल सकती। सब मिलकर नये संकेतोंवाली एक वैज्ञानिक लिपि बनायें, तभी इसे अन्तर्राष्ट्रीय लिपि के रूप में स्वीकार करना सम्भव होगा।

परिशिष्ट - क

प्रमुख भाषा-परिवार

भाषाविदों ने संसार की भाषाओं को कुछ प्रमुख परिवारों तथा वर्गों में बांटा है। भाषा-परिवारों की संख्या के बारे में भाषाविद एकमत नहीं हैं। किसी ने संसार की सभी भाषाओं को १० परिवारों में बांटा है, तो किसी ने इनकी संख्या १०० तक पहुंचा दी है। इसके अलावा, कई ऐसी भाषाएं हैं जिनके परिवारों के बारे में काफी मतभेद हैं। कुछ ऐसी भी भाषाएं हैं, जिन्हें किसी भी परिवार में स्थान देना सम्भव नहीं हो पाया है। इन मतभेदों का प्रमुख कारण यह है कि, अभी संसार की सभी भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन काफी अधूरा है।

भाषा के बिना लिपि का कोई अस्तित्व नहीं। लिपि के विवरण के साथ-साथ मैंने भाषा का भी यथासम्भव थोड़ा-सा परिचय दे दिया है। यहां भाषा-परिवारों की तालिकाएं दी जा रही हैं। सभी भाषा-परिवारों की सभी भाषाओं की सूची देना तो सम्भव नहीं है, परन्तु यहां उन प्रमुख भाषा-परिवारों को दिया जा रहा है जिनके बारे में भाषाविद प्रायः एकमत हैं और जिनका प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय से सम्बन्ध है।

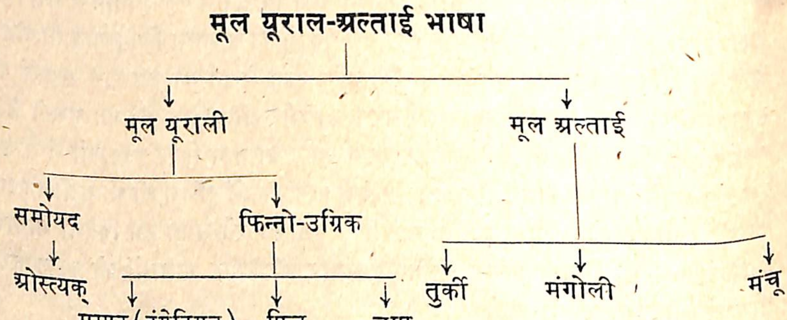

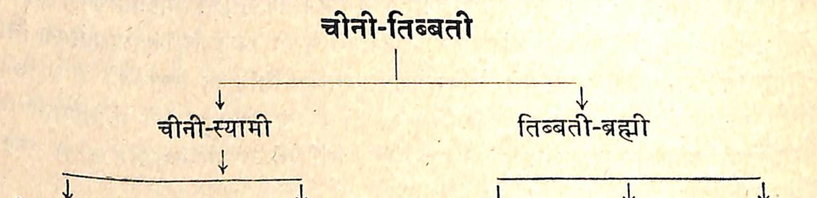

मूल हेमिटो-सेमिटिक भाषा

- मूल सेमिटिक भाषा
  - दक्षिणी सेमिटिक
    - अरबी
    - यूथोपिई
  - पश्चिमी सेमिटिक
    - आरमेई
      - पश्चिमी आरमेई
      - सीरियक
    - कनानी
      - मोआबी
      - फिनीशियन
      - हिब्रू
  - पूर्वी सेमिटिक (अक्कदी)
    - बेबीलोनी
    - असीरी
- मूल हेमिटिक भाषा
  - प्राचीन मिस्री
    - कॉप्टिक
  - पूर्वी हेमिटिक (कुशिती)
    - सोमाली, गल्ल, इत्यादि
  - उत्तरी हेमिटिक
    - बेर्बेर बोलियां

ऑस्ट्रिक या आग्नेय परिवार

- मलय-पोलीनेसी
  - इंदोनेसी: मलय, सुन्दानी, यवद्वीपी, बाली, इत्यादि
  - पोलीनेसी: सामाआई, ताहिती, माओरी, हवाईद्वीपी, इत्यादि
  - माइक्रोनेसी: कैरोलीन, गिलबर्ट, इत्यादि
  - पापुआ
- आस्ट्रो-एशियाई
  - मोन-ख्मेर: मोन, पलौंग, खासी, निकोबारी, इत्यादि
  - मुंडा: खेरबारी, कुर्कू, इत्यादि

द्रविड़ परिवार की भाषाएं

तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड, ब्राहुई, गोंडी, इत्यादि

प्राक् भारोपीय (विरोस्)

- पश्चिमी शाखा (केन्तुम)
  - पश्चिमी यूरोपी
    - केल्टिक-इटालिक
      - केल्टिक
      - इटालिक
        - पोतुगीज
        - स्पेनिश
        - इटालियन
        - फ्रेंच इत्यादि
    - जर्मनिक
      - पश्चिम जर्मनिक
        - जर्मन
        - डच
        - अंग्रेजी, इत्यादि
      - उत्तर जर्मनिक
        - स्कन्डेनेनियन भाषाएं
        - आइसलैंडिक
        - नार्वेजियन
        - डेनिश
        - स्वेडिश, इत्यादि
      - पूर्व जर्मनिक
        - बुर्गुन्डियन
        - वंडाल
        - गोथिक
  - तुखारी
  - हेलेनी या यूनानी
- हित्ती एत्रुस्कन
- पूर्वी शाखा (शतम्)
  - आर्मिनी
  - अल्बानी
  - बाल्टी
    - लिथुवानी
    - लेटिश
  - स्लाव
    - रूसी
    - पोलिश
    - चेक
    - बुलगारी
    - इत्यादि
  - आर्य

आर्य भाषाएं

- ईरानी
  - अवेस्ता
  - प्राचीन पारसी
  - फारसी
  - इत्यादि
- भारतीय
  - वैदिक संस्कृत
  - पालि, प्राकृत
  - अपभ्रंश, हिन्दी
  - मराठी, बंगला, गुजराती,
  - सिंहल, इत्यादि

परिशिष्ट - ख

सहायक ग्रंथ

हिन्दी :

अलतेकर, अनन्त सदाशिव	:	गुप्तकालीन मुद्राएं, पटना, १९५४
उपाध्याय, वासुदेव	:	भारतीय सिक्के, प्रयाग, १९४७
,, ,,	:	प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, दिल्ली, १९६१
ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द	:	भारतीय प्राचीन लिपिमाला (दूसरा संस्करण), अजमेर, १९१८
चाटुर्ज्या, सुनीतिकुमार	:	भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, दिल्ली, १९५४
जयचन्द्र विद्यालंकार	:	लघु इतिहास-प्रवेश, इलाहाबाद, १९५१
तिवारी, भोलानाथ	:	भाषा विज्ञान कोश, वाराणसी, १९५४
भट्ट, जनार्दन	:	अशोक के धर्मलेख, दिल्ली, १९५७
मुले, गुणाकर	:	अंक-कथा, (प्रेस में)
,, ,,	:	भारत : इतिहास और संस्कृति, नई दिल्ली, १९७२
,, ,,	:	अक्षरों की कहानी, नई दिल्ली, १९७२
,, ,,	:	अंकों की कहानी, नई दिल्ली, १९७२
,, ,,	:	भारतीय लिपियों की कहानी (प्रेस में), १९७२
लाहुली, के० अंगरूप	:	संभोट व्याकरण (द्वितीय संस्करण), लाहुल, १९६३
वर्मा, धीरेन्द्र	:	हिन्दी भाषा और लिपि, इलाहाबाद, १९६२
सांकृत्यायन, राहुल	:	मध्य-एशिया का इतिहास, दो खण्ड, पटना, १९५६–५७
,, ,,	:	बौद्ध संस्कृति, कलकत्ता, १९५२

संस्कृत :

——	:	ललित-विस्तर
पाणिनि	:	अष्टाध्यायी,
जयचन्द्र विद्यालंकार	:	उत्कीर्णलेखाञ्जलिः, बनारस, १९३६

बंगला :

बसु, चारुचन्द्र कर, ललितमोहन	}	अशोक अनुशासन, कलकत्ता, १९१५

मराठी :

केतकर, श्रीधर व्यंकटेश : महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश, पूणें १९२२

मिराशी, वासुदेव विष्णु : वाकाटक नृपति आणि त्यांचा काळ, नागपूर, १९५७

रूसी :

श्नित्सेर : इस्तोरिया पिसमेन, पितरबर्ग, १९०३

नेवारी :

हेमराज शाक्यवंश : नेपाल लिपि संग्रह, काठमाण्डौ, १९५३

सिंहल :

करुणारत्न डब्ल्यू. एस. : सिंहल शिलालेखन, कोलम्बु, १९५६

अंग्रेजी :

Agrawala, V.S. India As Known To Panini. Lucknow University, 1953

Albright, W.F. The Archaeology of Palestine. (Pelican Book), 1963.

Allen, A. The Story of Archaeology. London.

Allegro, J. The Dead Sea Scrolls. (Pelican Book), 1960.

Barua, B.M. Ashoka And His Inscriptions (3rd Ed.) Part I & II, Calcutta, 1969

Basham, A.L. The Wonder That Was India. Bombay, 1963.

Birch, S. Egyptian Hieroglyphs. London, 1857.

Bloomfield, L. Language. London, 1962.

Boas, F. & Others General Anthropology. New York, 1938.

Bodmer, F. The Loom of The Language. London, 1961.

Buhler, G. Indian Palaeography. Calcutta, 1962.

Carrington, R. A Million Years of Man. (Mentor Book), New York, 1963.

Cary, M. and Haarhoff Life And Thought In The Greek And Roman World. London, 1961.

Ceram, C.W. Gods, Graves and Scholars. (Translated from German by E.B. Garside) London, 1953.

Chadwick, J. The Decipherment of Linear-B. (Pelican Book), 1961.

Chhabra, B. Ch. Expansion of Indo-Aryan Culture. Delhi, 1965.

Chien Po-Stan, Shao Hsun & Hu Hua — Concise History of China. Peking, 1964.

Childe, V.G. — Progress And Archaeology. London, 1944.

" " — Man Makes Himself. London, 1956.

" " — What Happened in History. (Pelican Book), 1964.

" " — The Aryan. London, 1926.

" " — New Light on The Most Ancient East. London, 1954.

Cleator, P.E. — Lost Languages. (Mentor Book), New York, 1962.

Clodd, E. — The Story of The Alphabet. New York, 1938.

Cottrell, L. — Life Under The Pharaohs. (Pan Book), London, 1964.

Das Gupta, Charu Chandra — The Development of The Kharosthi Script, Calcutta, 1958.

Dawson, R. (Ed.) — The Legacy of China. Oxford, 1964.

Dani, A.H. — Indian Palaeography, Oxford, 1963.

Deuel, L. (Ed.) — The Treasure of Time. (Pan Book), London, 1964.

Diringer, D. — Writing. London, 1962.

" " — The Alphabet (A Key to the History of Mankind), London, 1953.

Doblhofer, E. — Voices In Stone. (Translated from German by M. Savill) London, 1961.

Driver, G.R. — Semitic Writing From Pictograph to Alphabet. London, 1954.

Emery, W.B. — Archaic Egypt. (Pelican Book), 1963.

Gallenkamp, C. — Maya. New York, 1962.

Gardiner, A. — Egyptian Grammar. Oxford, 1957.

Gelb, I.J. — A Study of Writing. London, 1962.

Ghirshman, R. — Iran. (Pelican Book), 1954.

Gilyarevsky, R.S. & Grivnin, V.S. — Language Identification Guide. Moscow, 1970.

Goad, H. — Language in History. (Pelican Book), 1958.

Gorgoniyev, Y.A. — The Khmer Language. Moscow, 1966.

Gurney, O.R. — The Hittites. (Pelican Book), 1962.

Hawkes, J. & Woolley, L. — Prehistory And The Beginnings of Civilization. (History of Mankind, Vol. I) London, 1963.

Herodotus. — The Histories. (Penguin Book, translated by A. de Selincourt).

Hiranand Sastri — The Ashokan Rock at Girnar. Baroda, 1936.

Hooke, S.H. Middle Eastern Mythology. (Pelican Book), 1963.

Iverren, E. The Myths of Egypt and its Hieroglyphs in European Tradition. Copenhagen, 1961.

Kanga, K.E. A Practical Grammar of. The Avesta Language. Bombay, 1891.

Kannaiyan, V. Scripts In and Around India. Madras, 1960.

Karambelkar, V.W. Select Sanskrit Inscriptions. Nagpur, 1959.

Kinns, Rev. S. Graven In The Rock. London, 1891.

Korovkin, F.P. Ancient History. Moscow, 1965.

Majumdar, R.C. (Ed.) The Vedic Age. London, 1952.

" " The Classical Age. Bombay, 1962.

" " Inscriptions of Kambuja. Calcutta, 1953

May, R. Le. The Culture of South East Asia. Delhi, 1962.

Murray, M.A. The Splendour That Was Egypt. London, 1954.

Piggott, S. Prehistoric India. (Pelican Book), 1961.

Pithawalla, M.B. Rock Records of Darious The Great. Poona, 1918.

Rapport & Wright (Ed.) Archaeology. New York, 1964.

Ray, S.K. Indus Script (Memorandum No. I). New Delhi, 1963.

Rowley, H.H. Bible Atlas. London, 1960.

Roy, S. The Story of Indian Archaeology (1784-1947). New Delhi, 1961.

Sarton, G. A History of Science. New York, 1964.

Segal, Y. & Ilyin, M. How Man Became A Giant. Moscow.

Sircar, D.C. Inscriptions of Asoka. Delhi, 1957.

Sivaramamurti, C. Indian Epigraphy and South Indian Scripts. Madras, 1966.

Taton, R. (Ed.) Ancient and Medieval Science. (Translated from French by A.J. Pomerans). London, 1963.

Taylor, E.B. Anthropology, Vol. I & II. London, 1946.

Vendryes, J. Language (A Linguistic Introduction to History). London, 1952.

von Hagen, V.W. The World of The Maya. (Mentor Book), New York, 1960.

Wheeler, M. The Indus Civilization (Supplementary Vol. of Cambridge History of India). Cambridge, 1953.

Wilkinson, J.G. — Egyptians in The Time of the Pharaohs. London, 1857.

—— The Cultural Heritage of India, Vol. III. (Sri Ramkrishna Centenary Memorial Publication). Calcutta.

—— Simple Chinese Conversation. Peking, 1958.

—— The Art of Writing (An Exhibition in Fifty Panels) UNESCO.

—— Indian Systems of Writing (A.I.R National Programme Talks). Delhi, 1966.

Articles from Encyclopaedia Britannica.
Journal of The Bihar and Orissa Research Society.
Volumes of Epigraphia Indica.

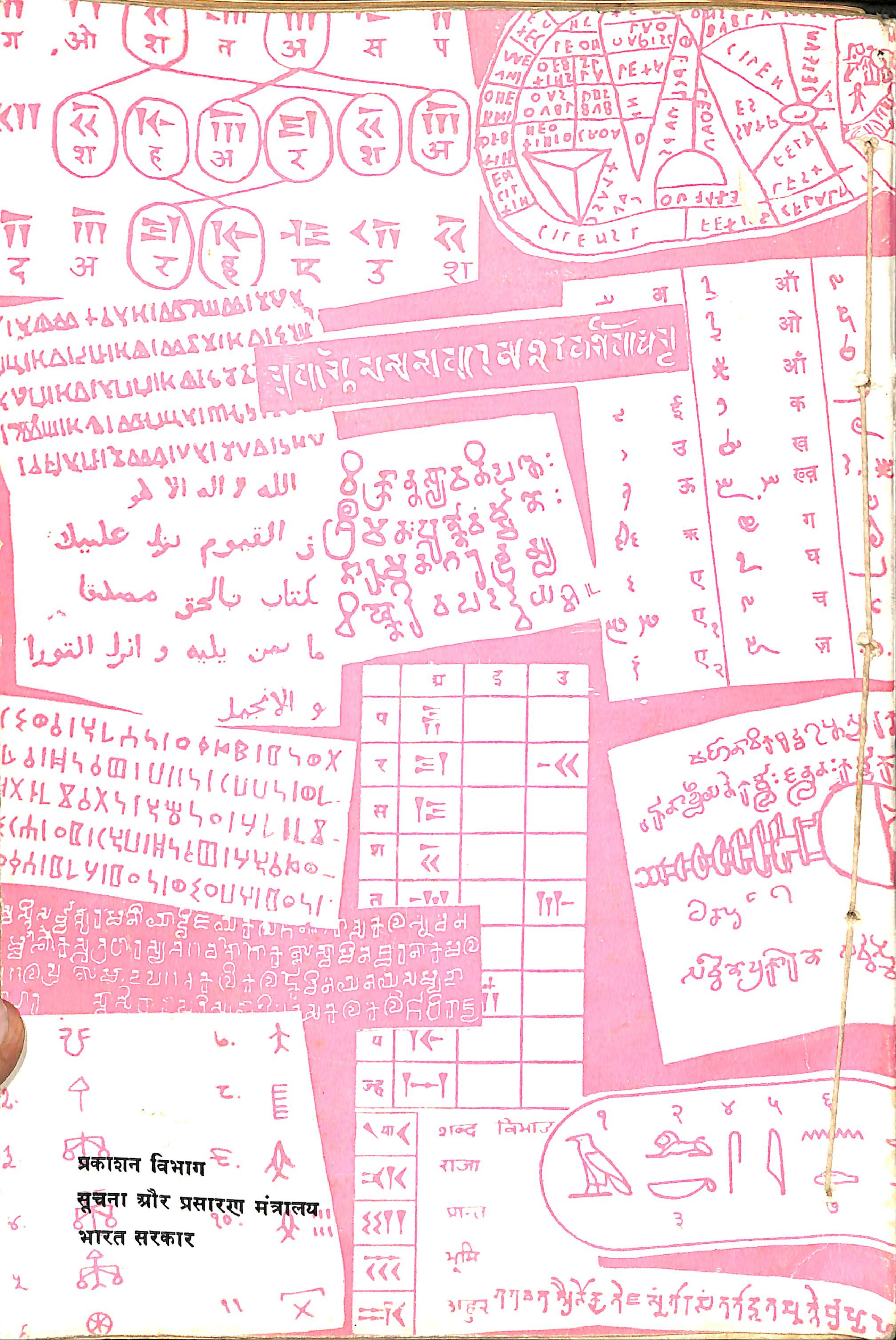

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार